ज्ञानमण्डल लिमिटेडका ९६वाँ ग्रन्थ

कुछ स्मृतियाँ
और
कुछ स्फुट विचार

सम्पूर्णानन्द

वाराणसी
ज्ञानमण्डल लिमिटेड

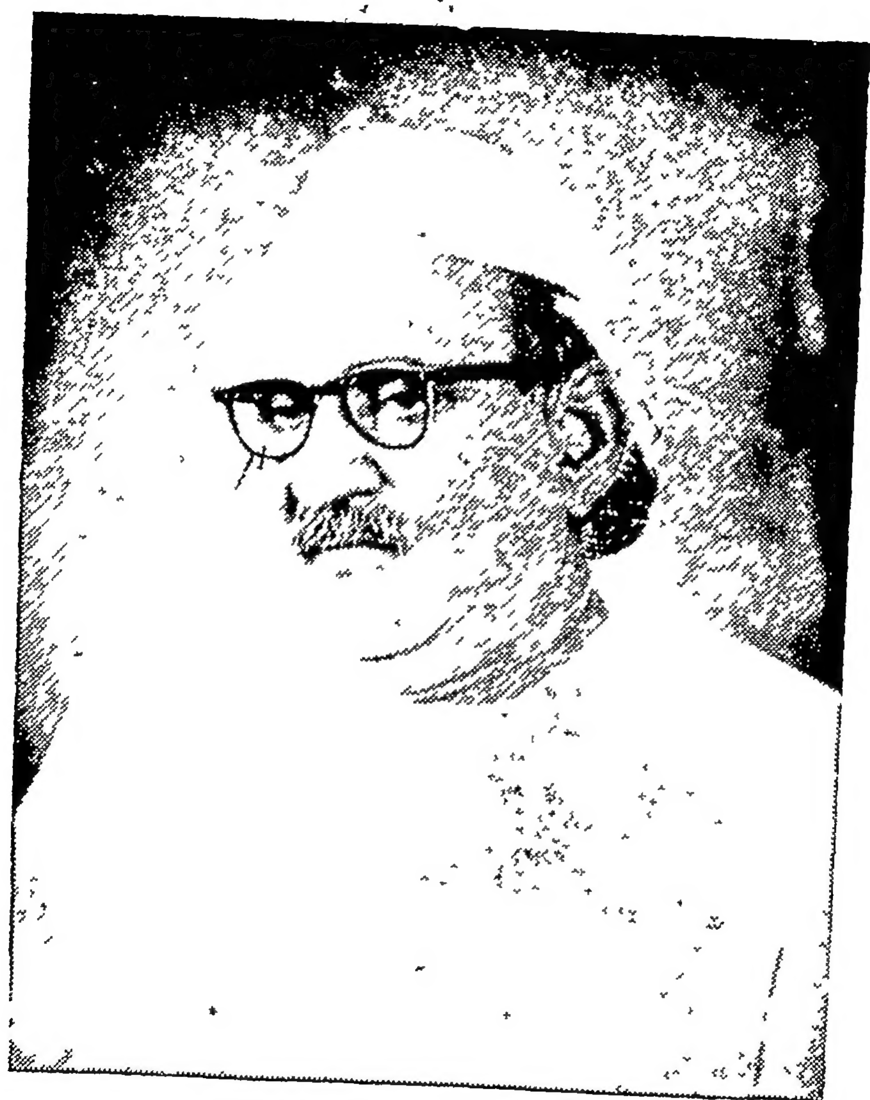
मूल्य : छः रुपये

प्रथम बार, माघ, सं० २०१९

नमण्डल लिमिटेड, कबीरचौरा, वाराणसी, १९६२

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस)–१

मुद्रक—ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ५८९७-१८



लेखक

भूमिका

यह पुस्तक मेरी आत्म-कथा नही है। मुझमे अपना या किसी दूसरे-का जीवन-चरित लिखनेकी योग्यता है, इसमे भी सन्देह है। फिर, मैने अपने और अपने परिवारके सम्बन्धमे यथाशक्य कम चर्चा करनेका प्रयास किया है। कुछ न लिखना सम्भव नही था। एक तो कौटुम्बिक परिस्थितियोका समस्त जीवनपर प्रभाव पडता है और उनका थोडा-सा जिक्र कर देनेसे बहुत-सी घटनाओपर प्रकाश पड जाता है। जिस मनुष्य-का जीवन सार्वजनिक क्षेत्रमे बीता है उसके सम्बन्धमे कुछ बाते यों ही फैल जाती हैं। अतः आत्मचरित न होते हुए भी, कुछ-न-कुछ अपने सम्बन्धमे लिखना ही पडा है। उसे बचाया नही जा सकता था।

यह प्रश्न उठ सकता है कि मैने इन सस्मरणोको, अपने शब्दोमे स्मृतियोको, लेखबद्ध किया ही क्यो। जिस अवधिके भीतरकी घटनाओका इसमे उल्लेख है उसके विषयमे कई महान् नेताओके सस्मरण और जीवनचरित निकल चुके है। मेरा अनुभव उनसे अधिक गम्भीर और व्यापक नही हो सकता। यह आक्षेप ठीक है। परन्तु इन बातोका एक और पहलू भी है। बडे नेताओको अपने स्तरका ही यथार्थ ज्ञान हो सकता था। उससे नीचेकी बाते तो वह दूसरोसे सुन-सुनाकर ही जान सकते थे। जो जितना ही ऊपर उठा वह उतना ही नीचेके स्तरसे, गॉवो और शहरोके मुहल्लोमे काम करनेवाले कार्यकर्ताओसे दूर होता गया। उसके सामने देशव्यापी समस्याऍ होती थी, उनको सुलझानेमे ही उसका समय लग जाता था। ऐसे लोगोके अध्यवसायमे आज देश स्वतन्त्र है।

परन्तु मकानमे छत ही नही होती, खम्भे भी होते है। प्रधान सेनापतिके साथ-साथ छोटे सेनानायकोकी भी आवश्यकता होती है। मै उन छोटे सेनानायकोंमेसे, दूसरी कोटिके कार्यकर्ताओमेसे, एक हूँ। मै अपने जैसे लोगोकी बात कर सकता हूँ। हमारे सामने भी समस्याएँ होती थीं, दायित्व होता था। हमने नगरों, जिलो और प्रदेशोका भार अपने कन्धों-पर उठाया है। युद्धकालमे भी बडी जिम्मेदारियाँ ओढी है और स्वराज्य-प्राप्तिके बाद शासन सँभालनेमे भी। बडे नेताओने जो नीतियाँ निर्धारित की हो उनको जनताके पासतक पहुँचाने और कार्यान्वित करानेका भार हमको ही उठाना पडता रहा है। इसलिए हमारी अनुभूतियोका भी मूल्य है। उनको छोड देनेसे उस कालका इतिहास अपूर्ण रह जायगा। यदि हम नीचेके काग्रेसकर्ताके अनुभवोकी भी थाह पा सकते तो और भी अच्छा होता। लडता तो सैनिक ही है। ऊपरका सारा बोझ वही उठाता है। उन लाखो अज्ञातनामा काग्रेस स्वयंसेवकोंके ही त्याग और तपस्याका पुरस्कार देशको स्वराज्यके रूपमे मिला है।

अस्तु, मैंने अपने वर्गके कार्यकर्ताओके चरितो और आपबीतियोका कुछ दिग्दर्शन कराया है। प्रायः उन्ही बातोका उल्लेख किया गया है जिनकी मुझको निजी जानकारी है या जिनसे मेरा कुछ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है। इसलिए बहुत-सी घटनाएँ छोड दी गयी है। साथ ही कुछ ऐसी बातोका चर्चा है जिनसे मेरा निजी सम्बन्ध नहीके बराबर था परन्तु मेरे जैसे लोगोकी स्मृतियोमे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उदाहरणके लिए, मैने देशके विभाजनका जिक्र किया है। उस घटनाने हम सबके हृदयोको आलोडित किया था, मर्मान्तप्रभाव डाला था। आजतक वह घाव बना हुआ है। उसका चर्चा होना ही चाहिये था।

पुस्तकमें कई ऐसी बातें मिलेंगी जो मेरे बहुत-से पाठकोके लिए अपरिचित होगी। गण्यमान्य व्यक्तियोकी कहीं-कहीं आलोचना भी मिल सकती है। इस विषयमें मेरा इतना ही निवेदन है कि ऐसी पुस्तक केवल इतिहासकी सामग्री प्रस्तुत करनेके भावसे लिखी जाती है, रागद्वेषसे

प्रेरित होकर नहीं। जिन लोगोसे मैंने तीव्र मतभेद प्रकट किया है उनमेंसे प्राय. सब ही मेरे आदरणीय मित्र हैं।

अन्तमें मैंने कुछ प्रश्नोके सम्बन्धमें अपने विचार दिये हैं। यह विचार यत्र-तत्र समय-समयपर जनताके सामने आते रहे हैं। मै समझता हूँ उनको एकत्र करके इस पुस्तकमें दे देना एक प्रकारका उपयोगी परिशिष्ट जोड देना है। मेरी सम्मतियो और मेरे खन्तोंका चाहे और कोई मूल्य न हो परन्तु वह उस व्यक्तिके मस्तिष्कपर प्रभाव डालती है जिसकी यह स्मृतियाँ है।

लखनऊ
२७-८-६१

—सम्पूर्णानन्द



अनुक्रम

१ : जीवनके पहिले कुछ वर्ष

मैं समझता हूँ कि मेरे जीवनके प्रारम्भिक वर्षोंमे स्यात् ही कोई विशेषता थी। उत्तरभारतके बड़े नगरोमे रहनेवाले निम्न-मध्यमवर्गके परिवारों जैसा हमारा भी परिवार था। हॉ, इतना अवश्य था कि हम काशीके रहनेवाले थे और मेरे माता-पिता पक्के सनातनधर्मावलम्बी थे। इसलिए हमारे घरका पर्यावरण निश्चय ही धार्मिक था। हमारा मकान मुहल्ला जालिपादेवीमें था, पासमे ही देवीका मन्दिर था। बडा-सा नीमका पेड़ था। उसीमे एक उभरा हुआ-सा हिस्सा था। उसीपर मुखौटा चढा दिया गया था और किसी प्रकारकी मूर्ति नहीं थी। आस-पास घनी बस्ती थी। खेलनेके लिए कही पासमे खुली जगह न थी। जहॉ आजकल पार्क है वहॉ कूड़ेका ढेर था। लोग नाक दबा कर निकलते थे। मुहल्लेमे लडके सड़कपर गोली खेल लेते थे, पर मुझे उनके साथ खेलनेकी अनुमति नही थी। बस एक ही खेल था : रामलीलाके दिनोमे जो कुछ देखा जाता था उसे यथाशक्य घरपर दुहराना।

इतनेपर भी स्वास्थ्य अच्छा था। इसका एक ही कारण हो सकता था। सस्तीके दिन थे। हम खाना अच्छा खाते थे। दूध-घी सभी शुद्ध मिलता था और पर्याप्त। मन्त्री होनेके बाद रुपयोमे मेरी आय काफी अधिक हो गयी। मेरे पिताजीका अधिकतम वेतन २०० रु० था, मैं १,१०० रु० ले रहा था। पर मै यह जानता हूँ कि मैंने जैसा खाना अपने लड़कपनमे खाया था वैसा अपने घरके लडके-बच्चोको नही दे सका।

हम लोग प्रायः निरामिषभोजी थे। 'प्रायः' का अर्थ यह है कि मेरी माता तो पूर्णतया निरामिषभोजी थीं परन्तु पिताजी देवीको बलि दिया हुआ मास खा लेते थे। ऐसा प्रसाद उनको सालमें तीन-चार बार ही मिलता था। मैं भी उनके साथ खाता था। सन् १९०२ में जब मैं बारह वर्षका था (मेरा जन्म पौष शुक्ल ११, सवत् १९४६, तदनुसार १ जनवरी १८८९ ई० को हुआ था), हमारे नगरमें हैजेका बडा प्रकोप हुआ। हजारों मृत्युएँ हुईं। हमारा परिवार भी अछूता नहीं छूटा। मेरी दो बहिनोंकी मृत्यु हुई। तीन और व्यक्ति बीमार पडे परन्तु अच्छे हो गये। रोगके शान्त होनेपर पिताजी और उनके कई मित्र विन्ध्याचल दर्शन करने गये। मैं भी साथ गया। दो बकरे बलि दिये गये। मैं खडा देख रहा था। उनका मास बना, सबने खाया, मैंने भी खाया। कुछ बचाकर घर लाया गया। फिर बना और खाया गया, मैंने भी खाया। इसके दो-तीन दिन बाद एकाएक आधी रातके लगभग आँख खुल गयी। वह बलि देनेका दृश्य आँखोंके सामने घूम गया, विशेषतः उन बकरोंकी दयाकी भिक्षा माँगती हुई आँखें मेरी आँखोंमें चुभ गयीं। विचित्र कँपकँपी-सी हुई। वह चित्र अब भी भूला नहीं है। उस दिनसे मैंने फिर मांस नहीं खाया।

उन दिनों कायस्थ घरानोंमें पढाई उर्दूसे आरम्भ होती थी। पण्डितजी कुछ पूजा कर दिया करते थे परन्तु मुख्य काम किन्हीं मौलवीके ही हाथों होता था। मेरे पिताजीको यह बात पसन्द नहीं थी। उन्होंने मेरी पढाई हिन्दीसे आरम्भ की। स्वय पढाते थे। तीन-चार पुस्तकोंके बाद उर्दू शुरू की गयी परन्तु हिन्दी छूटी नहीं। वह भी साथ-साथ चलती रही। उर्दू अधिक तो पढी नहीं जाती थी, शीघ्र ही फारसीमें लग जाते थे। मुझे फारसी पढानेके लिए मौलवी मुईनुद्दीन अहमद नामके विद्वान् नियुक्त हुए। बडे ही सज्जन थे। मुझे बहुत मानते थे। मैं उनके घर भी जाता था। यह सब था, परन्तु शरारतके लिए पिटता भी था। एक बार मौलवी साहब नमाज पढ रहे थे। मैंने भी उनके बगलमें उठना-बैठना शुरू किया।

उनको हँसी आ गयी। नमाज रोका, मेरे कान पकड कर हटाया, फिर नमाज जारी की। आँगनमें एक ताकपर चीनीकी तश्तरी और शीशेका गिलास रखा रहता था। जब मौलवी साहबको कुछ खाना होता था तो मै ही बर्तन साफ करता था। उनका हुक्का भी मै ही भरता था। एक बार उन्होने मुझे कुछ दण्ड दिया था उससे कुढ कर मैंने हुक्केमे मिट्टीका तेल डाल दिया। यह काम मेरे मामू साहबने देख लिया। उन्होने चट एक कविता बनाकर सारे घरमें प्रकाशित कर दी। उसकी दो पक्तियाँ अब भी याद हैं :

हुआ जाता है बुन्दा क्या तेरा हाल
ढेबरीमेंसे तेल चुराके हुक्केमें तुम देते हो डाल।

(मेरा पुकारनेका नाम बाबूनन्दन था, वही कवितामें बुन्दा हो गया।)

मैंने तीन-चार साल फारसी पढी। फिर मौलवी साहबका देहान्त हो गया। उनकी मृत्युसे हम लोगोंको बहुत दुःख हुआ। उस दिन मेरे छोटे भाई अन्नपूर्णानन्दका मुण्डन था। घरपर गाना-बजाना सब बन्द कर दिया गया। मौलवी साहबके अतिरिक्त एक मास्टर साहब भी थे और फिर पिताजी भी यदा-कदा पढाया करते थे। उन दिनो ताडन शिक्षाका माध्यम माना जाता था। पढने-लिखनेमे तो बुरा नही था परन्तु राम-लीलाका नशा कभी-कभी काममे बाधक हो जाता था। घरसे करनेके लिए हिसाब आदि धरे रह जाते थे और दण्ड भोगना ही पडता था।

स्कूलमें भर्ती होनेके पहिले मै कुछ धार्मिक पुस्तकें समाप्त कर चुका था। तुलसीदासजीकी रामायणका दो बार पारायण हो चुका था। राम-रावणयुद्धके सिवाय और बाते तो समझमे आती नहीं थी परन्तु पिताजीने पढा जरूर दिया। दो और पुस्तकें याद आती है, 'सुखसागर' और 'देवीभागवत'।

तीन व्यक्तियोका मेरे जीवनपर बहुत गहिरा प्रभाव पडा। उस प्रभावकी गहिरी छाप अबतक बनी हुई है। अपनी माताका जिक्र

कर चुका हूँ। सरल स्वभावकी हिन्दू गृहिणी थीं। सिवाय हिन्दीके और कोई भाषा जानती नहीं थीं परन्तु पढ़नेका उन्हें बहुत शौक था। गृहस्थीका दैनिक कामधन्धा समाप्त करके कोई पुस्तक लेकर लेट जातीं और घण्टे-दो-घण्टे प्रायः नित्य पढ़तीं। उनकी रुचि धार्मिक पुस्तकों और उपन्यासोंकी ओर अधिक थी। मेरे पिता भी पढ़नेके वैसे ही प्रेमी थे। नित्य रातमें घण्टे-दो-घण्टे पढ़ते। उन दिनों पारसी थिएट्रिकल कम्पनियाँ आती थीं। उनके नाटक डेढ़-दो बजे राततक चलते थे, पर नाटकसे लौटकर पिताजी कमसे कम आध घण्टे जरूर पढ़ते थे। इसके बिना उनको नींद ही नहीं आती थी। ऐसे माता-पिताके साथ रहनेका सहज परिणाम यह हुआ कि बहुत छोटी उम्रसे मेरी भी पढ़नेकी आदत पड़ गयी। अपने पिताके चरित्रकी एक और बातका उल्लेख करना चाहता हूँ जो पढ़नेसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थी। उस जमानेमें सरकारी अहल्कारके लिए रिश्वत लेना सहज बात थी। समाजमें इसको कुछ बहुत बुरा भी नहीं समझा जाता था। परन्तु उनके सभी अंग्रेज अफसरोंने उनकी कर्तव्यपरायणता और ईमानदारीकी प्रशंसा की है। उनकी सत्यपरताकी एक कठिन परीक्षाका अवसर आ पड़ा। मैं जब हाईस्कूलमें पहुँचा तो मेरा वय चौदह वर्ष था। उसी साल यह नियम बना कि सोलह वर्षके नीचे कोई इस परीक्षामें नहीं बैठ सकता। यदि किसी लड़केकी उम्र कम लिख गयी हो तो वह सिविल सर्जनकी सर्टीफिकेटसे ठीक हो सकती थी और विशेष अवस्थाओंमें पिताके लिखित बयान (ऐफिडेविट) से भी काम चल सकता था। पिताजीको बतलाया गया कि उनका बयान मान लिया जायगा। उन्होंने झूठ बोलनेसे इनकार कर दिया—'भले ही लड़का दो साल रुक जाय परन्तु मैं झूठा बयान नहीं दूँगा।' बिना पिताजीको सूचित किये एक सम्बन्धी तत्कालीन सिविल सर्जन कर्नल स्वीनीके पास ले गये। उन्होंने देखते ही कहा कि यह लड़का सोलह वर्षका नहीं है। कोई भी ईमानदार डॉक्टर मुझको देखकर दूसरी सम्मति दे ही नहीं सकता था।

झख मारकर उसी क्लासमें तीन वर्ष बिताने पड़े। पर यह समय नष्ट

नहीं हुआ। किताबोके पढनेमे ही गया। उन दिनो मुझे अंग्रेजी उपन्यासोका चस्का लग गया था। ठीक सख्या तो नही कह सकता परन्तु उन दिनो कार्माइकेल लाइब्रेरीमें, जो हमारे नगरका सबसे बडा पुस्तकालय था, स्यात् ही कोई अंग्रेजी उपन्यास रह गया होगा जिसे मैंने न पढा हो। कभी-कभी ऐसा होता था कि पुस्तक सबेरे लाता था, सायकाल लौटा आता था और सायकालकी लायी पुस्तक सबेरेतक समाप्त कर देता था। और पुस्तकें भी पढता था, पर कम। दूसरी पुस्तकोंमेंसे दोके नाम विशेष रूपसे याद हैं, टॉडका 'राजस्थान' और ऐबटकी 'नैपोलियनकी जीवनी'। इतिहासकी दृष्टिसे ऐबटकी पुस्तक स्यात् बहुत प्रमाणित नहीं थी परन्तु उन दिनो उसका बहुत चलन था। हम सभी लोगोके हृदयोमे अंग्रेजोके विरुद्ध जो अस्फुट भावना थी उसको इस पुस्तकसे पोषण मिलता था।

तीसरे व्यक्ति जिनसे मैं प्रभावित हुआ था, शीतल बाबा थे। वह हमारे यहाँ सन् १८५७ के लगभग सोलह वर्षकी उम्रमे नौकर हुए थे और हमारे ही यहाँ ७१ वर्षकी उम्रमे सन् १९१० मे उनका देहान्त हुआ। मै और मेरे छोटे भाई-बहन सभी महीने-डेढ-महीनेके होते-होते उनको सौंप दिये जाते। किसी भाग्यवान् बच्चेको इतनी अच्छी धात्री नहीं मिल सकती थी। दिन-रातके कई घण्टे उन्हींके पास बीतते थे और यह क्रम सात वर्षके वयतक चलता था। उनकी कही हुई कहानियों और गायी हुई लोरियोमेंसे कुछ मुझे अबतक याद है। वह स्वय बहुत धार्मिक व्यक्ति थे और चारो धामकी यात्रा कर आये थे। नामको नौकर थे परन्तु घरके बड़े-बूढोंमे गिनती थी। मेरी माता हर उत्सवपर उनके पॉव छूती थी और हम लोग भी विशेष अवसरोपर उनके पॉव पडते थे।

हमारे स्कूलके अध्यापकोमे ऐसा कोई नही था जिसका विशेष उल्लेख किया जा सके। मैंने पहिले छठे क्लासमे, जिसे अब पॉचवॉ क्लास कहते हैं, हरिश्चन्द्र स्कूलमें नाम लिखाया था। अब तो वह डिग्री कॉलेज हो गया है। उन दिनों ठठेरीबाजारके पास एक तग गलीमें था। सारे क्लास

एक इमारतमें अँट नहीं सकते थे, दो इमारतें थीं। स्कूलके पास नामको भी खेलका मैदान नहीं था। हमारे पास एक ही खेल था। बाजारमें एक पैसेमें कपड़ेका गेंद मिलता था। कभी-कभी उससे म्युनिसिपैलिटीके लालटेन तोड़ दिया करते थे। दो क्लासोंमें यदि किसी बातपर बहुत लड़ाई हो गयी तो आपसमें छुक-छिपकर कुश्ती हो जाया करती थी।

हरिश्चन्द्र स्कूलमें आठवीं कक्षातक ही थी। हाईस्कूल पढ़नेके लिए मुझे क्वींस कॉलेजमें प्रविष्ट होना पड़ा।



: २ : १९०५ से १९११

पिछले अध्यायमे मैने उस अव्यक्त भावनाका जिक्र किया था जो हम लोगोंके मनमे अग्रेजोके प्रति मौजूद थी। हम बडी उत्सुकतासे वैसी पुस्तकोको पढते थे जो उसको पुष्ट करती थीं। ऐसी पुस्तकें अग्रेजीमे ही नही, हिन्दीमे भी मिलती थीं। आर० सी० दत्त और बकिमचन्द्र चटर्जीके उपन्यास तथा महाराणा प्रताप और शिवाजीके सम्बन्धके सैकडो उपन्यास और नाटक हमारी भावाग्निको तीव्र करनेमे वैसी ही सहायता करते थे जैसी कि रूसके निहिलिस्टोकी कहानियॉ। इटलीके गैरिबाल्डी और मत्सीनी हमारे भी आदरके पात्र थे। जिन वीर पुरुषों और स्त्रियोंकी हम उन दिनो पूजा करते थे उनमेंसे नैपोलियनके सिवाय और किसीका अग्रेजोंसे प्रत्यक्ष युद्ध नही हुआ था, परन्तु हम उनके जीवनकी घटनाओंको अपनी परिस्थितिमें उतार लेते थे। दूसरोंने विदेशी शासनका मुकाबला किया था, हमको भी करना चाहिये। हममेसे कुछने दादाभाई नौरोजी-कृत 'पावर्टी ऐण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' जैसी पुस्तके पढी थी। हमारे पास कुछ तर्क भी थे परन्तु वस्तुतः हमारी भावना तर्कमूलक थी नही। यदि हमसे कोई पूछ बैठता कि तुमको अग्रेजी राजसे क्या शिकायत है तो सम्भव है कि हम बहुत अच्छा उत्तर न दे पाते। फिर भी हमारा असन्तोष बढता जाता था। बहुत-कुछ अव्यक्त था पर गहिरा था। मेरा ऐसा खयाल है कि मेरी जैसी मानस अवस्था भारत, विशेषतः उत्तर-भारतके बहुत-से युवकोकी थी। इसीलिए मै बराबर 'हम' कहता आया हूँ।

कुछ घटनाओंने हमारे उत्साहको बढ़ाया और आशाको सहारा दिया। अफ्रीकाके बोअरोंसे अंग्रेजोंकी लड़ाई हुई। अंग्रेज जीते, परन्तु बोअरोंने उनके छक्के छुड़ा दिये। यह स्पष्ट हो गया कि एक छोटा-सा सुसंघटित राष्ट्र भी अंग्रेजोंका सिंहासन हिला सकता है। फिर रूस-जापान युद्ध हुआ। रूस हारा। यह सर्वत्र प्रसिद्ध था कि अंग्रेज रूसियोंसे डरते हैं। जब एक एशियाई देश रूसको हरा सकता है तो फिर अंग्रेजोंकी क्या बिसात है? अबतक सारे एशियाके सिरपर यह जादू छाया हुआ था कि यूरोपियन अजेय होते हैं। वह दीवार ढह गयी। सारे एशियामें उत्साह और आशाकी लहर दौड़ गयी। जापान कितना बड़ा है, जापानी कैसे होते हैं, यह कम लोग जानते थे। बस इतना पर्याप्त था कि वह भी हमारे जैसे एशियाई हैं। भारतमें एक प्रकारकी यह भी प्रसन्नता थी कि जापानी बौद्ध हैं, अतः हमसे मिलते-जुलते हैं। बात बिलकुल सही नहीं थी, परन्तु भावना तर्क और वास्तविकतापर अवलम्बित नहीं होती। मेरे पिता सरकारी नौकर थे, उनके सब मित्र सरकारी नौकर थे। सभी राजभक्त थे। कोई मुँहसे सरकारके विरुद्ध जानकर एक शब्द नहीं निकालता था परन्तु मैं देखता था कि तत्कालीन हवाके झोंके इन लोगोंतक भी पहुँचे थे। सरकारी नौकर भी सोचने लगा था, चाहे मुँहसे कुछ न कहे।

लार्ड कर्जनने बंगालके दो टुकड़े करके इस बढ़ती हुई आगमें घी डाल दिया। 'वन्दे मातरम्'के नारेसे देश गूँज उठा। सरकारकी ओरसे जो दमन हुआ उसने क्रोधाग्निको और प्रज्वलित किया। काशीमें बंगालियोंकी बहुत घनी बस्ती है, नित्य ही लोगोंका आना-जाना लगा रहता है। फलतः बंगालमें जो कुछ होता है उसका प्रभाव हमारे यहाँ तत्काल देख पड़ता है। मेरे कई बंगाली मित्र थे। उनके साथ मैं एकाध बार उनकी गुप्त सभाओंमें गया और उन जगहोंको भी देखा जहाँ यह लोग व्यायाम किया करते थे। यह सब व्यायाम भावी क्रान्तिके लिए तैयारीका अंग था। उन दिनों बंगालियोंके साथ घूमने-फिरनेमें खतरा था। सारे नगरमें

सरकारी गुप्तचरोंका जाल बिछा था। इन्हे लोग 'टिकटिकी' कहते थे। बंगालमे टिकटिकी शायद छिपकिलीको कहते हैं। लेकिन इस खतरेकी आशकासे उत्साह और बढता था। गुप्त ढगसे काम करनेमे एक विशेष रस होता है और यदि पकडे जानेकी सम्भावना हो तो वह इससे दूना हो जाता है।

मैं उस समयकी एक घटनाका उल्लेख करना चाहता हूँ। अब उसको सोचकर हँसी आती है परन्तु उस समय, जबकी यह बात है, उसमें गम्भीरता थी : उसके पीछे विषाद, उत्साह और मानस आन्दोलनकी भूमिका थी। बगालमे जो दमन हो रहा था उसके समाचार बराबर आ रहे थे। पत्रोंसे बढकर जनश्रुति इन खबरोको फैलाती थी और प्रचारके साथ-साथ इनकी भीषणताको और बढा देती थी। लोगोका क्रोध बढता जाता था। गर्मियोकी छुट्टियाँ थीं, स्कूल-कॉलेज सब बन्द थे। मैं नित्य-सायकाल पासके बेनिया पार्कमे कुछ मित्रोके साथ टहलने जाता था। हमारी बात-चीतका विषय राजनीति होता था। मेरा मस्तिष्क पागलखाना हो रहा था। मैं घरपर घण्टो बैठा न जाने क्या-क्या सोचा करता। जब आवेग बहुत बढता तो छतपर चला जाता। वहाँ एक छोटी-सी कोठरी थी। उसीमे तलवार लेकर घूमा करता और पुरानी कहानियोको याद कर-करके बडबडाया करता। कमरेमें कपडोको टॉगनेके लिए एक रस्सी लटकी रहती थी। वह मेरे तलवारकी पैतरेबाजीका शिकार हो गयी। किंकर्तव्यविमूढता और इच्छाभिघातने मुझे पागल बना रखा था। स्वभावतः पिताजी बहुत चिन्तित हुए। उनको यह डर हुआ कि यह बेनियामें जाकर न जाने क्या बक जाय और पकड जाय। तलवार तालेमे बन्द कर दी गयी और मुझे घरसे निकलना मना कर दिया गया। चार-छ दिनके बाद यह उन्माद तो शान्त हो गया। ऊपरसे मैं शान्त हो गया परन्तु कील इतनी गहिरी धॅस गयी थी कि फिर हृदयसे निकली नहीं। आज इस घटनापर हँसा जा सकता है, लडकपन कहा जा सकता है, परन्तु मेरा ऐसा अनुमान है कि उन दिनो सैकडों युवकोंको इसी

प्रकारकी अनुभूति हुई होगी। उस समयके घायल ही आगे चलकर महात्माजीके सिपाही हुए।

सन् १९०५ मे काशीमे काग्रेसका अधिवेशन हुआ। श्री गोखले अध्यक्ष थे। मैं भी साधारण स्वयसेवक था। अध्यक्ष महोदयके अतिरिक्त पण्डित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक, श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और श्री खापर्डे जैसे कई महारथियोके व्याख्यान सुननेको मिले। श्री सुरेन्द्रनाथकी एक उक्ति मुझे अभीतक याद है 'ए नोबल पीपुल कैन नाट हैव ऐन इग्नोबल गवर्नमेंट, ऐन इग्नोबल पीपुल कैन नाट हैव ए नोबल गवर्नमेंट' (अच्छे राष्ट्रकी सरकार निकम्मी नही हो सकती, निकम्मे राष्ट्रकी सरकार अच्छी नही हो सकती।) इन भाषणोसे जानकारी तो बढी ही, भावनाओको तर्कका सम्बल मिल गया।

राजनीतिक हलचलके साथ-साथ बड़े जोरोसे 'स्वदेशी आन्दोलन' चला। यो तो सभी विदेशी वस्तुओंका बहिष्कार उसका लक्ष्य था परन्तु विशेष रूपसे इग्लैण्डके बने कपडेकी ओर दृष्टि थी। ऐसा माना जाता था कि इससे इंग्लैण्ड कमजोर होगा। मैंने भी स्वदेशीका, अग्रेजी कपड़ा न पहिननेका, व्रत लिया और उसे एक अवसरको छोडकर निभाया भी। मै इन्दौरके डेली (राजकुमार) कॉलेजमे सन् १९१५ में अध्यापक नियुक्त हुआ। वहाँ खेलोमे भाग लेना अनिवार्य था। इस विषयमे मेरी योग्यता शून्यसे भी कुछ कम ही थी परन्तु खेलके कपडे तो बनवाने ही थे। मुझे बताया गया कि इस कामके लायक स्वदेशी कपडे नहीं मिलते। सम्भव है बात ठीक रही हो परन्तु मेरी भी दुर्बलता थी, अधिक छानबीन नहीं की। विदेशी कपड़े ले लिये। शायद सार्वजनिक रूपसे स्वीकार करना व्रतभगके अपराधको कुछ कम कर दे। स्वदेशी वस्त्र आन्दोलनके साथ स्वदेशी चीनीका भी आन्दोलन चला था। इसके पीछे राजनीतिक दबावके साथ-साथ धार्मिक भावना भी थी। विदेशी चीनी गऊकी हड्डीसे साफ की जाती है, ऐसा माना जाता था। कुछ लोगोको यह बात जानकर गहिरा धक्का लगा परन्तु आन्दोलनने बहुत जोर नहीं पकडा। धीरे-धीरे

ठढा हो गया। मै स्वय उन लोगोमे था जो एक बार इसके साथ बहे परन्तु कुछ दिनोमे अलग हो गये।

उन दिनो मै क्वीस कॉलेजमे पढता था। वहींसे सन् १९११ में बी० एससी० किया। अब यह कॉलेज नही है। पहिले इसको इण्टरमीडिएट कॉलेज बना दिया गया, अब इसकी इमारत वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालयको दे दी गयी है। इसकी गणना ब्रिटिश कालमे बनी सुन्दरतम इमारतोंमे है। पाठ्य पुस्तके तो पढता ही था परन्तु बहुत-सा समय बाहरकी पुस्तकोको पढनेमे जाता था। मै पहिले अध्यायमे बता चुका हूँ कि दो सालतक मुझे हाईस्कूल परीक्षाके लिए रुकना पडा। इन दिनों मैने बहुत-से उपन्यास पढ डाले। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह हुई कि उपन्यास और कहानीसे मेरी रुचि फिर गयी। बी० एससी० के परीक्षाकालतक मैने स्यात् ही दस-पॉच उपन्यास पढे होंगे। परन्तु दूसरे प्रकारकी, वनस्पति-शास्त्र, जीवशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, मनोविज्ञान और ज्योतिष (फलित नही, सिद्धान्त) बहुत-सी पुस्तके देख डाली। ज्योतिष मेरे लिए सबसे रोचक विषय था। मेरे पिताको फलित ज्योतिषका थोडा-सा ज्ञान था। उनके पास उर्दूकी दो-एक पुस्तके भी थी। साथ रहते-रहते कुछ शब्द, जैसे राशियॉ और नक्षत्रोके नाम, मुझे परिचित थे। मुझे आकाशमे उन्हे पहिचाननेकी उत्सुकता थी पर कोई बतलानेवाला न था। ज्योतिषके विद्यार्थियोंको भी यह विषय नही पढाया जाता था। मैंने अग्रेजीके दो-तीन स्टार ऐटूल्स मोल लिये। इनमें जो आकाशचित्र दिये हुए थे वह लन्दनके अक्षाशके लिए बने थे। उनसे पूरी सहायता नहीं मिलती थी। एक ऐटूलस पायनियर प्रेस (इलाहाबाद) से निकला था और 'इलस्ट्रेटेड वीकली'मे प्रति मास आकाशचित्र निकलता था। इन सबकी सहायतासे मैने मुख्य-मुख्य तारकपुजोको पहिचाननेका यत्न किया। धीरे-धीरे कुछ सफलता भी मिली।

आकाशदर्शनके मेरे प्रथम प्रयास कुछ बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं थे। एक बार गोला दीनानाथकी गलीमेसे आकाश देखता जा रहा था।

रास्तेमें एक निर्दोष कुत्ता आरामसे सो रहा था। मैं गौतमकी भाँति अक्षपाद तो हूँ नहीं, पाँवमें आँखें हैं नहीं, शरीरके पूरे भारके साथ कुत्ते-पर पैर पड़ा। कुत्तेने वही किया जो उसे करना चाहिये था। मुझे काट लिया। वह पागल नहीं था, पागल तो मैं था। कुछ विशेष उपचार करना आवश्यक नहीं समझा गया। घाव जला दिया गया। उन दिनों यह विश्वास था, अब भी होगा, कि अपारनाथकी टेकरी नामके मठसे अखण्ड दीपका तेल लगा देनेसे कुत्ता काटनेका दुष्प्रभाव नहीं होता। यह भी कर दिया गया। मेरी बुद्धि इतनेसे ठीक नहीं हुई। इसके चार-पाँच दिन बाद बेनिया पार्कमें आकाश देखते-देखते गिर गया। पाँवमें मोच आ गयी। इससे अकल कुछ ठिकाने लगी। चलते-चलते तारे देखनेका उत्साह ठढा हुआ। मैंने फिर ज्योतिषकी पुस्तकोंका सहारा लिया। घरकी छतसे जो कुछ हो सकता था देखता था, परन्तु कम ही देख पडता था। दक्षिण ओर एक ऊँची दीवारने क्षितिजको रोक रखा था। इतना पैसा मेरे पास था नहीं कि छोटी-सी भी दूरबीन ले सकता।

उस समय क्वींस कॉलेजमें पढनेवाले हम छात्र इस बातमें बहुत भाग्यवान् थे कि हमारे कई अध्यापक बहुत विद्वान् और ख्यातनामा थे। डॉक्टर वेनिस प्रिंसिपल थे। अपनी संस्कृतकी विद्वत्ताके लिए प्रसिद्ध थे। ग्रिफिथ और वैलेण्टाइनकी परम्पराको उन्होंने बहुत अच्छा निभाया, महामहोपाध्याय पण्डित गंगाधर शास्त्रीके शिष्य थे। हमारे दूसरे अध्यापक प्रोफेसर नार्मन, प्रोफेसर रैण्डेल, प्रोफेसर अभयचरण सान्याल, प्रोफेसर शारदाचरण चक्रवर्ती और डॉक्टर गणेशप्रसाद थे। पेंशन लेनेके बाद प्रोफेसर रैण्डेल लन्दन इण्डिया हाउस पुस्तकालयके अध्यक्ष नियुक्त हुए। मुझको बहुत मानते थे। उनकी दी हुई पुस्तक आयडेन-कृत 'प्रॉब्लेम्स ऑव लाइफ'का अनुवाद अब भी मेरे पास है। सन् १९४८ में मैं इंग्लैण्डमें उनसे मिला था। मैंने डॉक्टर गणेशप्रसादका नाम अन्तमें लिया है परन्तु हम लोगोंपर सबसे अधिक प्रभाव उनका ही पडा। गणितके प्रोफेसर थे, उनका रहन-सहन तपस्वी जैसा था। बडी मेहनत लेते थे पर

उनके सभी छात्रोंको उनसे स्नेह था। उनमेंसे कइयोंने ख्याति पायी। डॉक्टर साहबने हममें कठिन परिश्रम करनेका जो अभ्यास डाला वह जीवनभरके लिए हमारी निधि बन गया।

हमारे कॉलेजके संस्कृत-विभागमे कई प्रकाण्ड विद्वान् थे। मैं उनमेंसे केवल एकका नामोल्लेख करता हूँ: पण्डित सुधाकर द्विवेदी। यदि अंग्रेजी विभागमे गणितके अध्यापक छुट्टीपर चले जाते थे तो कभी-कभी सुधाकरजी आ जाया करते थे। गणितके उद्भट विद्वान् थे। विशेष बात यह थी कि अंग्रेजीका ज्ञान बहुत थोडा था। संस्कृतके सहारे ही गणितका अभ्यास किया था। यदि उनको अंग्रेजी माध्यमसे पढनेका अवसर मिला होता तो बहुत काम करते। हममेंसे बहुत-से लोगोंका यह विचार था कि वह अपनी शक्तिका अपव्यय करते थे। कुछ दिनतक तुलसीकृत रामायणका संस्कृत अनुवाद निकालनेकी धुन थी, 'रामकहानी' नामकी पुस्तक लिख डाली, पतग और बुलबुल लडानेका भी शौक था। उनके देहान्तके दिन डॉक्टर गणेशप्रसादने कहा था—'आज एक ऐसे व्यक्तिकी मृत्यु हुई है जो मुझसे कहीं बडा था।'

मैंने अपने स्वदेशी व्रतका जिक्र किया है जिसे मै पूरा न निबाह सका। परन्तु इन्हीं दिनो मैंने एक दूसरा संकल्प किया जो ईश्वरकी कृपासे पूरा हुआ। गवर्नमेंटने लाला लाजपतरायको गिरफ्तार करके मॉडले भेज दिया। इसके पहिले तिलकके साथ ऐसा ही सलूक किया जा चुका था, परन्तु उन दिनों जनचेतना इतनी जागी नहीं थी। विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। इस बार बंगविच्छेदके बादसे लोगोका क्रोध उभरा हुआ था। वह और प्रज्वलित हो उठा। मैंने समाचार पानेके बाद ही यह संकल्प किया कि ब्रिटिश सरकारकी नौकरी नहीं करूँगा। घरवालोंकी आशा तो इसी बातपर केन्द्रित थी कि मैं पढ-लिखकर नौकरी करूँगा और नौकरीका अर्थ था सरकारी नौकरी। कुछ दिन बाद जब उनको मेरा निश्चय ज्ञात हुआ तो बहुत दुःख हुआ, सारी आशाओंपर पानी फिर गया, परन्तु मैं इस बातकी प्रशंसा करूँगा कि किसीने मुझको

इस व्रतसे विचलित करनेका प्रयत्न नहीं किया। भगवान्‌ने इसे निबाह दिया।

इसी जमानेमें मुझे व्यायामका शौक पैदा हुआ। बढ़ाकर ४०० डण्डतक करने लगा। रातको साढ़े तीन-चार बजे उठकर कसरत करता था। मेरे पड़ोसमें मेरे समवयस्क सम्पत नामके ग्रामीण ब्राह्मण रहा करते थे। उनको दो पैसे रोज देकर कुश्ती लड़ता था। उनको इस विषयका थोड़ा-सा ज्ञान था।



: ३ : श्री गुरवे नमः

मनुष्यके जीवनके कुछ ऐसे पहलू होते हैं जिनका वह परदेमें ही पडा रहना पसन्द करता है। कुछ ऐसी घड़ियाँ होती हैं जो जीवनकी धाराको बदल देती हैं परन्तु उनकी याद अपनेतक ही सीमित रखना अच्छा लगता है। कुछ ऐसी मधुर स्मृतियाँ होती हैं जो बाहरवालोंकी दृष्टि पड़ते ही कुम्हला जाती है। कुछ ऐसी अनुभूतियाँ हैं जिनको हृदयके अन्तःस्तलके बाहर निकालनेको जी नहीं चाहता। असूर्यम्पश्या रमणियोंकी भाँति ऐसी चीजोंको परायी आँखसे बचा कर रखना ही भला लगता है। ऐसी गोप्य बातोंमें प्रथम स्थान आध्यात्मिक अनुभूतिका है। अध्यात्म धर्म या मजहबका पर्याय नहीं है। मनुष्य किन ग्रन्थोंको प्रामाणिक मानता है, उन ग्रन्थोंमे क्या लिखा है, कौन-कौन-से व्रतोपवासादि उसके लिए करणीय हैं, मरनेके पीछे क्या गति होती है, इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तरके अनुसार मनुष्यका धार्मिक या मजहबी वर्गीकरण होता है। मजहबका कुछ-न-कुछ आध्यात्मिक आधार होता है परन्तु अध्यात्म और मजहब या सम्प्रदायमें वही सम्बन्ध है जो चीनीको चखने और चीनीके सम्बन्धमें पुस्तक पढनेमें है। सम्भव है पुस्तक लिखनेवालेने चीनीको चखा हो परन्तु वह चीनीके स्वादको पाठकतक नहीं पहुँचा सकता। स्वाद तो स्वयं चखनेसे मिलता है। आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा शुद्ध, अपरोक्ष, अतीन्द्रिय ज्ञान होता है और वह वर्णनातीत है। उसकी चर्चा करना अनुचित और बेकार है। अपनेको सत्यकी, उस सत्य पदार्थकी, जो देश और कालके

परे है, जिसमें यह जगत् ओतप्रोत है, जो जगत्के, द्रष्टाके, भीतर और बाहर है, जो अपनी आत्मासे अभिन्न है, उस सत्यकी क्या अनुभूति हुई, कैसी झलक मिली, इसकी क्या चर्चा की जाय, ऐसी अनुभूतिका एक-मात्र मार्ग योग है। योगका प्रत्येक अभ्यासी तत्त्वद्रष्टा नहीं हो जाता परन्तु जैसा कि श्रीकृष्णने गीतामें कहा है :

जिज्ञासुरपि योगस्य, शब्द ब्रह्मातिवर्तते।

योगकी पहली सीढीपर पाँव रखनेवालेका भी स्थान दूसरी सब उपासना, यज्ञ, याग करनेवालोंके लोकसे ऊँचा है। कभी-कभी सच्चे कलाकारको भी एक झलक मिल जाती है, कलाकार उस अमूर्त झलकको राग, पद्य, मूर्ति और चित्रमें साकार बनानेका प्रयास करता है और कलाका इतिहास असम्भवको सम्भव बनानेके ऐसे प्रयत्नोंका इतिहास है।

मैं चाहता था कि इस अध्यायको न लिखूँ। अपने जीवनके इस अध्यायको परदेमें ही रखूँ। परन्तु यह पूर्णतया सम्भव प्रतीत नहीं हुआ। जो लोग मुझको जानते हैं उनमेंसे बहुतोंका यह खयाल है कि मेरा झुकाव 'धार्मिक' या 'आध्यात्मिक' बातोंकी ओर है। मिलने-जुलनेवालोंके सामने यदा-कदा ऐसी बातें मुँहसे निकल ही जाती हैं : शराबका नशा कहाँतक छिपाया जा सकता है? मेरी पुस्तकोंमें इन विषयोंका जिक्र है। 'चिद्-विलास'[१]में जहाँ शास्त्रीय विचार है वहीं, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, योगकी सर्वोपरि प्रामाण्यतापर असन्दिग्ध भाषामें जोर दिया गया है। ऐसी बातोंको देखकर बहुत-सी कल्पनाएँ उठती हैं, जिनमेंसे कई निराधार भी होंगी। अतः अनिच्छन्नपि मैंने इस अध्यायको लिखना उचित समझा। इसमें मेरी कोई अनुभूति नहीं बतलायी गयी है, यदि किसी रहस्यका मुझे किंचित् ज्ञान है भी तो उसका अनावरण नहीं किया गया है, केवल इस बातका चर्चा है कि अनुभूतिके मार्गपर मैं किस प्रकार आरूढ हो सका।

---

१ ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी द्वारा प्रकाशित।

पहिले अध्यायमे मैने इस बातका जिक्र किया है कि छोटी उम्रसे ही मै किन्ही धार्मिक पुस्तकोको पढा करता था। कहानियोके सिवाय उस उम्रमे और क्या समझमे आता, और सब कहानियोका भाव भी समझना कठिन था। मुझे अच्छी तरह याद है कि 'देवीभागवत'की एक कहानी मुझे बहुत अच्छी लगी। उसको कहानीरूपसे तो समझ गया परन्तु कहानीके पीछे कुछ और है, यह उस समय भी लगता था। मनमे कई प्रश्न उठते थे। कहानी वह है जिसमे यह बताया गया है कि एक बार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र यह ढूँढने चले कि हमारे ब्रह्माण्डके बाहर क्या है। जब अपने ब्रह्माण्डके बाहर निकले तो उनको बहुत-से त्रिदेव मिले। सब एक ओर जा रहे थे। यह भी उधर ही हो लिये। बहुत दूर जाते-जाते इनको कुछ प्रकाश देख पडा। वहाँ ही देवीका लोक था। देवीकी सब परिचारिकाएँ स्त्रियाँ थी। ज्यो-ज्यो यह लोग आगे बढे त्यो-त्यो इनमे परिवर्तन होने लगा, यहाँतक कि कुछ ही देरमे सब स्त्री हो गये। कुछ और चलकर यह लोग अपना पृथक् अस्तित्व ही भूल गये। लडकपनकी पढी हुई है परन्तु कथा कुछ ऐसी ही है। ऐसी पुस्तकोको पढनेसे दो शकाएँ विशेष रूपसे उठती थी। एक तो यह थी कि सभी पुस्तके कहती थी कि जगत्का मूल, चाहे उसको ईश्वर या विष्णु या देवी या महादेव कुछ भी कहे, कोई सर्वव्यापी पदार्थ है। तब वह उन जगहोमे भी होगा जहाँ दूसरी वस्तुएँ है, जहाँ अपना शरीर है। यह कैसे हो सकता है? एक जगहमे दो पदार्थ कैसे रह सकते है? इसका किसी प्रकार पिताजीने उत्तर दिया था। मुझे अबतक स्मरण है कि उन्होने वह उपमा दी थी जो इस दोहार्धमे है · ज्यों मेंहदीके पातमें लाली लखी न जाय। अस्तु इसका तो कुछ निवारण हुआ परन्तु मेरी दूसरी शकाका कोई समाधान नही कर सका। जगत्की उत्पत्तिका वर्णन बडा रोचक लगता था। इतना ही समझमे आता था कि प्रारम्भमे सब जल-ही-जल था। मूल सस्कृतमे 'सलिल' शब्द आता है। यह अप् तत्त्वका वाचक है और इसका प्रयोग दार्शनिक प्रसगमे ही आता है। उस समय तो यह सब नही जानता था। इतना ही समझमे आया

कि किसी प्रकार उस अनन्त जलमेंसे मनुष्य जैसा शरीर निकल आया और ईश्वरने उसमें प्राण फूँक दिया। मैंने सैकड़ों बार इस दृश्यका मानस चित्र बनाया। गंगाजीसे बडा जलसमूह तो मैंने देखा नहीं था। मैं यह सोचता था किसी प्रकार पानीमेंसे निकला हुआ मनुष्यका एक शरीर किनारेपर खड़ा है और कोई उसकी नाकमें फूँक रहा है। तसवीर कुछ बनती तो थी परन्तु सन्तोष नहीं होता था। वह सारा पानी कहाँ गया? वह स्वयं कैसे बना था? वह बिना साँसकी देह उसमेंसे रेंगकर बाहर कैसे निकली? प्रश्न तो उठते थे परन्तु यह स्पष्ट ही है कि यदि उस समय कोई जानकार मुझको समझानेका यत्न करता भी तो मैं भला क्या समझ पाता!

कुछ बड़े होनेपर बचपनकी इस दार्शनिक जिज्ञासामें कमी हो गयी, परन्तु धार्मिक और धर्म-सम्बन्धी पुस्तकोंके पढ़नेकी रुचि बढ़ती गयी। बहुत-से धर्मोंकी पुस्तकें देखीं। सभीकी ओर कुछ दिनोंके लिए आकृष्ट भी होता था, परन्तु चित्त कहीं जमता न था। कॉलेजमें आकर मुझे इंग्लैण्डके रैशनलिस्ट प्रेस एसोसिएशनकी पुस्तकें देखनेको मिलीं। प्रामाणिक पुस्तकोंको, जिनके मूल संस्करणोंका मूल्य बहुत होता था, इस मालामें बहुत सस्ते मूल्यपर प्रकाशित करते थे। प्रो० अर्न्स्ट हैकल तथा दूसरे अनीश्वरवादियोंकी रचनाओंने मुझे कुछ कालके लिए कट्टर अनीश्वरवादी और जडवादी बना दिया। उनके तर्क सबल होते थे और श्रद्धा उत्पन्न करते थे। लोग समझते हैं कि सदाचारको धर्म और ईश्वरका सहारा चाहिये। इस मालाकी कर्तव्यशास्त्रपर प्रकाशित एक पुस्तकके लेखकका कहना है कि जगत्‌में तो यह देख पडता है कि :

ट्रुथ फारएवर आन दि स्कैफोल्ड, राग फारएवर आन दि थ्रोन

(सच्चे आदमी सूलीपर चढ़ाये जाते हैं और दुराचारी सिंहासनपर बैठते हैं।)

परन्तु यदि कोई ईश्वर हो और वह ऐसी आज्ञा दे तब भी सत्पुरुष सत्य और न्यायके पक्षपर अडिग रहेगा।

सच बात तो यह है कि मुझे अपने भीतर कुछ शून्य-सा, कुछ अभाव-सा लगता था; उसकी तृप्ति किसी पुस्तकसे, किसी मतसे नहीं होती थी। सूनापन कैसा था, किस वस्तुकी कमी प्रतीत होती थी, मैं क्या चाहता था, यह मैं स्वयं नहीं बता सकता था। स्वामी विवेकानन्दकी रचनाएँ पढ़ीं, संस्कृत तो जानता नहीं था, ब्राह्मण और उपनिषदोंके अंग्रेजी अनुवाद देखे, शांकर वेदान्तकी ओर चित्त झुका, परन्तु प्यास नहीं बुझी।

मेरे पड़ोसमें एक बंगाली परिवार रहता था। वह सभी लोग राधास्वामी सम्प्रदायके सदस्य थे। उनमें श्री हरेन्द्रनाथ मेरे समवयस्क थे। सन् १९१० में मेरी उनकी घनिष्ठता बढ़ी। उनकी कृपासे राधास्वामीमतकी वह पुस्तकें देखनेको मिलीं जो बाहरवालोंको दी जाती हैं। इसके साथ ही सन्तमतके अन्य महात्माओंकी रचनाएँ देखीं। कबीर, नानक, पलटू, दादू, दरिया, जगजीवन आदि सन्तोंके 'साखी' और 'शब्द' पढ़नेमें आये। एक नया विश्व सामने आया, जिसमें तर्क और शाब्दिक इन्द्रजालके लिए स्थान नहीं है, जिसमें व्याकरण और निरुक्तका प्रवेश नहीं है। इस जगत्में सत्यका सीधा साक्षात्कार होता है, उसके विषयमें शास्त्रार्थ नहीं होता। यह ऐसी दुनिया है जिसमें रंग, वर्ण, वर्ग, राष्ट्र, सम्प्रदायका भेद माना नहीं जाता, स्त्री और पुरुष समानकक्षमें रखे जाते हैं। इस लोकमें सत्यका निरावरण प्रत्यक्ष होता है। मैं स्वभावतः इस ओर खिंचा। खिंचनेके साथ डरा भी, घबराया भी। यहाँ सद्गुरुकी कृपाके बिना प्रवेश असम्भव है और प्रगति योगाभ्यास और वैराग्यपर निर्भर करती है। सतत सतर्कता चाहिये क्योंकि मनको बहकते देर नहीं लगती। कबीरने कहा है :

साध संग्राम है विकट बेढ़ा मती, सती औ सूरकी चाल आगे।
सती संग्राम है पलक दो-चारका, सूर संग्राम पल एक लागे।
साध घमसान है रैन दिन जूझना, देह पर्यन्तका काम भाई।
कहत कबीर टुक बाग ढीली करै, उलट मन गगनसे जमीं आई॥

मैं साधारण गृहस्थ, विरक्त कहाँतक हो सकूँगा, सयमी कैसे बन पाऊँगा ? और फिर गुरु कहाँ मिलेगा ? गुरुमे जैसी श्रद्धा होनी चाहिये वह मुझमे कहाँ है ? अंग्रेजी पढा हुआ, विज्ञानमे चचुप्रवेश पाया हुआ व्यक्ति, अपने झूठे विद्याभिमान और शकावृत्तिको कहाँ भुला पाऊँगा। कबीरने ही कहा है :

पहिले दाता शिष भया, जिन तनमन अरपा शीष।
पीछे दाता गुरु भया, जिन नाम किया बखशीश॥

मैं इतनी अनन्य निष्ठा कहाँ दिखला सकता हूँ ?

मैंने उन्ही दिनो सस्कृत पढना आरम्भ किया। विशेषतः योगपर पुस्तकोको देखने लगा। योगदर्शनका तो कहना ही क्या है, उसको कमसे कम ढाई सौ बार पढ़ गया हूँ, फिर भी उसके अर्थमे गूढता निकलती आती है। योगकी अन्य पुस्तके भी अच्छी लगी। पर जो कठिनाई सन्त-साहित्यमे थी, वही इनमे भी। इनकी भाषा कुछ और ही थी। अर्थ लगानेकी कुजी मेरे पास नहीं थी।

मैंने साधु महात्माओसे भेट करना आरम्भ किया। जहाँ किसी साधुका पता लगता, मैं उनके दरबारमे उपस्थित होता। जो लोग मूर्तिपूजाकी, मन्त्रजपकी बात करते थे उनके यहाँ तो जी नहीं लगता था, परन्तु जहाँ योगका चर्चा होता, चित्त लगता था। एक-एक जगह कई-कई बार गया। निश्चय ही उनमे कुछ अच्छे लोग रहे होगे परन्तु मैं उनसे लाभ न उठा सका, अतृप्ति बनी ही रही। इसके साथ ही मेरी व्याकुलता भी बढती गयी। अपनी अपात्रतापर क्रोध आता, विचित्र किकर्तव्यताकी दशा थी। कई बार यह विचार उठा कि अपने मित्र श्री हरेन्द्र सेनकी भाँति राधास्वामी सम्प्रदायमे दीक्षा ले लूँ। वह लोग भी सन्तमतके ही पोषक थे। परन्तु उधर भी प्रवृत्ति न हुई। एक कारण तो यह था कि मैंने योगीका जो चित्र मनमे बना रखा था उसके अनुकूल उनको नहीं पाता था। मेरी ऐसी धारणा थी, और अब अधिक पुष्ट हो गयी, कि योगी गम्भीर भी हो सकता है और हँस भी

सकता है, दूसरोंको भी हँसा देता है। उसके चारों ओर प्रसन्नता और प्रफुल्लताका वातावरण होता है। इस मतके जो लोग मुझे मिले वह सदैव गम्भीरतामें डूबे रहते थे, जैसे हँसना जानते ही न हों। फिर उन लोगोंका एक विश्वास मुझको घबराता था। वह इस दोहेमें गुम्फित है :

जन्म एक गुरुभक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्तिपद, चौथेमें निज धाम॥

यह ठीक है कि अध्यात्मके मार्गमें कोई अवधि नहीं बाँधी जा सकती, अपने सवेग, वैराग्य, लगन, परिश्रम, तन्मयतापर सफलता निर्भर है, परन्तु यह चार जन्मकी अवधि तो बहुत लम्बी है। किसीको दस जन्म लग जायँ परन्तु एक जन्म भी पर्याप्त होना चाहिये, चार जन्मकी चर्चा ही साधकको सुस्त बना देगा। इन बातोंने मुझे उस सम्प्रदायसे पराङ्मुख कर दिया। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यहाँ राधास्वामी-मतकी आलोचना नहीं कर रहा हूँ और न उसके दोष दिखला रहा हूँ। कुछ बातोंकी मेरे ऊपर जो प्रतिक्रिया हुई उसीका जिक्र कर रहा हूँ। बहुत सम्भव है कि प्रतिक्रिया बिल्कुल निराधार हो। ऐसी दशामें मैं उन सब लोगोंसे क्षमा माँगता हूँ जिनको मेरे लिखनेसे ठेस लगी हो।

मेरी अवस्था यों ही असन्तोषजनक होती जा रही थी। मैं अपनेको निःसहाय पाता था। कोई उपाय सूझता नहीं था जिससे उस रससागर-की एक बूँद चखनेको मिल जाय जिसका चर्चा सन्तसाहित्यमें, योग वाङ्मयमें था। घण्टों न जाने क्या सोचा करता, कभी-कभी रो पड़ता था। स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो गया। पढ़ने-लिखनेमें जी नहीं लगता था। बी० एससी० में फेल हो गया। यह जीवनमें इस प्रकारकी पहिली घटना थी। निश्चय ही दुःख हुआ। घरपर लोग मेरी मानस व्यथासे परिचित थे, किसीने एक शब्द नहीं कहा। यह उनकी उदारता थी। परन्तु माता-पिताको जो दुःख हुआ होगा उसे सोचकर मुझे और भी ग्लानि होती थी। परन्तु बेबसी थी, मैं कर भी क्या सकता था।

एक दिन मेरी माताने मुझसे कहा 'तुम दादाके पास क्यों नहीं

जाते ? वह तुम्हारी सहायता करेंगे।' मैं एक बार तो इस बातको सुनकर अवाक्-सा रह गया। मेरे मातामह, नानाको लोग दादा कह कर पुकारते थे। मैं भी उन्हें दादा ही कहता था। यह जानता था कि वह साधु हैं और बाबा रामलालके शिष्य हैं। बाबाजी बडे प्रसिद्ध योगी थे। मैंने उनको लडकपनमें देखा था। रामनगरमें महाराजा बनारसके किलेके पीछे अपनी माताके साथ एक टीलेपर रहते थे। उनकी 'वाणी' छपी थी। उसको देखकर मैंने अनुमान किया था कि वह भी सन्तमतसे ही सम्बद्ध रहे होंगे।

दादा बडे ही हँसमुख व्यक्ति थे। खूब हँसते थे, हँसाते भी थे। शरीर पुष्ट था, वृद्धावस्थामें भी डण्ड-बैठक करते थे। दिनमें एक ही बार भोजन करते थे। फूलोंका बहुत शौक था। जहाँ रहते थे वहाँ फूल लगा रखे थे। उनको अपने हाथोंसे सींचते थे। तीस-चालीस घडे पानी डालते थे। गरमीमें उन्हीं फूलोंके बीचमें पत्थरके तख्तपर सोते थे। सर्दियोंमें कमरेमें जमीनपर। स्मरणशक्ति बहुत अच्छी थी। घण्टोंतक संस्कृत, फारसी, उर्दू और हिन्दीके योगवेदान्तपरक तथा वैराग्योद्दीपक वाक्य, गद्य और पद्य, सुना सकते थे। संगीतसे प्रेम था। गेरुआ वस्त्र पहिनते थे, परन्तु यज्ञोपवीतका परित्याग नहीं किया था। उसको कण्ठीकी भाँति गलेमें पहिनते थे।

मैं यह सब जानता था, पर न जाने क्यों अबतक उनके यहाँ अपने विशेष उद्देश्यको लेकर जानेका विचार मनमें नहीं आया था। माँके कहनेसे उनकी सेवामें गया, एक-दो दिन नहीं, प्रायः प्रतिदिन जाने लगा। पहिले तो उन्होंने हँसकर टाल देना चाहा, इसके आगे मार्गकी कठिनाईका चर्चा चला। मार्ग कठिन है, इसके विषयमें दो सम्मतियाँ हो नहीं सकतीं। प्राचीन, अर्वाचीन, सभी सन्त-महात्माओंने ऐसा कहा है। उपनिषद्का वाक्य है :

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथ तत्कवयो वदन्ति।

(योगी जन कहते हैं कि वह मार्ग कठिन है, छुरेके तीखी धारके

समान दुर्गम है।) इसपर चलनेवाला वह नही हो सकता जो 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहित' है।

(जो दुश्चरितोको छोड नही चुका है, जिसने इन्द्रियोको नही दबाया है, जिसका चित्त एकाग्र नही है।) और फिर गोबिन्द साहबके शब्दो मे:

पहिले कसै अहार, ताहिपर निद्रा बाँधै।
तब सद्‌गुरुकी शरण बैठि पद्मासन साधै॥
ऐसी रहनी होय ताहि गोविन्द उपदेसै।
बिन बाती बिन तेल अगिन बिन दीया लेसै॥

यह बाते साहस हिला देनेवाली थी, परन्तु उत्साह टूटा नही। मैं कभी-कभी झुँझलाकर यह कह उठता था कि यदि शिष्य यो ही सब गुणोसे सम्पन्न हो तो गुरुकी आवश्यकता ही क्या है। वह हँसकर चुप हो जाते थे।

इस कथाको यही समाप्त करना है। मुझे कभी कोई दीक्षा मिली या नही मिली, उसका क्या परिणाम हुआ, यह सब सार्वजनिक चर्चाका विषय नही है। मैं योग्य, अयोग्य, जैसा कुछ भी था, पर मुझे फिर साधु-महात्माओके यहाँ एक द्वारसे दूसरे द्वार भटकनेकी आवश्यकता नही रही। मुझे मार्ग बतानेवाला, हाथ पकडकर पथपर ले चलनेवाला मिल गया। जीवन बदल गया। सत्यका लहराता सरोवर सामने आया, उसमे अवगाहन करना अब मेरा काम था।

इस मार्गपर एकाकी ही चलना होता है। गुरुका बहुत बडा महत्त्व है। कहा गया है कि 'परमेश्वरसे गुरु बडे', उपनिषद्‌मे भी कहा है:

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन॥

(जिसको ईश्वर और गुरुमे समान रूपसे परा श्रद्धा होगी उसपर ही यह रहस्य प्रकट होगे।)

यह सब ठीक है, गुरुकृपासे ही आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग सुगम होता है, परन्तु अन्ततोगत्वा अपने ही अध्यवसाय, अपनी ही लगनसे

काम चलता है। बुद्धदेवके प्रिय शिष्य आनन्दकी कथा प्रसिद्ध है। बुद्धदेव उनको बहुत मानते थे, इसीके भरोसे आनन्दने विशेष परिश्रम नहीं किया। बुद्धके शरीरत्यागके बाद उनको यतमान होना पडा तब अर्हत् पद प्राप्त हुआ। इसी प्रकार श्रीकृष्णके सखा और कृपापात्र उद्धवको कृष्णसाहचर्यसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हुई। स्वयं श्रीकृष्णने उनको आदेश दिया कि तुम बदरिकाश्रममें जाकर तप करो, तभी कषायोंका नाश होकर आत्मज्ञान प्राप्त होगा।

मैंने 'चिद्विलास'में तथा अन्यत्र भी लिखा है कि ज्ञानका सर्वोपरि साधन, एकमात्र अचूक और असन्दिग्ध साधन, योग है। साधारण अवस्थामें हमारी बुद्धि राग-द्वेषसे कलुषित रहती है। शुद्ध, सम्पूर्ण, ज्ञानकी हमको अपेक्षा भी नहीं है। उससे कष्ट भी हो सकता है। यदि हमारी चक्षुरिन्द्रिय इतनी तेज हो जाय कि हम दूसरोंके शरीरके भीतरकी क्रियाओंको देख सकें तो किसीसे प्रेम करना तो दूर रहा, बात करना कठिन हो जाय। मनुष्यमें ऐसी शक्ति है पर वह अपनी इन्द्रियोंसे पूरा काम नहीं लेता, लेना चाहता भी नहीं। हमारी पुस्तकोंमें तो ऐसी शक्तियोंका चर्चा है ही, आजकल प्रो० राइनके प्रयोगोंके फलस्वरूप ई० एस० पी० (एक्स्ट्रा सेंसरी पर्सेप्शन—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष) पर पाश्चात्य देशोंमें भी विश्वास होने लगा है। योगाभ्यासके समय रागद्वेषादिके आवरण हट जाते हैं और निर्बाध ज्ञान होता है, सत्यका आवरणहीन रूप सामने आता है। अपने अनुभवको कहाँतक व्यक्त किया जा सकता है, यह अनेक बातोंपर निर्भर करता है।

मुझसे लोग कभी-कभी पूछते हैं कि मैं विभूतियों, सिद्धियोंमें विश्वास करता हूँ या नहीं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तिके सामने यह प्रश्न बहुत आता है। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे इसपर विश्वास है। मनुष्य अपार शक्तिका भण्डार है परन्तु वासनाओंने चित्तमें परदे बना रखे हैं, दहकते अंगारेपर राखकी तह बैठ गयी है। ज्यों-ज्यों राख उड़ती है, अभ्यासके बलसे परदे उठते हैं, त्यों-त्यों अंगारेकी छिपी आँच प्रकट

होती है। सिद्धि कहीं बाहरसे नहीं आती, अपनी ही छिपी शक्ति प्रकट होती है। प्रत्येक अभ्यासीको इस बातका अनुभव होगा।

मैंने बार-बार सन्तमतका नाम लिया है। इसे सुरत शब्द योग भी कहते हैं। ब्योरा नहीं दिया जा सकता, यद्यपि इस विषयमें बहुत-कुछ लिखा गया है। इतना ही कहना चाहता हूँ कि यह किसीका आविष्कार नहीं है। सात-आठ सौ वर्षसे निकली कोई नयी चीज नहीं है। प्राचीन-कालसे चली आ रही है। योगके वाङ्मयमें इसकी बराबर चर्चा है। संस्कृतमें इसे नादानुसन्धानके नामसे संकीर्तित किया गया है। उपनिषदों-की सारी उद्गीथविद्याका यही रहस्य है, इसीके लिए कहा गया है:

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यम् चरन्ति, तत्ते पद संग्रहेण ब्रवीमि, ॐ मित्येतत्॥

(सब वेद जिसका वर्णन करते हैं, सब तपस्वी जिसको कहते हैं, जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है, वह पद तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ—वह ॐकार है।)

मेरी ऐसी धारणा है कि योगाभ्यास ही उपासनाका सच्चा मार्ग है। और किसी उपायसे वांछित फल नहीं प्राप्त हो सकता। यह कहना गलत है कि आजकलका मनुष्य इसका अधिकारी नहीं है। बुद्ध, गोरक्ष, भर्तृहरि, कबीर, नानक, रामकृष्ण आदि सब तथोक्त कलियुगमें ही हुए हैं, इनमेंसे कई तो पिछले सात-आठ सौ बरसोंके भीतर ही हुए हैं। आजका मनुष्य किसी बातमें किसी भी दूसरे कालके मनुष्योंसे छोटा नहीं है।



: ४ : १९११ से १९२०

पिछले दस वर्षोंतक हमारा परिवार कौटुम्बिक विपत्तियोंसे मुक्त रहा परन्तु अगले दो दशकोंमे तावडतोड कई मृत्युएँ हुईं। जिन दस बरसोंका इस अध्यायमें चर्चा है उनमे १९१८ मे मेरे पिताका देहान्त हुआ। मैं उन दिनो बीकानेरमें था। बीमारीका तार पाकर आया, मृत्युके पहिले चार-पाँच घण्टे उनके साथ रह सका। मेरी गोदमें सिर रखे हुए उन्होने शरीर छोडा। उस समय उनकी अवस्था ५२ वर्षकी थी। घरकी आय प्रायः आधी हो गयी और गृहस्थीका सारा भार मेरे ऊपर आ पडा।

जैसा कि पहिले कह चुका हूँ, मैं यह सकल्प कर चुका था कि सरकारी नौकरी नही करूँगा। घरमे न इतना रुपया था कि कोई व्यवसाय कर सकता, न आगे पढनेका प्रबन्ध हो सका। मैंने काशीके लन्दन मिशन स्कूलमें अध्यापकका काम ले लिया। सालभर बाद वृन्दावनके प्रेम महाविद्यालयमें चला आया। इसके सस्थापक ख्यातनामा राजा महेन्द्र-प्रताप थे। उन्होने छ लाखकी सम्पत्ति इसके लिए न्यस्त कर दी थी। सस्थामें साधारण शिक्षाके साथ-साथ कोई-न-कोई हाथका काम सबके लिए अनिवार्य था। सरकारसे सहायता नही ली जाती थी। राजा साहब स्वय तो वहाँ कम ही रहते थे, प्रबन्ध दूसरोंके हाथमें था। इनमे एक सज्जन बडे कट्टर आर्यसमाजी थे। उनकी जिदमे ही पहिले-पहिले मैंने नित्य तिलक लगाना आरम्भ किया था। वहाँ एक साल रहकर मैं फिर काशी आ गया और अपने पुराने हरिश्चन्द्र स्कूलमे अध्यापक हो गया।

उन दिनो पण्डित रामनारायण मिश्र हेडमास्टर थे। इनके कारण स्कूलकी विशेष प्रतिष्ठा थी। एक साल यहाँ रहकर मै टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, इलाहाबाद,मे भर्ती हुआ और वहाँसे एल० टी० की उपाधि ली। उन दिनो इलाहाबाद विश्वविद्यालय इस डिग्रीको प्रदान करता था। अब यह बन्द हो गया। कॉलेजके प्रिंसिपल, श्री मैकेन्जी, मुझे बहुत मानते थे। उनकी सिफारिशसे मैं इन्दौरके डेली कॉलेजमे अध्यापक नियुक्त हुआ। किसी समय मध्यभारतके राज्योके लिए सर ह्यू डेली गवर्नर जनरलके एजेण्ट थे। उन्हींके नामपर कॉलेजका नाम पडा था।

इस सस्थाकी अपनी कई विशेषताएँ थी। मध्यभारतके राजकुमारो तथा सरदारो और जागीरदारोके लडकोके लिए खुला था। पचासके लगभग छात्र थे, सत्रह अध्यापक थे जिसमे प्रिंसिपलके सिवाय तीन और अग्रज थे। प्रिसिपल श्री हाइड अपने ढगके निराले मनुष्य थे। लडकोमे बहुत ही कडा अनुशासन रखते थे। कॉलेजमे लडकोको अचकन, पाजामा, देशी जूता और साफा या पगडी पहनकर आना होता था। जूता उतार कर अध्यापकोके कमरेमे जाने पाते थे। एक बार दफ्तरके एक क्लर्कने अध्यापकोंके लिए आया हुआ समाचारपत्र खोल लिया। श्री हाइडकी दृष्टि पड गयी। आगे-आगे वह क्लर्क, उसके पीछे प्रिसिपल और उनके पीछे चपरासी, इस प्रकारका जलूस अध्यापकोके कमरेमे पहुँचा। वहाँ श्री हाइडने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया : क्लर्क और चपरासीमे कोई अन्तर नही होता, क्लर्क अध्यापकोके समाचारपत्रको नही छू सकता। इसके बाद उसी क्रमसे जलूस लौट गया।

प्रिसिपल महोदयके शिक्षा-सम्बन्धी कुछ विचित्र विचार थे जो मेरे जैसे लोगोको, जो ट्रेनिग कॉलेजमे शिक्षाशास्त्र पढ चुके थे, बहुत ही बेढगे लगते थे। सीधे-सीधे शब्दोके लम्बे-लम्बे अर्थ बताना उनको ठीक जॅचता था। 'टु रीड' का अर्थ 'पढना' नहीं था वरन् 'किसी चिह्नको देखना और वह आवाज करना जिसका वह चिह्न प्रतीक है' था। परन्तु ऐसे पागलपनमें मैं उनसे भी बाजी ले गया। एक बार उन्होने दो-तीन

अध्यापकोंको, जिनमें मैं भी था, बुलाया और इधर-उधरकी बात करते-करते यह पूछ बैठे कि आप लड़कोंको 'डोर' (किवाड़)का अर्थ कैसे समझायेंगे। सीधा उत्तर तो यह है कि 'किवाड़' कह देनेसे लड़का समझ जायगा। बहुत होगा तो कमरेका किवाड़ दिखला देंगे। परन्तु ह्वाइट साहबकी दुनियामें इससे कहाँ काम चलना था। मेरे और साथी तो कुछ सोच न पाये। मैंने जो परिभाषा दी उसका हिन्दी अनुवाद यह है : 'सब ओरसे घिरी जगहको कोठरी कहते हैं। भीतर आने और बाहर जानेके लिए, कोठरीकी किसी दीवारमें जो छेद किया जाता है उसे द्वार (अंग्रेजीमें 'डोर वे') कहते हैं। द्वारको जिस चीजसे खोलते और बन्द करते हैं उसे किवाड़ (डोर) कहते हैं।' प्रत्येक समझदार इस परिभाषापर हँसेगा और कोई भी अध्यापक लड़कोंके सामने ऐसी बेवकूफीकी बात न करेगा, परन्तु हमारे प्रिंसिपल महोदय मेरी योग्यतापर खिल उठे।

इस कॉलेजमें सामाजिक अध्ययनकी प्रभूत सामग्री थी। प्रिंसिपल बहुत कड़ाई बरतते थे : बड़े राजा और छोटे जागीरदारमें यथासम्भव भेदभाव बचाते थे, परन्तु भेद तो थे ही। छोटे जागीरदार बड़े नरेशोंके लड़कोंकी खुशामद करते थे और अपनेसे छोटोंसे अभिमानपूर्ण व्यवहार करते थे। भीतर-भीतर राजपूत और मराठाकी अनबन काम करती थी। क्लासमें जो देशी ढंगका वस्त्र पहिनना पड़ता था उसकी प्रतिक्रिया यह होती थी कि जरा-सा अवसर मिलते ही कोट-पतलून निकलता था। राजा-नवाब अंग्रेज सरकारके समर्थक तो थे ही परन्तु हृदयसे प्रसन्न नहीं थे। हमारे कुछ छात्र कभी-कभी कहते थे कि हम तो यह चाहते हैं कि यदि स्वराज्य हो जाय तो हमारा राज इंग्लैण्डपर हो जाय और मुझको अंग्रेज नरेशके दरबारका रेजिडेण्ट बना दिया जाय। फिर मैं उस सारे अपमानका बदला निकाल लूँगा जो हम लोगोंको अंग्रेज रेजिडेण्टोंके हाथों सहना पड़ता है।

इन्दौरमें मेरा परिचय प्रसिद्ध पत्रकार और प्रवासी भारतवासियोंकी समस्याके विशेषज्ञ पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदीसे हुआ। यह कॉलेजमें

हिन्दीके अध्यापक थे। लडकोंमे बहुत प्रिय थे। चतुर्वेदीजी हिन्दी और अग्रेजी दोनो बहुत अच्छी लिखते हैं, पर वह जब प्रिंसिपलसे पहिली बार मिले तो उनसे एक गलती हो गयी। श्री हाइडने पूछा, 'आप कब आये ?' उत्तरमे चतुर्वेदीजी कह गये, 'आइ केम हियर टुमारो' (आनेवाला कल)। फिर याद आया कि यह तो भूल हुई। तत्काल ठीक किया, 'आइ मीन यस्टर्डे, यस्टर्डे, यस्टर्डे' (मेरा तात्पर्य गत कलसे है।) बात बहुत छोटी-सी थी। परन्तु हाइड साहबने समझ लिया कि यह बडे भोले आदमी है। चतुर्वेदीजी इस बातका सदा अनुचित लाभ उठाते रहे। मिस्टर हाइड उनके सौ खून भी माफ करनेको तैयार रहते थे। हम विवश थे, उनके भोलेपनका भण्डाफोड कर नही सकते थे।

मेरे इन्दौरके निवासकालमे वहाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलनका अष्टम अधिवेशन हुआ। मै प्रदर्शनी-विभागका अध्यक्ष था और पण्डित बनारसी-दासजी मन्त्री थे। १९०५ के काग्रेस अधिवेशनके बाद इतने बडे समारोहमें सम्मिलित होनेका मेरा पहिला ही अवसर था। उसी मौकेपर मुझसे श्री पुरुषोत्तमदास टण्डनसे परिचय हुआ। अधिवेशन हर दृष्टिसे सफल रहा परन्तु उसकी सफलताका सबसे बडा श्रेय महात्मा गान्धीको था। उन दिनो वह महात्मा नही कहलाते थे। उनकी ख्याति फैल चुकी थी, पर दर्शन करनेका वह पहिला ही अवसर था। दक्षिण अफ्रीकामे उनके यशस्वी कामोका चर्चा सर्वत्र था, उनकी उपस्थिति बहुत लोगोको खीच लायी थी।

तीन साल इन्दौर रहनेके बाद मै डूॅगर कॉलेजका हेडमास्टर हो गया। बीकानेर गया। यह बडी शिक्षासस्था थी। इसमे एक हजारसे ऊपर विद्यार्थी पढते थे। साधारण पढाईके अतिरिक्त कानूनका भी क्लास था। कानूनकी पढाई हिन्दीमे होती थी।

राजस्थानके मानदण्डसे बीकानेर बहुत ही प्रगतिशील राज्य था। उसके नरेश महाराजा गगासिंहने सार्वजनिक जीवनमे अपने लिए जगह बना ली थी। अग्रेजी अच्छी बोलते थे। राज्यका शासन मन्त्रिमण्डलके

परामर्शसे होता था, महाराजा स्वय उसके अध्यक्ष थे। उसके सबसे योग्य सदस्य गृहमन्त्री रायबहादुर मु० कामताप्रसाद और मालमन्त्री श्री रडकिन थे। मुं० कामताप्रसाद बनारस जिलेके रहनेवाले थे। श्री रडकिन पंजाबके सिविलियन थे और उस प्रदेशकी सरकारसे ऋणस्वरूप लिये गये थे। विधानसभा भी थी। उसके सदस्योको प्रश्न पूछनेका अधिकार था, जो उस समय केन्द्रीय कौंसिलके सदस्योको नही था। महाराजा साहब बराबर इस बातको कहते रहते थे। बजट अधिवेशनके अवसरपर कई अंग्रेजी समाचारपत्रो—जैसे टाइम्स ऑव इण्डिया, पायोनियर, स्टेट्समैन—के सम्पादक बुला लिये जाते थे। दो-तीन दिन राजके अतिथि रहते और विधानसभाकी काररवाईका तमाशा देखते, फिर जाकर बीकानेरके उदार शासनपर अग्रलेख लिखते। मैने तमाशा शब्द जान बूझकर लिखा है। लोकतन्त्रके नाटकमे बडी पोल थी। सदस्योंको जो प्रश्न पूछने थे वह उनको बहुधा सुझाये जाते थे और बजटकी जो आलोचना करनी थी वह भी बता दी जाती थी। एक बार एक सदस्यने, जिनका कलकत्तेमे बडा कारबार था, मुझसे कहा था, 'यदि हमको स्वतन्त्रता हो तो इस बजटके चिथडे उडा सकते हैं।' जबतक मै वहॉ रहा, महाराजा साहब और वित्तमन्त्रीके अंग्रेजी भाषणोका हिन्दी अनुवाद मुझे ही करना होता था। जहॉतक महाराजाकी बात है, वह न हिन्दी पढते थे, न अंग्रेजी: वह मूल अंग्रेजीका मारवाडीमे तात्कालिक अनुवाद करके बोलते जाते थे।

बीकानेरमे कई विलक्षण सामाजिक बाते सामने आयी, व्यवस्थापक सभाके एक सदस्यकी मृत्यु हो गयी। मुझसे शोक प्रस्ताव बनानेको कहा गया। मैंने उनके नामके आगे स्वर्गीय लिखा। बताया गया कि स्वर्गीय राजवंशके लिए ही लिखा जा सकता है। दिवंगतमे भी आपत्ति हुई। अन्तमे परलोकवासीसे काम चला। स्यात् उन दिनो राजस्थानमे राज-कुलोंके सिवाय और किसीको स्वर्ग जानेका अधिकार नहीं था। सिद्धान्ततः वर्णव्यवस्थामे ब्राह्मणका चाहे जो स्थान हो, परन्तु व्यवहारमें राजपूत ही सबसे बडा माना जाता था। जो लोग बीकानेर-निवासी नहीं थे वह

परदेसी कहलाते थे। उनसे सबसे ही जलन थी। कुछ परदेसी राजसेवामे थे। सभी चाहते थे कि यह लोग निकाल दिये जायँ। फलस्वरूप परदेसियोमे भी बडा एका था। सब एक-दूसरेके साथ बँधे रहते थे।

१९२० मे एक ऐसी घटना घटी जिसने फलित ज्योतिषकी महत्ताकी ओर मेरा ध्यान बलपूर्वक आकृष्ट किया। वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड बीकानेर आये हुए थे। वे शिकारके लिए गये। उनके परराष्ट्र सचिव श्री वुडने हिरनपर गोली चलायी। वह बहक कर युवराज, महाराजकुमार शार्दूलसिहकी बॉहमे लग गयी। घाव गहिरा नही था, महाराजकुमारने घबराहटके कोई चिह्न नही दिखलाये, परन्तु स्वभावतः वाइसराय और उनके साथी बहुत लज्जित हुए। अस्तु, वाइसराय चले गये। राज्यमे चारो ओर उत्सव मनाये गये। बात समाप्त हो गयी, ऐसा प्रतीत हुआ।

पर ऐसा हुआ नही। महाराजा साहबको ज्योतिषपर अटूट श्रद्धा थी। उनका सबसे अधिक विश्वास तो काशीके महामहोपाध्याय पण्डित अयोध्यानाथजीपर था परन्तु अयोध्यानाथजी वहॉ बराबर रह नही सकते थे, उन्होंने अपने शिष्य पण्डित विष्णुदत्त ओझाको रख दिया था। इनका मुख्य काम महाराजा और उनके लडकोका वर्षफल बनाना और वर्षमे आनेवाली विपत्तियोके निवारणार्थ पूजा-पाठ कराना था। वर्षफलकी एक प्रति महाराजा अपने पास रखते थे। ज्योतिषीजीको स्थानीय ब्राह्मणो-पर बहुत विश्वास नही था, इसलिए वह उत्तरप्रदेश और बिहारसे पूजा करनेके लिए ब्राह्मण ले गये थे। जिस कामके लिए जो पूजा होती थी उसे रजिस्टरमे लिखना पड़ता था।

लार्ड चेम्सफोर्डके जानेके कुछ काल पीछे यह प्रश्न उठाया गया। महाराजाके कान भरे गये कि महाराजकुमारको गोली लग गयी और ज्योतिषीजीने इसके सम्बन्धमे कुछ नही किया। इसके निर्णयके लिए दिन नियत हुआ। हम सभी परदेसी चिन्तित थे। किसी भी परदेसीके काममे दोष पाया जाना सब परदेसियोके लिए एक प्रकारसे जीवनमरणका प्रश्न था। परन्तु स्वय पण्डितजी जरा भी चिन्तित नही थे। वह हम

लोगोंको भी आश्वासन देते जाते थे। कुछ समझमे नहीं आता था कि यह क्यों इतने दृढ है। नियत दिन आया। पण्डितजीने महाराजा साहबसे महाराजकुमारके वर्षफलकी प्रति अपने पाससे निकालनेको कहा। उसमे स्पष्ट लिखा था, अमुक तारीखको इतने बजे महाराजकुमार साहबको अग्निसे भय है। तारीख और समय बिल्कुल ठीक। तब उन्होने कहा, 'यदि कोई किसी प्राचीन पुस्तकमे बन्दूकका नाम दिखला दे तो मैं आजसे ज्योतिषका काम करना छोड दूँ।' सब निरुत्तर हो गये। फिर उन्होने अपना रजिस्टर खोलकर दिखला दिया कि इस भयके निवारणके लिए क्या अनुष्ठान किया जा रहा था। महाराजा साहबने माना कि इससे अधिक कोई ज्योतिषी नही कह सकता। वस्तुतः यह फलित ज्योतिषका बहुत बडा चमत्कार था। पण्डितजीकी विजय तो हुई ही, हम सब परदेसियोकी प्रतिष्ठा रह गयी।

राजस्थानका भारतमे विशेष स्थान है। यहाँ ऐसे दृश्य, ऐसी रीतियाँ, ऐसी परम्पराएँ सुरक्षित है जिनका अन्यत्र लोप हो गया है। किसी-किसीके पीछे बडे रोचक इतिहास या अर्द्धैतिहासिक कहानियाँ हैं। बीकानेरमे प्रचलित एक रिवाज मुझे बहुत पसन्द आया। कहते है कि औरगजेबने एक बार अफगानिस्तानपर आक्रमण किया। अटक नदीके पास पहुँचनेपर एक मुसलमान फकीरने यह सूचना दी कि नदी पार होनेपर आप लोग भारतसे अलग हो जायँगे और बलात् मुसलमान बना लिये जायँगे। हिन्दू राजे घबराये। उन्होंने इस बहाने पार जाना स्थगित कर दिया कि महाराजा जयपुरकी माताका देहान्त हो गया है। सूतक छूटनेपर आवेगे। मुगल सेना पार उतर गयी। अब यह तय हुआ कि नावोको नष्ट कर दिया जाय ताकि मुगलोको लौटनेमे कठिनाई हो। तबतक हम लोग अपने-अपने घर लौट चले। परन्तु औरगजेब निश्चय ही बदला लेगा। जो नेता बनेगा सबसे पहिले उसीको युद्धके लिए तैयार होना पडेगा। बीकानेर दुर्गम था, इसलिए महाराजा बीकानेर, कर्णसिह, से प्रार्थना की गयी कि आप नेतृत्व कीजिये। उन्होने इस शर्तपर स्वीकार किया कि सब

नरेश मुझे सलामी दे। वह रेतके एक टीलेपर बैठ गये और सबने 'जय जगत्धर बादशाह' कहकर उनको नजर दिया। फिर पहिले एक नावपर उन्होंने कुल्हाडा चलाया। बातकी बातमे सब नावे तोड डाली गयी। कुछ कालमे मुगल सेना लौटी। बीकानेरपर आक्रमण हुआ। कुछ दिन युद्ध चला, फिर औरगजेबका ध्यान दक्षिणकी ओर खिच गया और यह लडाई बन्द हो गयी। जिस फकीरने यह समाचार दिया था उसके और उसके वशजोके लिए पीढी-दर-पीढीके लिए राज्यके प्रत्येक घरसे सालमे एक बार एक रोटी और एक पैसा मिला करे, मेरे समयतक यह बात थी। वह लोग रुपयेवाले थे, बहुत-से नौकर थे। पता नही राज्योके विलीनीकरणके बाद यह प्रथा रह गयी या बन्द हो गयी।

मै इन दस बरसोमे जीविकाके लिए कई जगह घूमता फिरा। प्रायः एक-एक वर्ष ही रहा, कही तीन सालसे अधिक नही टिका। यह बात देखनेमे तो अच्छी नही लगती परन्तु मुझे तो बहुत लाभ हुआ। राजस्थान और मध्यभारतमे रहकर देशी राज्योकी रूपरेखा देखी, बीकानेरमे स्वय एक बडे राज्यके शासनका अग बना। साधारण घरोके लडकोको पढाया, राजा-नवाबोके लडकोको पढाया, उनकी मनोवृत्ति देखी। भारतकी मौलिक एकता और गहिरी अनेकताका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। यह शिक्षा आगेके सार्वजनिक जीवनमे मेरे काम आयी।

इसी दशकमे मैने साहित्यके क्षेत्रमे पॉव रखा। मेरी पहिली पुस्तक 'धर्मवीर गान्धी' थी। इसके तीन सस्करण निकले। इसकी सारी आय उस कोषमे दी गयी जो गान्धीजीके दक्षिणी अफ्रीका आन्दोलनके लिए एकत्र किया गया था। और भी कई पुस्तकें निकली। नागरीप्रचारिणी सभाकी मनोरजन पुस्तकमालामे 'भौतिक विज्ञान' और 'ज्योतिर्विनोद', तथा 'महाराजा छत्रसाल', 'महादजी शिदे' और 'भारतके देशी राष्ट्र' भी इन्ही दिनो लिखे गये। मैने समाचारपत्रोमे भी लिखना आरम्भ किया। साहित्यके द्वारा ही मेरा स्व० गणेशशकर विद्यार्थी तथा पण्डित श्रीकृष्णदत्त पालीवालसे परिचय हुआ। मै तभीसे विद्यार्थीजीके यहॉ

प्रताप प्रेसमे ठहरने लगा। इन्दौर, और उसमें भी बढ़कर बीकानेरमें रह-कर राजनीतिक विषयोपर लिखना सरल नहीं था। राज्यके कोपका भाजन बनना हो सकता था। बीकानेरमें एकाध बार मेरे ऊपर सन्देह हो चुका था, इसकी मुझे सूचना मिल चुकी थी। इसलिए मैं कल्पित नामोसे लिखा करता था। इनमे दो, 'कापालिक' और 'मुखाखिल'से अधिक काम लेता था। पत्रोको डाकमें छोड़नेमे भी सतर्कता बरतनी पडती थी। सीधे बीकानेरमे तो ऐसी चीज डाकमे नहीं ही डाली जा सकती थी।



: ५ : कांग्रेसकी सदस्यता

जो दशक पिछले अध्यायका विषय था उसमे ऐसी बाते हुई जिन्होने सभ्यता और सस्कृतिकी जड हिला दी, इतिहासके प्रवाहकी दिशा बदल दी। सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। उसकी ज्वालामे बडे-बडे साम्राज्य भस्म हो गये। कई सौ वर्षोंतक अरब जाति तुर्कोंके अधीन रही थी। अरब और तुर्क दोनो ही मुसलमान, सुन्नी मुसलमान थे, परन्तु आपसमे प्रेम नहीं था, विजेता और विजितमे प्रेम होता ही नही। तुर्क साम्राज्य समाप्त हो गया, अरब स्वतन्त्र हो गये। तुर्कोंका राज्य बच गया, परन्तु बहुत छोटा रह गया। आस्ट्रिया-हगरीका साम्राज्य भी खत्म हो गया। आस्ट्रिया और हगरी दो छोटे-छोटे पृथक् राज्य निकल आये और जो देश उनके अधीन थे वह मुक्त हो गये। लगभग चार सौ वर्षोंसे जेकोस्लोवाकिया इस साम्राज्यमे पडा तडप रहा था। उसका अस्तित्व मिट-सा रहा था। उसके दिन लौटे, स्वतन्त्र हो गया। डेढ सौ वर्षसे पोलैण्ड गुलाम था। उसे छिन्न-भिन्न कर दिया गया था। रूस, जर्मनी और आस्ट्रियाने उसे आपसमे बॉट लिया था। अब तीनो टुकडे फिर मिल गये और स्वतन्त्र पोलैण्डका पुनः जन्म हुआ। जर्मनी परतन्त्र हो गया। आयरलैण्ड स्वतन्त्र तो नही हो पाया परन्तु अग्रेजोके चगुलसे निकल जानेका प्रयास पहिलेसे कही सबल हो गया था। कितने मनुष्य मरे, कितने घायल हुए, कितनी सम्पत्ति नष्ट हुई, इसका ठीक-ठीक हिसाब लगाना कठिन है। इतने नर-नारी विस्थापित हुए कि उनके

पुनर्वासकी समस्याको यूरोपियन राष्ट्र बहुत दिनोतक नहीं सुलझा पाये।

परन्तु सबसे बडा परिवर्तन रूसमें हुआ। केवल इतना ही नहीं कि साम्राज्य गया, साम्राज्यका नाम जानेपर भी जो कुछ बचा वह इतना विशाल था कि उसमें कई साम्राज्य समा सकते थे, वरन् सम्राट्‌वशका उच्छेद कर दिया गया, एक प्रकारके लोकतन्त्रने उसकी जगह ली। सविधान तो अभी बना नहीं था, पर शासनका स्वरूप, जहाँतक समझमें आता था, अनूठा था। बातकी बातमें कल-कारखानो, खेतो, बकोपरसे निजी स्वत्व उठ गया, न्यायालयोका ढाँचा बदल गया। कुछ थोडी-सी बातें ही ज्ञात थीं। रूसवालोने नहीं, यूरोपकी अन्य सरकारोने परदा डाल रखा था। समाचार आने ही नहीं पाते थे। उनको डर था कि यह रोग हमारे यहाँ न फैल जाय। रूसी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट थे, परन्तु बहुत दिनोतक सुपठित लोगोको भी कम्युनिज्मके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं था।

भारतमें समाचारोका पहुँचना कठिन था। वह रुसियोके विरुद्ध ही होता था। दो बातोका बहुत प्रचार था। एक तो यह कि रूसमें स्त्रियाँ राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दी गयी है, दूसरी यह कि कम्युनिस्ट धर्मके कट्टर शत्रु है। पहिली बात तो सर्वथा निराधार थी ही। दूसरी सच्च थी। धीरे-धीरे यहाँ भी झूठे प्रचारका भेद खुलने लगा। यह सबने देखा कि अमेरिका और उसके साथ यूरोपके सभी बडे राष्ट्र, रूसका विरोध कर रहे है। यह सब राष्ट्र पूँजीवादी है और साम्राज्यशाहीके समर्थक है। इसका भी अनुभव था। अतः रूस किसी-न-किसी प्रकार साम्राज्यशाहीका शत्रु है। यह बात समझमें आने लगी। जिस वीरतासे रूसकी सरकार भीतरी और बाहरी शत्रुओंका सामना कर रही थी उसको देखकर स्वभावतः उसके प्रति आदर और सहानुभूतिका भाव उत्पन्न होता था।

मारे उत्तरी अफ्रीका और दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशियामें अशान्ति व्याप्त थी। राष्ट्रीय भावना उबल रही थी। भारतमें पहिलेसे भी पर्याप्त जागृति थी। काग्रसका कई दशकोका इतिहास था, कई आन्दोलनोकी

स्मृति थी, इच्छाभिघातका क्रोध था। स्वभावतः यहाँ राष्ट्रीय भावनाके लिए उपयुक्त भूमिका थी। भारतीय सिपाही युद्धमे यूरोपवालोंसे लड चुके थे, अंग्रेजोंका लड़ना देख चुके थे, उनके हृदयोपरसे गोरोकी अजेयता-की छाप मिट चुकी थी। युद्धकालमें बहुत-से भारतीय अफसर बनाये गये थे, यह खयाल भी जाता रहा था कि भारतीय आधुनिक सेनाओंका सचालन नहीं कर सकते। भारतीयोको दृढ विश्वास था कि हम अपने देशका शासन कर सकते है। अंग्रेजोने कुछ कालके लिए मुसलिम लीगको प्रोत्साहन देकर आपसमे मनमुटाव पैदा कर दिया, मुसलमानोको ओरोसे अलग कर दिया। परन्तु ऐसे हथकण्डोसे बहुत दिनोतक काम नहीं चलता। मिण्टो-मारले सुधार योजनासे किसीको भी सन्तोष नहीं हुआ। बहुत लोग आशा लगाये बैठे थे कि युद्धके बाद पूर्ण स्वराज्य न सही, हम स्वशासनके मार्गपर बहुत दूर बढ सकेंगे। इन आशाओपर पानी फिर गया। सन् १९१६ मे लखनऊमे कांग्रेस और मुसलिम लीगमे समझौता हो गया और फिर सारी राष्ट्रीय शक्तियाँ एकत्र हो गयी।

यह नहीं कह सकते कि अंग्रेजोने कुछ नही किया। युद्धके समाप्त होते-होते माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना सामने आयी। यह मिण्टो-मारले योजनासे अच्छी थी, परन्तु देरमें आयी। सम्भव है दस साल पहिले लोग उसमे सन्तुष्ट हो जाते, पर अब कोई उसे माननेको तैयार नही था। साम्राज्यवादियोका यह बडा भारी दुर्भाग्य है कि वह समयपर यथार्थ निश्चय नही कर सकते। उनको इतिहास कुछ सिखाता ही नही। उनकी कुछ ऐसी धारणा होती है कि चाहे इसके पहिलेके साम्राज्योसे भूल हुई हो पर हम निबाह ले जायँगे। सम्भवतः अंग्रेजोका यह भी खयाल रहा होगा कि काले-बादामी-पीले मनुष्य गोरोकी भाँति पुरुषार्थी नही हो सकते। यह कुछ कर न सकेंगे। बहरहाल, भारतीय जनमतको सन्तुष्ट करनेका कोई समुचित प्रयत्न नही किया गया। देशमे ऐसे भी लोग थे जिनकी यह राय थी कि माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना अच्छी-बुरी जैसी भी है उससे काम लिया जाय, परन्तु राष्ट्रवादियोका बहुमत उसको स्वीकार

करनेको तैयार नही था।

परिस्थिति बिगडती ही गयी। 'स्वाधीनता धीरे-धीरे मिलती है, उसके लिए अनुभव और योग्यता अर्जित करनी चाहिये' यह बात उन लोगोको अच्छी लग सकती थी जो लिबरल कहलाते थे, जो इग्लैण्डके लिबरल दलके आचार्यों और नेताओको—मिल, ग्लैड्स्टन, मारलेको अपना आदर्श और पथप्रदर्शक मानते थे। इन लोगोकी रायमे परतन्त्र भारतका राजनीतिक विकास स्वतन्त्र इग्लैण्डके साँचेमे ढाला जा सकता था। परन्तु देशकी आत्मा इसके बहुत आगे बढ गयी थी। बहुत-से युवकोको सशस्त्र क्रान्तिके सिवाय और कोई मार्ग नही देख पडता था। कोई इनके विचारो और कार्यशैलियोसे सहमत हो या न हो, परन्तु इनकी त्यागवृत्ति, देशभक्ति और वीरताका लोहा तो मानना ही पडता है। भारतीय गुप्तचर इनका पीछा करते थे। भारतीय पुलिस इनको गिरफ्तार करती थी, बहुधा भारतीय मजिस्ट्रेट और जज इनको दण्ड देते थे। गुलाम देशमे ऐसा ही होता है, परन्तु ऐसे नररत्नोके रक्तसे ही स्वतन्त्रताकी देवीके मन्दिरकी नीव सुदृढ होती है।

अग्रेज सरकारने बुद्धिको तिलाजलि दे दी थी। उन्होंने उसी शस्त्रको उठाया जिसका असफल प्रयोग सभी तानाशाही शासन करते आये है। दमनका सहारा लिया गया। उस जमानेका काला इतिहास सभी जानते है, विस्तारसे वर्णन करनेकी आवश्यकता नही है। पहिले रौलट ऐक्ट और फिर जलियानवाला बागमें निरीह मनुष्योका नरमेध। यह ऐसा कसाईपनका काम था जो सिपाहियोके हाथसे नही होना चाहिये था। जनरल डायरकी आज्ञासे यह नृशस काम हुआ। उधर पजाबके गवर्नर सर माइकेल ओ ड्वायरने यह बीडा उठाया था कि मै भारतीयोको वह सबक पढाऊँगा जिसे वह कभी न भूलेगे।

डायर और ओ ड्वायरको सफलता मिली, ऐसी सफलता जिसका उन्होंने स्वप्न भी न देखा होगा। वह गली जिसमेसे हर भारतीयको पेटके बल रेगकर जाना होता था, जलियानवाला बागका हत्याकाण्ड,

नागरिकोको सडकोपर कोडे लगवाना, इन बातोने सचमुच भारतीयोको वह सबक सिखाया जिसे वह कभी भूल नही सकते ! राष्ट्रको आजतक ऐसा अपमान नही सहना पडा था । अग्रेजी राज्य तो बहुत दिनोसे था परन्तु विदेशी शासनका शुद्ध रूप, गुलामीका नगा नाच, पहिली बार देखनेको मिला था । यह घटनाएँ हुई तो पजाबमे, परन्तु सारा राष्ट्र हिल उठा । राष्ट्रकी आत्मा तिलमिला उठी । अग्रेजी शासनने सचमुच अपनी कब्र खोद ली ।

सबसे पहिले लोकमान्य तिलकने यह उद्घोष किया था 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' । वह उन नेताओमे प्रमुख थे जिन्होने हमारी राजनीतिको नयी मोड दी । उनके पहिले लिबरल विचारोका बोलबाला था, जिनका सार यह था कि हमको अग्रेजोके सामने 'भिक्षा देहि'की मुद्रामे खडे रहना चाहिये, अग्रेजोको उनकी सहज उदारताकी याद दिलाते रहना चाहिये । तिलकने हमको बतलाया कि यह नीति बहुत दूरतक नही ले जा सकती । यदि हमको सचमुच अपने देशका शासन अपने हाथमे लेना है तो स्वराजको अपना अधिकार मानकर उसके लिए लडना होगा, त्याग करना होगा, कष्ट सहना होगा । हम अपने नैसर्गिक अधिकारको उनकी उदारता और दयापर नही छोड सकते । उनका देहान्त हो गया था । अगस्त १९२० मे उनकी इहलीला समाप्त हो गयी ।

ऐसा लगा कि उनकी जगह भरी न जायगी । परन्तु देशके प्रारब्ध अच्छे थे । महात्मा गान्धीने उनकी जगह ली । तिलकको उनसे अच्छा उत्तराधिकारी नही मिल सकता था । गान्धीजी अपनेको गोखलेका शिष्य कहते थे । इससे उनका जो कुछ भी अभिप्राय रहा हो, परन्तु उनकी कार्य-शैली उससे नितान्त भिन्न थी जिसका पालन गोखलेने किया था । यह असम्भव नही है कि जिस परिस्थितिका सामना गान्धीजीको करना पडा उसमे गोखले भी उसी नीतिको अपनाते । गोखले प्रमुख लिबरल नेताओ-मे अन्तिम थे : गान्धीजी हमारे प्रथम और अन्तिम सत्याग्रही नेता थे ।

दक्षिण अफ्रीकाके आन्दोलनमे गान्धीजीने अक्षय कीर्ति अर्जित की

थी। शत्रु भी उनके चरित्रपर उँगली नही उठा सकता था। सरकारके विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था, परन्तु जूलू युद्ध छिड़नेपर गान्धीजीने आन्दोलनको स्थगित कर दिया और स्वय सिपाहियोकी सेवा-शुश्रूषा करनेवालोमे भरती हुए। इस एहसानको न मानना सरकारके लिए सम्भव नही था। उसको झुकना ही पडा। यह पहिला अवसर था जबकि भारतीयोने दक्षिण अफ्रीकाके गोरोके विरुद्ध सिर उठाया और निःशस्त्र पुरुषों और स्त्रियोने पुलिस और सेनाका सामना करनेका साहस दिखलाया।

उनके स्वदेश लौटनेपर सभीकी आँखें उनकी ओर उठीं। वह काग्रेसमे सम्मिलित भी नहीं हुए थे कि लोगोको यह विश्वास हो गया कि यही व्यक्ति देशका भावी नेता होगा। काग्रेस ही ऐसी सस्था थी जिससे आशा की जा सकती थी कि वह देशको स्वाधीनता दिलानेका काम अपने हाथमे लेगी। उसके पीछे तीस सालसे ऊपरका इतिहास था, परन्तु उसका नेतृत्व लिबरलोके हाथमे था और उनको एक ही बात आती थी : गोली चले या राष्ट्रीय अपमान हो, स्वराजके स्थानमे पत्थर मिले, चाहे जो हो, तुम स्थान-स्थानपर सभा करो और सरकारके पास आवेदन-पत्र भेजो तथा ब्रिटिश जनताको भारतकी परिस्थिति समझाओ। यह बातें अब लोगोके गले नहीं उतरती थीं। श्रीमती एनी बेसेण्टने होमरूल आन्दोलन चलाया पर वह भी निर्जीव रहा, क्योकि उसकी नीतिमे भी कोई जोर नहीं था। लिबरल ढंगकी कार्यशैलीमे सबसे बडी दुर्बलता यह थी कि उसमे सामान्य जनताके लिए कोई स्थान नहीं था। जो कुछ करना था वह थोडे-से पढे-लिखे लोगोके लिए था। बड़े शहरोमे या काग्रेसके मञ्चपर अग्रेजीमे भाषण और बस। उस समयके नेतृत्वका जिक्र इस शेरमे बहुत अच्छा खिंचता है :

कौमके गममें डिनर खाते हैं हुक्कामके साथ।
रंज लीडरको बहुत है मगर आरामके साथ॥

महात्माजीके विचार अभी पूरी तरहसे सबको ज्ञात नहीं थे, उनकी नीति

भी स्पष्ट नहीं थी, परन्तु अफ्रीकामे जो काम हुआ था उसको देखकर इतना तो अनुमान होता था कि वह सरकारका किसी-न-किसी प्रकार सक्रिय विरोध करेगे और उनकी विरोधप्रणालीमे सारी जनताके लिए काम होगा। लिबरल नेता इस बातसे घबराते थे। इतिहासमे तो देशोको स्वाधीनता सशस्त्र विद्रोहके द्वारा ही मिली थी, और कोई दूसरा उपाय देखा-सुना नही गया। परन्तु हमारे यहाँ सशस्त्र विद्रोहकी सामग्री नही थी, कांग्रेस या कोई दूसरी संस्था खुलकर इसकी तैयारी कर भी नहीं रही थी। इसमे कोई सन्देह नही कि तर्क लिबरलोके पक्षमें था। परन्तु वैयक्तिक और सामूहिक जीवनमे महत्त्वपूर्ण काम तर्कको उपेक्षा करके ही होते है। त्याग और आत्मबलि तर्कका आश्रय नहीं लेते, श्रद्धा और विश्वास तथा आत्मनिष्ठाके ऊपर टिके होते है।

लिबरलोके अतिरिक्त और भी ऐसे लोग थे जो महात्माजीकी नीतिको ठीक नहीं समझते थे। परन्तु देशकी प्रवृत्तिके आगे उनकी चल न सकी। एक पुस्तकमे डॉक्टर मुजेने लिखा था : ऑधीसे बहस नहीं की जाती, बडे से बडे पेडको उसके सामने झुक जाना पडता है। गान्धीजीके व्यक्तित्वने सबको झुका दिया। नागपुरमे सन् १९२० मे कांग्रसने असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध (सत्याग्रह) की नीतिको स्वीकार कर लिया। यद्यपि सन् १९२४ मे श्रीमती बेसेण्ट बेलगॉव कांग्रेसमे गयी थीं परन्तु वस्तुतः नागपुरसे पथविच्छेद हो गया। लिबरल कांग्रेससे अलग हो गये। सच तो यह है कि वहाँसे इस दलका राजनीतिक सूर्यास्त हो गया।

मै इन दिनो बीकानेरमे था। देशी राज्य भारतीय राजनीतिकी मुख्य धारासे बहुत दूर थे। यह बात नहीं है कि समझदार नरेश कालकी गतिको बिलकुल न पहिचानते हो। कई ऐसे थे जो यह देख रहे थे कि भारत एक-न-एक दिन स्वतन्त्र होकर रहेगा। मैने स्वयं बीकानेरमे एक मित्रकी कृपासे एक गोपनीय पत्र देखा था जिसे महाराजा गंगासिहने अंग्रेज सरकार-के पास भेजा था। उसमे उन्होने स्पष्ट लिखा था कि यह विचार गलत है कि हम नरेश लोग ब्रिटिश भारतके स्वराज पानेके विरुद्ध है। हम चाहते

है कि उन लोगोंकी राजनीतिक अभिलाषा पूरी हो। परन्तु अपने राज्योंके शासनके रूपमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया। ऊपरसे भले ही लोकतन्त्र-का नाटक हो परन्तु वस्तुतः निरकुश एकतन्त्र शासन था। परन्तु यहाँ जो कुछ हो रहा था उसकी प्रतिध्वनि वहाँतक पहुँचती ही थी। मेरे जैसे व्यक्तिकी मानस दशाका अनुमान सहज ही हो सकता था। लडकपनकी सारी भावनाएँ जाग उठीं, स्मृतियों और आशाओंका समुद्र उमड पड़ा। जिन स्वप्नोंको देखा करता था उनके फलीभूत होनेका दिन आ गया, ऐसा प्रतीत होता था। ऐसे समयमें बीकानेरमें बैठा क्या कर रहा था? मेरा स्थान तो वहाँ था जहाँ युद्ध छिड़नेवाला था। इसके साथ ही कुछ बातें पीछे खींचती थीं। मेरे ऊपर पिताजीके देहान्तके बाद परिवारका पूरा बोझ आ पड़ा था। परिवार भी बड़ा था। उन दिनों मुझे बीकानेरमें ३५० रु० महीना वेतन मिल रहा था जो अगले सितम्बरसे बढ़नेवाला था। उन दिनोंका ३५० रु० आजकलके १,००० रु० से अधिक मूल्य रखता था और फिर मेरे पास आयका कोई साधन नहीं था न कोई व्यवसाय था, न कहीं रुपया जमा था, न काश्तकारी थी, न जमींदारी थी। इसके सिवाय मैं उन लोगोंमें नहीं था जो यह विश्वास करते रहे हों कि एक सालमें, ३१ दिसम्बर १९२१ को, देश स्वतन्त्र हो जायगा। मैं यह समझता था कि यह बड़ी लम्बी लड़ाई होगी, कई पीढ़ियाँ इसमें होम हो जायँगी। ऐसा लगता था कि इस अभियानमें सम्मिलित होना घर-गृहस्थीको अपने हाथों आग लगा देना है। कुछ कालतक संघर्ष रहा, चित्तमें गहरी उथल-पुथल रही, परन्तु पूर्वजन्मके संस्कार कुछ अच्छे थे, अन्तमें यही निश्चय हुआ कि चाहे जो हो, इस आन्दोलनमें सम्मिलित होनेके सिवाय मेरे लिए कोई अन्य गति नहीं है। घरके लोगोंकी रक्षा उनका प्रारब्ध करेगा। केवल यह तय करना था कि बीकानेरसे कब जाया जाय।

काशीमें ही कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने जल्दी ही निर्णय करनेके लिए मुझे प्रेरित किया। महात्माजीकी इस पुकारपर कि शिक्षा-

सस्थाओका बहिष्कार होना चाहिये, हिन्दू विश्वविद्यालयके कुछ छात्रोने आचार्य कृपालानीके नेतृत्वमे वहाँसे छोड दिया, और गान्धी आश्रमकी स्थापना की। इस छोटे-से बीजसे बटवृक्षके समान आश्रम बढा और फला-फूला। आज वह करोडोकी खादीका व्यवसाय करता है। काशीवासियोको यह शिकायत है कि उसका मुख्य कार्यालय मेरठ भेज दिया गया। इसके कुछ पहिले श्री शिवप्रसाद गुप्तने काशी विद्यापीठकी नीव डाली थी। इसके लिए उन्होने दस लाख रुपया न्यस्त कर दिया था। उद्देश्य यह था कि यहाँ विश्वविद्यालयस्तरकी शिक्षा दी जाय। न्यासपत्रमे दो शर्तें रखी गयी थी : एक तो यह कि शिक्षाका माध्यम हिन्दी होगा और दूसरे यह कि सरकारी सहायता न ली जायगी। यदि इनमेसे एक शर्त भी टूट जाय तो न्याससे सहायता मिलना बन्द हो जायगा। शिवप्रसादजी बहुत ही दानी और उदारचेता थे। सैकडो विद्यार्थी और दूसरे लोगोको उनके यहाँसे सहायता मिलती थी। इसके साथ ही बहुत ही ऊँचे दर्जेके देशभक्त और हिन्दी प्रेमी थे। हिन्दीका प्रसिद्ध दैनिक 'आज' उन्हीकी देन है और 'ज्ञानमण्डल' नामकी प्रकाशन सस्थाको भी उन्होने जन्म दिया था।

उत्तरप्रदेशकी सरकार प्रतिवर्ष संस्कृतकी परीक्षाएँ लिया करती थी जिनके फलस्वरूप आचार्य और शास्त्री जैसी उपाधियाँ दी जाती थी। देशमे यह सस्कृतकी सबमें पुरानी परीक्षापद्धति थी और गवर्नमेंट सस्कृत कॉलेजकी उपाधियोका सर्वत्र बहुत आदर था। अब यह सब काम वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालयने सँभाल लिया है। गान्धीजीका आह्वान सुनकर कुछ विद्यार्थियोने इन परीक्षाओके बहिष्कारका निश्चय किया। पुलिस आयी, सवार लाये गये, पर यह लडके साहसके साथ खडे रहे। नगरके कुछ काग्रेसजनने भी इनका नेतृत्व किया जिनमे डॉ० अब्दुल करीम प्रमुख थे। इन वीर विद्यार्थियोंका जनतामे बहुत आदर हुआ। इस प्रदेशमे सरकारी कामोके सक्रिय विरोधका यह पहिला प्रयोग था और काशीको यह गौरव प्राप्त हुआ। कुछ लोगोने बहिष्कारको असफल बनानेका भी यत्न किया। उनमे पण्डित मदनमोहन मालवीय भी थे।

ऐसे लोगोंकी जनतामें कड़ी आलोचना हुई ।

जेलसे आनेके बाद इन लोगोंने 'असहयोगी संस्कृत छात्र समिति' नामकी संस्था बनायी । चुटकी माँग लाते थे । वही जीविकाका मुख्य साधन था । दिन-रात कांग्रेसके काममें लगे रहते थे । ऐसे परिश्रमी, त्यागी और साहसी स्वयंसेवक बड़े भाग्यसे मिलते हैं । मुझे आगे चलकर इनकी चर्चा करना है । इस समय इतना ही सूचित करता हूँ कि इस छात्र समितिके सदस्योंमें प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद भी थे ।

काशीमें ही होनेवाली ऐसी घटनाओंने मेरी आकुलता और बढ़ा दी । १९२१ की गरमीकी छुट्टियोंमें घर आया । उन दिनों तिलक स्वराज्य कोषके लिए चन्दा जमा कर रहे थे । एक करोड़ जमा करना था । 'पत्र पुष्प' मैंने भी दिया परन्तु इतनेसे इतिकर्तव्यता कहाँ हो सकती थी । छुट्टियोंके बाद बीकानेर लौटकर त्यागपत्र दे दिया । वह स्वीकृत हो गया । ३१ जुलाईको सेवासे छुट्टी पा गया ।

बीकानेरसे मैं अजमेर आया और तीन-चार दिन अपने मित्र स्व० श्री चाँदकरण शारदाके साथ ठहरा । वहीं मैं कांग्रेसका सदस्य बना । श्री शारदा चाहते थे कि मैं अजमेरको ही अपना कार्यक्षेत्र बनाऊँ, परन्तु मुझे ऐसा लगा कि मेरा स्थान उत्तरप्रदेश, मुख्यतः काशीमें ही है । घर चला आया ।



: ६ : १९२१ से १९२२

मै अगस्तमें काशी लौटा। दो-चार दिन बाद श्री सी० एफ० ऐण्ड्रूज, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज, का पत्र मिला। उन्होने मुझे शान्तिनिकेतन बुलाया था। उन दिनो राजस्थानके कई राज्योसे दमनके समाचार आ रहे थे। उदयपुरके सम्बन्धमे ऐसी खबरे बडे जोरोसे निकल रही थी। श्री ऐण्ड्रूजका विचार था कि वह स्वय जाकर जॉच करें। वह समझते थे कि मुझे राजस्थानका जो अनुभव था उससे उनको सहायता मिलेगी, इसलिए मुझको साथ ले जाना चाहते थे। मैने स्वीकार कर लिया। परन्तु यात्रा न हो सकी। जिन-जिन राज्योमे वह जाना चाहते थे उन सबने मनाही कर दी। शान्तिनिकेतनमे मै पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदीके साथ ठहरा। वह उन दिनों वहॉ हिन्दीके अध्यापक थे। वहीं पहिली बार रविबाबूके दर्शन हुए। स्वय श्री ऐण्ड्रूजने परिचय कराया था।

फिर लौटकर काशी आया। उन्ही दिनो श्री शिवप्रसाद गुप्तने 'मर्यादा'का प्रकाशन अपने जिम्मे लिया था। यह पत्रिका कई साल पहिले मालवीयजीके आशीर्वादसे प्रयागमे निकली थी। इन दिनो श्री कृष्णकान्त मालवीय उसके सम्पादक थे। पत्रिका आर्थिक कठिनाइयोमे थी। मित्रके नाते शिवप्रसादजीने उसके प्रकाशनका भार अपने ऊपर ले लिया, परन्तु कृष्णकान्तजीको यह आश्वासन दे दिया कि आप जब चाहे इसे प्रयाग लौटा सकते हैं। उन्होने उसका सम्पादन मुझे सौंपा। काशी आकर पत्रिका सॅभल गयी। मैने उसमे एक विशेष चीज जोडी

जो उस समयतक हिन्दीके किसी पत्र-पत्रिकामे नही थी। प्रत्येक मासके आरम्भमे उस मासका आकाशचित्र दिया जाता था। यह चित्र काशीके अक्षाशके लिए तैयार किया जाता था। सूर्यसिद्धान्तके हिन्दी अनुवादक श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव इन चित्रोको तैयार करते थे। चित्रके साथ उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी जाती थीं।

मैं सम्पादनके साथ-साथ राजनीतिक काममे भी लग गया। इसीके लिए तो बीकानेर छोडकर आया था। काग्रेसका सदस्य तो अजमेरमें हो चुका था। उन दिनो काशीके काग्रेस जीवनमे सबसे सक्रिय सदस्योमें डॉ० अब्दुल करीम, श्री बैजनाथसिंह, प्रो० रामदास गौड, श्री शिवसिंह, डॉ० मुहम्मद शकूर और पण्डित शिवविनायक मिश्र थे। आज इनमेसे पण्डित शिवविनायकजीके सिवाय सबका स्वर्गवास हो चुका है। शिवविनायकजी इन दिनो काशीका बृहत् राजनीतिक इतिहास लिख रहे है। इन्ही लोगोंके साथ रहकर मैंने जनसम्पर्क स्थापित किया, सभाओमें जाने लगा। मेरी एक बड़ी कमी थी। सभाओमे बोलनेका अभ्यास बहुत कम था। जिन दिनो १९११ मे लन्दन मिशन स्कूलमें पढाता था, थोडा-सा अभ्यास हुआ था। सनातनधर्मका कुछ नशा था, आर्यसमाजके विरुद्ध बोलनेका शौक हुआ, स्व० पण्डित मदनमोहन शास्त्री, पण्डित सभापति उपाध्याय और पण्डित रामाज्ञा पाण्डेयका साथ था। हम लोगोने मिलकर एक स्कूल भी खोला जो आज सनातनधर्म इण्टर कॉलेजके रूपमे विद्यमान है। उन दिनोकी एक बात आज भी याद है। इन मित्रोके साथ एक दिन महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्रीके यहाँ गया। मैं उस समय सस्कृत पढने लगा था। मेरा परिचय हुआ। सुनकर उन्होने सस्कृतमे पूछा 'तो आप लोग इनको वेद भी पढायेंगे?' उत्तर दिया गया 'नही, यों ही थोडी-सी सस्कृत पढा देंगे।' मै इस प्रश्नोत्तरको समझनेभर सस्कृत जानता था। कुछ बोला नही, परन्तु प्रश्नकर्ता महोदय-की मनोवृत्ति सनातनधर्मके ह्रासके कारणोंको पुकार-पुकारकर सूचित कर रही थी। किसी इतर सम्प्रदायसे लडनेके लिए ऑखपर पट्टी बॉधकर

काम लिया जा सकता है परन्तु कायस्थको वेद नही पढने दिया जा सकता। यह उनके या किसीके वसकी बात नहीं थी परन्तु मेरी श्रद्धाको इससे बड़ी ठेस लगी। इस धर्मके शत्रु बहुधा इसके पूज्यतम नेता ही रहे हैं।

अस्तु, उस समय सभाओमे बोलनेका थोडा-सा अभ्यास हुआ था, परन्तु काग्रेसकी सभाएँ बहुत बडी होती थीं। मेरा बहुत तेज बोलनेका अभ्यास था, लोगोंको समझनेमें कठिनाई होती थी, परन्तु थोड़े दिनोमे यह दोष प्रायः दूर हो गया। उन दिनों हमारी सभाएँ प्रायः ज्ञानवापीके मैदानमे होती थीं।

मेरा एक और दोष था, अब भी है। एक तो पढने-लिखनेका शौक तब भी था, लोगोसे मिलने-जुलनेका उतना समय नही निकाल पाता था, दूसरे उस स्तरपर बात नही कर पाता था जो बहुत लोगोंको रुचिकर लगती थी। मुझे स्वय यह विश्वास नहीं था कि एक सालमे स्वराज होगा, फिर दूसरेसे कैसे कहता? अग्रेजी राजका विरोधी था, पर अग्रेजी भाषा, अग्रेजी साहित्य, अग्रेजी रहन-सहनकी निन्दा नहीं कर पाता था। इन बातोके कारण कुछ लोग दबे शब्दोमे कहा करते थे कि इनमे 'इण्टेलेक्चुअल प्राइड' (बौद्धिक अभिमान) है। अभिमान तो नहीं था पर यह मेरी सदैव धारणा रही है कि शिक्षित मनुष्यको अपने आचरण और बातचीतका स्तर ऊँचा रखना चाहिये। केवल लोकरजनके लिए नीचे नही उतरना चाहिये।

तिलक स्वराज्य कोषके लिए एक करोड रुपया एकत्र हो चुका था। सबको यह आशा थी कि अब काग्रेस कोई नया और पुष्ट कदम सरकारके विरोधमे उठायेगी। काग्रेसके वार्षिक चुनावमे मै जिला काग्रेस कमेटीका मन्त्री चुन लिया गया था। नये कार्यकर्ताके लिए यह बडे दायित्व और गौरवका पद था। कमेटीके अध्यक्ष डॉ० भगवानदासजी थे। उनकी दार्शनिकता और सार्वभौम विद्वत्ताको मेरी प्रशसाकी अपेक्षा नहीं है। विद्वान् थे पर शुष्क स्वभावके नहीं, वरन् हँसमुख व्यक्ति थे। आर्य शब्दके

सर्वथा अधिकारी थे। उनके साथ काम करना स्वयं शिक्षा थी। जिस किसीको संस्कृत और भारतीय संस्कृतिसे प्रेम हो वह उनका सहज कृपा-पात्र बन जाता था। उनके बहुत-से विचार ऐसे थे जो कांग्रेसके बड़े नेताओंको अभीष्ट नहीं थे और कई प्रश्नोंपर, जिनकी ओर वह निरन्तर ध्यान आकृष्ट किया करते थे, किसीने सोचनेका कष्ट ही नहीं किया था। हम नये लोगोंको भी उनकी कई बातोंसे उलझन होती थी, परन्तु पीछेसे सोचनेपर उनकी सारवत्ता समझमें आती थी। अपने विचारोंको व्यक्त करनेका उनका ढंग भी निराला था। उनकी हिन्दी और अंग्रेजी लिखा-वटपर संस्कृतकी छाप प्रत्यक्ष देख पड़ती थी। मनुके प्रति उनकी अटूट श्रद्धा थी और मनुस्मृतिके सिद्धान्तोंको वह आजकलके सामाजिक प्रश्नों-को सुलझानेका भी सर्वोत्तम साधन मानते थे। पुराने हिन्दू कॉलेजकी उन्होंने जो सेवा की थी उसको देखते हुए उनको हिन्दू विश्वविद्यालयके जनकोंमें गिनना सर्वथा उचित होगा। उनका व्यक्तित्व काशीके लिए सर्वतः गर्वका आस्पद था।

दो शब्द खिलाफत आन्दोलनके सम्बन्धमें भी कहना आवश्यक है। साधारण लोग तो इसको 'मुखालिफत' (विरोध) से सम्बद्ध करते थे। उनकी धारणा थी कि अंग्रेजोंका विरोध करनेके कारण इसका नाम खिला-फत पड़ा है। वस्तुतः इसकी व्युत्पत्ति खलीफा (मुसलिम समाजका नेता)से है। तुर्की सुलतानोंका यह दावा था कि वह एक साम्राज्यके नरेशमात्र नहीं हैं, वरन् पृथ्वीभरके सुन्नी मुसलमानोंके धार्मिक नेता भी हैं। उनके इस दावेको सर्वमान्यता प्राप्त नहीं थी। भारतमें ही मुगल सम्राटोंने इसे स्वीकार नहीं किया। परन्तु अब कोई दूसरा मुसलिम नरेश नहीं बच रहा था जो अपनेको खलीफा कह सकता। धीरे-धीरे पदका महत्त्व भी प्रायः लुप्त हो गया था। परन्तु जब यूरोपियन राज्योंके निरन्तर आक्रमणोंने तुर्कीको जर्जर बना डाला और उसके स्वातन्त्र्यके लोप होनेकी आशंका हुई तो पिछले सुलतानोंने इस भावनाको फिरसे जगाना उचित समझा। उनका यह खयाल था कि वह राज्य, जैसे ब्रिटेन और फ्रांस, जिनके

प्रजाजनमे मुसलमानोकी बड़ी सख्या है, खुलकर हमारा सर्वनाश करनेमे सकोच करेगे। उनका यह विश्वास बहुत दूरतक सही भी निकला।

प्रथम महायुद्धमे तुर्कोंने जर्मनीका साथ दिया और बुरी तरह हारा। साम्राज्य तो छिन्न-भिन्न हो ही गया, यह आशका हुई कि साम्राट्की मर्यादा भी नष्ट हो जायगी। वह स्वतन्त्र नरेश भी न रह जायँगे। इसी अवसरपर भारतके कुछ मुसलिम नेताओने यह आन्दोलन चलाया। उनका कहना था कि इसलामकी दृष्टिसे यह आवश्यक है कि धार्मिक नेता खलीफा स्वतन्त्र नरेश हो। उन्होने सोचा कि इस बहाने सुलतान बच जायँगे। किसी अन्य देशके मुसलमान इस आन्दोलनमें सम्मिलित नहीं हुए। भारतमे भी यह जोर पकड सकता इसमे सन्देह है, परन्तु महात्माजीने इसको आशीर्वाद दिया, काग्रेस इसका समर्थक बन गयी। परिणाम यह हुआ कि अलीबन्धु जैसे खिलाफती नेता काग्रेसमे भी ऊँचा स्थान पा गये। अखिल-भारतीय स्तरसे लेकर नीचे जिलोतक खिलाफत कमेटियोका जाल बिछ गया और काग्रेसके कई हिन्दू नेता भी इनमे सम्मिलित हो गये।

डॉ० भगवानदास आरम्भसे ही इससे पृथक् रहे परन्तु मै शरीक हुआ, बनारस जिलेकी खिलाफत कमेटीकी मजलिसे शूरा—अन्तरग सभा—का सदस्य भी चुन लिया गया। सरन्तु मनमे शका रहती थी, महात्माजी और काग्रेसके समर्थनके युक्तियुक्त होनेमे बराबर सन्देह बना रहता था। यो तो देशभक्ति किसीकी सम्पत्ति नही है, खिलाफतके कार्यकर्ता भी देशभक्त रहे ही होगे परन्तु मुझे ऐसा लगता था कि उनमेसे अधिकाशको जितना प्रेम इसलामसे था उतना भारतसे नही था। धर्म और राजनीतिका इतना सम्मिश्रण भी ठीक नहीं लगता था। एक बार मौलाना मुहम्मद अलीने कहा था कि छोटासे छोटा मुसलमान महात्मा गान्धीसे ऊँचा है। इसलाम-की दृष्टिसे यह बात ठीक रही होगी परन्तु यदि हिन्दू यही बात मुसलिम नेताओके सम्बन्धमे कहने लगे तो आपसमें मनमुटाव बढकर धर्मयुद्धका रूप ले सकता है। खिलाफतका इसलाममे जो भी स्थान हो परन्तु उसके लिए हिन्दू या दूसरे अमुसलिम क्यों सघर्ष करे? क्या किसी हिन्दू मन्दिरकी

रक्षाके लिए मुसलमान तत्पर होगे? यूरोपियन राज्योकी नीतिने ही खिलाफत आन्दोलनको जन्म दिया है, कल यदि नीति बदल जाय तो आन्दोलन समाप्त हो जायगा, फिर क्या खिलाफतके कार्यकर्ता काग्रेसके साथ कन्धा मिलाकर सरकारसे लडते रहेंगे?

एक घटनाने मुझे शीघ्र निर्णय करनेपर विवश किया। मेरठका जिला उस समय दिल्लीकी प्रादेशिक काग्रेस कमेटीके अधीन था परन्तु खिलाफतकी दृष्टिसे युक्तप्रान्त (अब उत्तरप्रदेश) का अग था। वहाँ प्रतिवर्ष एक प्रदर्शनी होती थी, १९२१ मे भी हुई। दिल्ली प्रादेशिक कमेटीने उसमे सम्मिलित होनेकी अनुमति दे दी परन्तु किन्ही कारणोसे, जो मुझे स्मरण नही है, प्रादेशिक खिलाफत कमेटीने उसके बहिष्कारकी आज्ञा निकाली। इस बातने उन लोगोको बडे असमजसमे डाल दिया जो दोनो सस्थाओंके सदस्य थे। मेरा मार्ग स्पष्ट हो गया। किसी भी व्यक्तिके लिए समकक्ष दो राजनीतिक सस्थाओका सदस्य होना अनुचित है। कभी-न-कभी उसको दोनो ओरकी विरोधी आज्ञाओके कारण घोर धर्मसकटमे पडना होगा। मैंने खिलाफत कमेटीकी सदस्यतासे त्यागपत्र दे दिया। थोडे दिनोमे खिलाफतकी समस्या आप ही सुलझ गयी। तुर्कीके उद्धारक मुस्तफा कमाल पाशाने सुल्तानका पद ही तोड दिया। कोई खलीफा बननेवाला ही न रहा। इसलाम आज भी जीवित है यद्यपि कोई खलीफा नही है। यह सिद्ध करता है कि आन्दोलन सर्वथा निःसार था। समयने मेरी कई शकाओके भी उत्तर दे दिये। जितने लोग खिलाफतके नामपर सामने आये थे उनमेसे बहुत कम स्वाधीनताकी लडाइयोमे देख पडे।

ज्यो-ज्यो दिसम्बर निकट आता गया, लोगोकी आकुलता और उत्सुकता बढती गयी। यत्र-तत्र छोटी-छोटी लडाइयाँ हुई। लडाई शब्द-मे हिंसाकी ध्वनि है, इसलिए यह बहुत उपयुक्त तो नही है परन्तु उस समय जो युद्ध जैसा वातावरण था उसमे उपयुक्त-सा लगता है। ऐसे अवसरोपर ऐसे शब्दोका व्यवहार अगत्या होने लगता है। काशीमे विदेशी वस्त्र विक्रय करनेवाली दूकानोपर धरना दिया गया। दो-तीन

दिनोंमें व्यवसायियोंने काग्रेस कमेटीकी शर्तें मान लीं और धरना उठा लिया गया। ऐसी ही बाते अन्यत्र भी कई जगहोंमे हुईं। पर इन छोटे संघर्षोंका कोई व्यापक प्रभाव तो पडता नहीं था। स्थानीय प्रभाव अवश्य पडता था और जनताका उत्साह बढ जाता था। चारो ओर यह धारणा फैली हुई थी कि काग्रेसको कोई कदम उठाना चाहिये और यह विश्वास भी था कि गान्धीजी कोई-न-कोई मार्ग ढूँढ निकालेगे। प्रश्न इतना ही था : कब और क्या?

सरकारने इस विषयमे स्वय हमारी सहायता की। उसने कृपा करके हमारे प्रश्नका उत्तर दे दिया। ब्रिटिश युवराज, प्रिंस ऑव वेल्स, को भारत आनेका निमन्त्रण दिया गया। जानकार लोगोने समझाया कि यह अनुकूल समय नहीं है परन्तु जिदमे उनकी बात न मानी गयी। सम्भवतः यह समझा गया कि उनके आनेसे राजभक्तिका समुद्र ऐसा उमड पडेगा कि उसके आगे सारा विरोध हवा हो जायगा। यह आशा पूरी न हो सकी। सारे देशको इस समय युवराजका बुलाया जाना बुरा लगा। काग्रेसने यह निश्चय किया कि अहिंसाको भग्न न करते हुए स्वागतके सारे आयोजनोका बहिष्कार किया जाय। आनेके दिन बम्बईमे दगा हुआ, गिरफ्तारियाँ हुईं। दगे तो सब जगह नही हुए परन्तु जहाँ-जहाँ श्रीचरण गये वहीं जनताने अपने घोर असन्तोषको प्रकट किया और गिरफ्तारियाँ हुईं। उत्तरप्रदेशमें उनको लखनऊ, इलाहाबाद और काशी क्रमशः ११, १२ और १३ दिसम्बरको आना था। तीनो ही जगह पूरा बहिष्कार हुआ, पूरी हडताल रही।

काशीमे जो कुछ हुआ उसको मै सविस्तर दे रहा हूँ क्योंकि उसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है। युवराजके आनेकी सूचना मिलते ही हम लोग तैयारीमें लगे। तैयारी भी ऐसी करनी थी जो देशके राजनीतिक जगत्मे काशीके स्थानके अनुरूप हो। पहिला काम था नोटिस निकाल कर जनतासे इस बातकी अपील करना कि वह काग्रेसके आदेशों-का पालन करे और १३ दिसम्बरको पूरी हडताल हो। दूसरी बात यह

कहनी थी कि स्वागत सम्बन्धी किसी उत्सवमे कोई भाग न ले। परन्तु, 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः', एक ऐसी कठिनाई आयी जो किसी दूसरे स्थानमे किसीकी कल्पनामे भी न आयी होगी। हमारे अध्यक्ष डॉ० भगवानदासजीको 'हडताल' शब्द अभद्र लगता था। उनका कहना था कि पुराने समयमे जब किसी कारणसे बाजारको बन्द कराना होता था तो कोई व्यक्ति जाकर सब दूकानोके तालोंपर हड्डी डाल देता था। जब विवाद समाप्त हो जाता था तब हड्डी धो डाली जाती थी। हाड (हड्डी) और ताला मिलकर हडताल बना है। उनकी बात रखनी ही थी। दूसरे शब्दकी खोज हुई। कोई वैसा जोरदार शब्द तो मिला नही, अन्तमे 'कारबार बन्द'से काम चलाना पडा। यह तय हुआ कि काग्रेस कमेटीके सभी सदस्योके हस्ताक्षरसे नोटिस निकाली जाय, ज्ञानमण्डल यन्त्रालयमे, जो श्री शिवप्रसाद गुप्तकी सम्पत्ति था, छापी जाय और डॉ० भगवानदासके मकानपर रखी जाय। वहांसे युवराजके आनेके दो दिन पहले हम लोग प्रतियाँ लेकर नगरके विभिन्न भागोमे बॉटेगे। नोटिस छपी और यथास्थान पहुँच भी गयी परन्तु बॅट न पायी। बाधा पड गयी। कमेटीके एक सम्मानित सदस्य डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेटके मित्र थे। वह उनसे यो ही मिलने गये। बात-बातमे उनके मुँहसे यह बात निकल गयी कि नोटिसे अमुक स्थानपर रखी है और आज सायकाल हम उनको बॉटने निकलेगे। इतना पर्याप्त था। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट हम लोगोके एकत्र होनेके पहिले डॉ० भगवानदासजीके यहॉ पहुँचे और नोटिसे उठा ले गये।

इस घटनाके बाद सायकाल काग्रेस कमेटीकी जो बैठक हुई वैसी बैठकोमे मुझे उपस्थित होनेका स्यात् ही कोई दूसरा अवसर आया होगा। बडी गरम बहस हुई। जिन सदस्यकी भूलसे यह सब हुआ उनसे तो लोगोंका असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था ही। सन्देह और अविश्वासका बादल छा गया। हमको इस बातकी ग्लानि थी कि सब किया-कराया चौपट हो गया और अब काशीकी शान धूलमे मिल जायगी क्योकि नगरवासियोतक काग्रेस कमेटीका आदेश पहुँच ही न सकेगा। क्रोध और दु:ख तो सबको

ही था परन्तु हम देख रहे थे कि डॉ० भगवानदासजी विशेष दुखी थे। उनको इस बातसे ग्लानि थी कि नोटिसे उनके घरसे उठ गयी। उनको ऐसा लग रहा था कि जैसे इस सारे काण्डके लिए वह स्वयं दोषी है। कई घण्टेकी गरमा-गरमीके बाद बैठक किसी प्रकार समाप्त हुई। डॉ० भगवानदासके आग्रहपर यह निश्चय हुआ कि अकेले उनके हस्ताक्षरसे नयी नोटिस निकाली जाय। पण्डित शिवविनायक मिश्रका छोटा-सा छापाखाना था, उसमे रातभरमे नोटिस छप जाय। बॉटनेका काम श्री कृपालानी और गान्धी आश्रमके अन्य सदस्योके जिम्मे हुआ। दूसरे दिन, युवराजके आनेके एक दिन पहिले, नोटिसे बॅटीं। डॉ० भगवानदास, पण्डित शिवविनायक मिश्र, श्री कृपालानी तथा गान्धी आश्रमके प्रायः सभी सदस्य गिरफ्तार हो गये।

हमारा काम बन गया। गिरफ्तारियोने हमारी और भी सहायता की। पूरी हडताल रही। हिन्दू विश्वविद्यालयमे कुछ इधर-उधरसे पकडकर किरायेके आदमी बैठाये गये पर वह बेचारे विद्यार्थी कैसे बन जाते, उनकी सूरते पुकार-पुकारकर कह रही थी कि वह बेगारमे लाये गये हैं। काशीमे सरकार और कांग्रेसकी यह पहिली मुठभेड थी। प्रत्यक्ष ही इसमे कांग्रेस विजयी हुई। लोगोका आत्मविश्वास बढा।

प्रादेशिक सरकारने एक घोषणा निकालकर कांग्रेसका स्वयंसेवक बनाना या बनना अपराध घोषित कर दिया। इस घोषणाने भी बडी सहायता की। सरकारसे संघर्ष करनेका सीधा मार्ग निकल आया। स्वयंसेवकोमे नाम लिखा लेना ही पर्याप्त था। प्रादेशिक कांग्रेस कमेटीने स्वयंसेवक भर्ती करनेकी आज्ञा निकाली। जिस दिन युवराज काशी आये थे उसके एक दिन पहले प्रयागमें प्रादेशिक कांग्रेस कमेटीकी बैठक हो रही थी। थोडे ही सदस्य उपस्थित थे। काशीके केवल श्री रामदास गौड जा सके थे, शेष सदस्य युवराजके स्वागतके बहिष्कारकी तैयारीमे लगे थे। मौलाना हसरत मोहानी अध्यक्ष थे। उनको छोडकर सभी सदस्योने स्वयंसेवकोके प्रतिज्ञापत्रपर हस्ताक्षर किये थे। सभी गिरफ्तार हो गये।

इन लोगोंकी सख्या ५५ थी। मौलाना अपने समयके बड़े तपे-तपाये उग्र नेता थे, तिलकके अनुयायी थे। बहुत त्याग किया था, बहुत कष्ट झेला था। उर्दूके अच्छे कवि थे। उनका अनुभव उनके यह दो शेर व्यक्त करते हैं :

है शौके सखुन जारी, चक्कीकी मशक्कत भी।
इक तुर्फा तमाशा है, हसरतकी तबीयत भी॥
जो चाहे सितम कर लो, तुम और भी खुल खेलो।
पर हमसे कसम ले लो, जो की हो शिकायत भी॥

पर इस समय किन्हीं कारणोंसे वह काग्रेसके इस आन्दोलनसे अलग रहे।

आन्दोलनकी सफलता अहिंसाके कायम रखनेपर थी। प्रत्येक काग्रेस-जन महात्मा नहीं था, अहिंसाका व्रती नहीं था, स्वाधीनताके लिए शस्त्र उठाना पाप नहीं मानता था। गान्धीजीका यह मत था कि यदि शस्त्र प्रयोग करनेका अवसर हो तो भी हिंसाके द्वारा स्वराज्य नहीं लेना चाहिये। इस बातको सिद्धान्तरूपसे स्वीकार करनेवाले काग्रेसके भीतर या बाहर बहुत ही थोड़े आदमी थे। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे अहिंसा-को काग्रेसने, काग्रेसजनने, स्वीकार कर लिया था। हमारे पास शस्त्रसे काम लेनेके साधन नहीं थे। महायुद्धमे विजयी ब्रिटिश सरकारका सामना लाठियों, तलवारों और गाँवके लोहारकी बनायी तोडेदार बन्दूकोसे नहीं हो सकता था। यदि बिना पूरी तैयारीके सशस्त्र विद्रोहका प्रयास किया जाता तो ऐसा दमन होता कि पचासो सालतक राष्ट्र सिर न उठा सकता। अहिंसामे यह दोष नहीं था। अहिंसक कायर नहीं होता, वीर पुरुष ही ऐसी लडाई लड सकता है। आघात सहना पर हाथ न उठाना सबका काम नहीं है। जो हथेलीपर सिर लेता है वही अहिंसक सिपाही हो सकता है। धन-सम्पत्ति, स्वास्थ्य, जीविका, प्राण, सबकी बाजी लगानी होती है। और शत्रु जीतकर भी हारता है। भागनेवालेके प्रति घृणा होती है, त्राहि-त्राहि करनेवालेपर दया भी आ सकती है, ठोकर भी मारी जा सकती है परन्तु जो निहत्था मनुष्य छाती तानकर सामने खडा होता

है उसपर हथियार चलाते हुए लज्जा आती है, हाथ कॉप जाते है। विरोधी चाहता है कि यह कुछ करे, हाथ चला दे, गाली ही दे दे, तो सकोच छोडकर इसपर शस्त्र चलाते बने।

विचित्र परिस्थिति थी। एक ओर तो सरकार घबरायी हुई थी। १८५७ के बाद यह पहिला अवसर था जब कि भारतीय जनता इतनी उत्तेजित हुई थी। १८५७ मे भारतके कुछ ही भागोमे और समाजके कुछ ही अंगोमे अशान्ति थी, इस बार समूचे देशमें, प्रत्येक वर्गमे, घोर अशान्ति, घोर उद्वेग था। वाइसराय, लार्ड रेडिंगने स्वय कहा था : 'आइ ऐम पजल्ड ऐण्ड पर्प्लैक्स्ड' (मै घबरा उठा हूॅ, मेरी बुद्धि काम नही करती।) परन्तु भारतीय नेता भी कम चिन्तित नहीं थे। इतनी बडी सरकारसे टक्कर और वह भी अहिंसाके सहारे, जिस साधनका आजतक पृथ्वीपर कही प्रयोग नहीं हुआ था, हॅसी-खेल नही था। इतने बडे देशमे लोगोकी हिंसावृत्तिको दबाये रखना, जब कि सरकारकी ओरसे पदे-पदे उत्तेजन होगा, सरल बात नही थी। उत्तेजककी चाहे अन्तमे जीत ही हो और वह अपनेसे बलवान ही हो, परन्तु प्रहारके बदलेमे प्रहार करनेसे कुछ तुष्टि तो होती ही है। अहिंसक आन्दोलन इस तुष्टिसे भी वञ्चित कर देता है। आश्चर्य तो यह है कि इतनेपर भी सहस्रो व्यक्ति स्वयमेवक बने। लोगोने नौकरियॉ छोडी, दूसरी जीविकाऍ छोडी और इस यज्ञमे सम्मिलित हुए। यह किसीको पता नहीं था कि सरकार क्या करेगी। उन दिनो एक गाना प्रचलित था, वह ऐसे लोगोके भावका द्योतन करता है। उसकी प्रथम पक्ति है : 'सिर बॉधे कफनिया हो, शहीदोंकी टोली निकली'। सच तो यह है कि जिन लोगोके पिछले जन्मोके सस्कार प्रबल और पुण्यमय थे उनके ही कानमे महात्माजीका मन्त्ररूपी उपदेश उतरा। उनका जीवन बन गया, मिट्टी सोना हो गयी, नरदेह सार्थक हो गयी। साधारण जनतापर भी कहॉतक प्रभाव पडा था उसका इस बातसे अन्दाज होता है कि सारे आन्दोलनकालमे १९२१ से १९४५ तक किसी अग्रेजकी सम्पत्ति नही लूटी गयी, किसी अग्रेज महिलाके

साथ छेडछाड नहीं हुई, किसी अग्रेजके न प्राण लिये गये न उसे शारीरिक आघात सहना पडा। चालीस करोडकी जनसख्यामे ऐसी शान्ति होना, जब अपने ऊपर घोर अत्याचार और दमन हो रहा हो, असाधारण बात है। किसी दूसरी स्वाधीनताकी लडाईमे आजतक ऐसा नहीं हुआ था।

अस्तु, स्वयसेवकोकी भरती तो करनी ही थी। यहाँ फिर मेरे सामने कठिनाई उपस्थित हुई। स्थानीय काग्रेस कमेटीने यह तय किया कि यह काम तबतक स्थगित रहे जबतक सब लोग काग्रेस अधिवेशनसे, जो मासके अन्तमे अहमदाबादमें होनेवाला था, लौट न आये। मैं बडे धर्मसकटमे पडा। मै जिला काग्रेस कमेटीका मन्त्री था, कमेटीकी आज्ञाको कार्यान्वित करना मेरा काम था। जिम्मेदारी कमेटीकी है। दूसरी ओर मैं स्वयं प्रादेशिक काग्रेस कमेटीका सदस्य था। उसकी आज्ञाका पालन करना-कराना मेरा कर्तव्य था। तीसरी बात यह भी थी कि स्थानीय कमेटी प्रादेशिक कमेटीके अधीन है और उसके निश्चयोके विरुद्ध कोई निश्चय नहीं कर सकती। यदि वह कोई ऐसा निश्चय करती है तो वह अमान्य है। यह सोचकर मैंने अकेले अपने बलपर काम करनेका निश्चय किया। कमेटीके क्लर्कको प्रयाग भेजकर प्रतिज्ञापत्र मँगाये और भरतीका काम छेड दिया। इस काममे मेरे सहायक 'असहयोगी सस्कृत छात्र समिति'के सदस्य थे। इनकी चर्चा पहिले कर चुका हूँ। बडे साहसी, परिश्रमी, संयमी और अनुशासन माननेवाले कार्यकर्ता थे। दिखावटीपन छू नहीं गया था। सात-आठ दिनमे कई सौ स्वयसेवक बन गये। प्रतिज्ञापत्रोकी कापियाँ कहाँ रखी जाती थी यह मै नहीं जानता था। सारा काम गुप्त ढगसे हो रहा था, फिर भी बात फैल ही गयी। सारे नगरको ज्ञात था कि स्वयंसेवक भरती हो रहे है और कई सौ भरती हो चुके है। जो लोग प्रतिज्ञापत्रपर हस्ताक्षर कर चुके थे वह स्वय गर्वके साथ इसका चर्चा करते थे।

कानपुर और प्रयागमे स्वयसेवकोकी सूचियाँ समाचारपत्रोमे छपने लगी। हमारे स्वयसेवक भी इसके लिए उत्सुक थे। उनका कहना ठीक

ही था कि केवल भरती होनेसे तो काम नही चला, सरकारने कुछ किया ही नहीं। अब नाम छपे तो स्यात् कुछ कार्यवाही हो। यदि हम प्रतिज्ञा-पत्र भरकर घर बैठे रहेगे तो सघर्ष होगा ही नहीं। काशीमे 'आज' ही एक पत्र था। मेरे ऊपर तो दबाव पड ही रहा था, 'आज'के प्रबन्धकोपर भी लोकमतका दबाव पडने लगा। पहिले तो वह तैयार नहीं थे, फिर राजी हुए। १८ या १९ दिसम्बरकी बात है। मैंने सब जगहोसे प्रतिज्ञा-पत्रोकी कापियॉ मॅगायी, सूचियॉ तैयार हुई, कम्पोज हो गयी। फिर यकायक राय बदली। सायकाल ज्ञानमण्डलमे मै बुलाया गया। स्व० श्री शिवप्रसाद गुप्त, श्री श्रीप्रकाश, 'आज'के सम्पादक स्व० श्री बाबूराव विष्णु पराडकर और मुद्रक स्व० श्री महताब राय पहिलेसे उपस्थित थे। मुझसे कहा गया कि काग्रेससे लौटकर नाम छापे जायॅ। मैंने इसका विरोध किया। पर अकेले मेरा विरोध क्या काम करता? कम्पोज किया हुआ मैटर हटा दिया गया और उसके स्थानमे दूसरी चीजे छाप दी गयीं। सवेरे जब जनता और हमारे स्वयसेवकोने उत्सुकताके साथ पत्रको खोला तो स्वयसेवकोकी सूची नही थी।

मुझसे कहा गया कि तुम भी अहमदाबाद चलो। शिवप्रसादजीने कृपा करके मेरे लिए टिकट भी मोल ले लिया।

यह तो स्पष्ट हो गया कि अब 'आज'के द्वारा नामोका प्रकाशन न हो सकेगा। यह भी उतना ही स्पष्ट था कि यदि नामोंका प्रकाशन न हुआ तो स्वयसेवक अनुशासनकी मर्यादा तोड बैठेगे। दूसरे शहरोंमे जो कुछ हो रहा था उसको देखकर इनकी उत्कण्ठा बढती जा रही थी और शहरमे भी लोग स्थानीय काग्रेसजनकी अकर्मण्यतापर ॲगुली उठा रहे थे। ऐसा लगता था कि युवराजके आनेके अवसरपर थोडे-से वीर पुरुषो-की आहुति देकर हम लोग चैनसे सो रहे थे। कुछ करना ही होगा परन्तु क्या मुझको अकेले अपने ऊपर यह दायित्व लेना चाहिये? मै अभी थोडे ही दिनोसे इस मैदानमे आया था। जिलेके सभी गण्यमान्य नेता, वह लोग जो अबतक काग्रेसका काम चला रहे थे, सभी एकमत थे।

उनका कहना था कि अभी कुछ न करना चाहिये, इसका तात्पर्य यह होगा कि लगभग ८-१० जनवरीतक यहाँ कोई सक्रिय कदम न उठाया जाय, परन्तु क्या काशीके गौरवके लिए, देशहितके लिए, यह ठीक होगा ? दूसरी ओर, यह ज्ञात नही था कि सरकारी प्रतिक्रिया क्या होगी। मान लिया जाय कि उन्होने गोली चला दी, कुछ लोग मारे गये, तो उनकी विधवाओ और अनाथ बच्चोके सामने मै क्या मुँह दिखलाऊँगा ? क्या दायित्वका इतना बोझ मेरे कन्धे उठा सकते हैं ? मैं ही जानता हूँ वह रात मैंने कैसे बितायी। चारपाईपर पडा करवटें बदल रहा था, विचित्र बेचैनी थी। सबेरा होते-होते बुद्धि स्थिर हुई। मैंने निश्चय किया कि मित्रोकी सलाह न मानना ही मेरा धर्म है, जो भी हो, मेरे लिए कर्तव्यपथ यही है कि अकेला अपने ऊपर सारा बोझ ले लूँ। चित्त हल्का हो गया।

सवेरे मैने एक पत्र तो शिवप्रसादजीको लिखकर उनको अपने निश्चयसे सूचित किया और यह अनुरोध किया कि मेरा टिकट लौटा दें। दूसरा पत्र जिला कांग्रेस कमेटीके उपमन्त्री श्री शिवनन्दनसिहको लिखा। उसमे मैंने सारा दायित्व अपने ऊपर ले लिया और यह सूचित कर दिया कि इसके लिए कांग्रेस कमेटी मुझे जो दण्ड देगी उसे मै सहर्ष स्वीकार करूँगा।

आगेके लिए मैने जो कार्यक्रम बनाया वह इस प्रकार था। स्वयसेवकोकी नामावली नही प्रकाशित की गयी वरन् कांग्रेस कमेटीके दफ्तरपर तथा कई अन्य जगहोमे, जिनमें कोतवालीके सामनेका नोटिसबोर्ड भी था, मेरे हस्ताक्षरसे नोटिसे चिपकायी गयी कि हम स्वयसेवक भरती कर रहे हैं, लोग आये और भरती हो। कोतवालीकी नोटिस लगानेका काम चन्द्रशेखर आजादके जिम्मे था। पुलिसने उसे कई बार उखाड फेंका पर किसी-न-किसी प्रकार नयी नोटिस फिर लग जाती थी। यह भी निश्चय हो गया कि मेरे गिरफ्तार हो जानेपर क्रमश· कौन लोग काम सँभालेगे। मैने दस-बारह नाम तय कर दिये थे। इसके बाद अहमदाबादसे लौटनेवाले नेता काम देखते। यह भी निश्चित हो गया कि प्रत्येक दिन दस स्वयसेवकोका एक जत्था निर्दिष्ट नायककी मातहतीमे निकलेगा, यदि वह गिरफ्तार हो

गया तो शामको दूसरा जत्था निकलेगा। परन्तु किसी हालतमें उस दिन तीसरा जत्था न निकलेगा। इस प्रकार भी हमने कमसे कम पन्द्रह दिनका प्रबन्ध कर लिया। इन सब कामोमें छात्र समितिके युवक कार्यकर्ताओंसे अप्रतिम सहायता मिली। यह सब करके मैंने जिला मजिस्ट्रेटको पत्र भेजा कि यदि आप मुझे गिरफ्तार करना चाहें तो कृपया सवेरे करें। आजकल सायकाल मुझे ज्वरांश हो आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने मेरी बात मान ली। २४ दिसम्बर १९२१ को लगभग ९ बजे सवेरे मैं गिरफ्तार हो गया। पुर्विया महालके निवासी कुछ अक्खड होते हैं। भीड जमा हो गयी। कुछ लोग इस बातपर तुल गये कि हम नहीं ले जाने देंगे। मेरे समझाने-बुझानेसे मान गये, नहीं तो वहीं हिंसाकाण्ड हो जाता। लगभग दस बजेतक जिला जेल पहुँच गया। डॉ० भगवानदास और पण्डित शिवविनायक मिश्र तो सेण्ट्रल प्रिजन भेज दिये गये थे, गान्धी आश्रमके मित्र जिला जेलमें ही थे। उन लोगोंकी गिरफ्तारीके बाद इतने दिनोंतक शहरमें सन्नाटा था। इसको देखकर श्री कृपालानीका यह विश्वास हो गया था कि काशी-निवासी मुर्दे और कायर हैं, छिपकर घर बैठ गये हैं। मुझको देखकर उनका भ्रम दूर हुआ।

मैं गिरफ्तार तो हुआ, पर मेरी बनाई सारी योजना अस्त-व्यस्त हो गयी। पहिले दिन २० की जगह लगभग ७५ व्यक्ति गिरफ्तार हुए और यही क्रम प्रायः एक सप्ताहतक चलता रहा। गिरफ्तारीका भी तमाशा हो गया। पुलिसने गिरफ्तार करना छोड दिया, लोग स्वयं गिरफ्तार होते थे। थानेके सामने पुलिसकी गाडी खडी हो गयी, जिसके जीमें आया, माला पहिनकर बैठ गया। प्रतिज्ञाकृत स्वयंसेवकोंसे अधिक तो यह स्वयंभूत सज्जन थे, कभी-कभी तो जब शाम हो जाती और लोग गाने-बजाने और नारा लगानेमें समयका खयाल भूल जाते थे तो पुलिसको कहना पडता, 'हम सवेरेसे खडे-खडे थक गये हैं, जल्दी कीजिये'। लोग हँसते-खेलते गाडीमें बैठ जाते।

यकायक इतने कांग्रेस स्वयंसेवकोंके आ जानेसे जेल अधिकारियोंकी

मुसीबत बढ गयी। कोई फटा-पुराना कम्बल लेनेको तैयार नही था, इन लोगोको दबाना भी मुकर नही था। जरा-जरा-सी बातमे तसला बज जाता था, सैकड़ोकी भीड, कोई क्या करे। अबतक कैदियोको साग और डण्ठल ही तरकारीके नामसे खाना पडता था। चोरीसे भले ही किसी कैदीको कुछ मिल जाय परन्तु जेलके खेतकी ताजी तरकारियाँ अफसरोके यहाँ जाती थी। अब ताजी गोभी, करमकल्ला या और जो कुछ पैदा होता था, जेलकी रसोईमे पकने लगा। पहिले आटा पैरोसे गूँधा जाता था, अब हाथसे गुँधने लगा।

फरवरी १९२२ मे मै जिला जेल, लखनऊ भेज दिया गया। यहाँ प्रदेशभरके वह राजनीतिक बन्दी एकत्र किये गये थे जिनको स्पेशल क्लास दिया गया था। स्पेशल क्लासके बन्दी अपना कपडा पहिन सकते थे और अपने पैसेसे कुछ चीजे बाजारसे मँगा सकते थे। इनके ऊपर पहिले तो अठारह आने प्रतिव्यक्ति व्यय होता था, पीछेसे यह रकम घटाकर साढे तेरह आना कर दी गयी। इनको किसी प्रकारका काम नही करना पडता था।

इसके बाद तो कई बार जेल जाना हुआ, परन्तु हम सभीके लिए १९२१ मे यह अवसर पहिली बार आया था। इसमे सन्देह नही कि मनुष्यके स्वभावके अध्ययनके लिए इससे अच्छी पाठशाला नही हो सकती। साधारण कैदी, चोर, डकैत, खूनी, कभी-कभी बडे ऊँचे चरित्रका परिचय देते हैं, जरासे उपकारको जन्मभर नही भूलते। दूसरी ओर सुशिक्षित और सम्पन्न मनुष्य कभी-कभी बड़ी दुर्बलता दिखलाते है। जेलमे मनुष्यके स्वभाव और चरित्रपरसे पर्दा उठ जाता है। बाहर यदि किसीसे अनबन हो भी गयी तो दस-पाँच दिनमे वह बात भूली जा सकती है, जेलमे दिन-रातका सामना, भूलनेका अवसर ही नही मिलता। कैदसे यों ही झुँझलाहट रहती है, अच्छे सुलझे हुए मित्र लड पडते है, अभद्र भाषाका प्रयोग कर बैठते हैं। बाहर थोडी देरकी भेंटमें सज्जनताका व्यवहार करना सुकर है पर दिन-रात कृत्रिमता नही निबाही जा सकती, कलई खुल जाती

है। वह मनुष्य बडा भाग्यवान् है जो साल-छ महीने जेलमे रहकर भी अपने सहवासियोके आदरका पात्र रह जाता है।

तिकडमकी चर्चा किये बिना जेलकी कथा अपूर्ण रह जाती है। जिन युक्तियोसे जेलके नियम तोडे जा सकते है, और वह वस्तुएँ जिनका आना-जाना मना है भीतर मॅगायी जाती है और बाहर भेजी जाती है, उन सबका सामूहिक नाम तिकडम है। तिकडमके अनेक रूप है पर उन सबकी तहमे रुपया है। या तो कैदीके पास जेलके भीतर पैसा हो या बाहर उसका कोई मित्र पैसा खर्च करनेको तैयार हो तो जेलके किसी-न-किसी अधिकारीका सहयोग प्राप्त हो ही जाता है। लखनऊ जेलकी तिकडमकी एक रोचक कथा लिखता हूँ। हमारे साथियोमे रगा ऐयर नामके एक सज्जन थे। एक दिन सुपरिण्टेण्डेण्ट, मेजर क्लेमेण्टके आनेके समय केवल उसे चिढानेके लिए वह श्रीकृष्णके एक चित्रके सामने हाथ जोडकर बैठ गये। वह साधारण-सा चित्र था जो बाजारमे पैसे-दो-पैसेमे मिलता था। सुपरिण्टेण्डेण्ट चित्र उठा ले गया। दो-तीन दिनके बाद जब वह आया तो हर कांग्रेसी बन्दीके सामने दीवारपर श्रीकृष्णका चित्र लटक रहा था और सभी लोग 'ध्यानावस्थित तद्‌गतेन मनसा' आसन लगाये बैठे थे। सुपरिण्टेण्डेण्ट कुढकर रह गया। तिकडमके प्रसादसे ही यह चित्र आये थे।

तिकडम नही, एक दूसरे प्रकारकी रोचक कहानी बनारस जेलकी याद आती है। मकरसंक्रान्तिके दिन प्राय. खिचडी खानेका दस्तूर है। इस बार शहरसे कुछ मित्रोने मटर, चावल आदि सारा सामान भेज दिया, जेलका उस दिन हमारे ऊपर सवेरे कोई खर्च नही हुआ। हम लोगोने वसन्तपञ्चमीके दिन यज्ञ करनेका निश्चय किया। और सामग्री तो बाहरसे आयी, पर हमारा आग्रह था कि एक कनस्टर घी जेल दे। सक्रान्तिको जो बचत हुई थी वह हमको घीके रूपमे मिल जाय। अधिकारी राजी नही थे। हमारी मॉग कुछ नियमानुकूल थी भी नही परन्तु इसको कौन सोचता। भाग्यसे जेलवालोकी एक भूलने हमारी सहायता की।

हमारे साथियोंमें वेचन नामके एक सज्जन थे। वह कान्यकुब्ज हलवाई थे। जेलके कागजोंमें कान्यकुब्ज ब्राह्मण लिख गये थे। उनकी रिहाईका दिन आया। जेलवाले ब्राह्मण समझकर वेचन महाराजके नामसे उनको ढूँढते थे, हम लोगोंका कहना था कि यदि वेचन महराज यहाँ कहीं होंगे तो आप घी दीजिये, हम यज्ञ करें, वह यज्ञकी अग्निसे प्रकट हो जायँगे। दो दिन बीत गये। जेलवालोंको घबराहट थी। सजा पूरी होनेपर किसीको रोका नहीं जा सकता, नहीं तो उलटे उनको सजा हो जाती। हारकर उन्होंने घीका कनस्टर दिया, वसन्तपञ्चमीको सवेरे यज्ञ हुआ। पण्डित कृष्णचन्द्र शर्मा हमारे पुरोहित थे। यज्ञके अन्तमें प्रसाद बाँटनेके बाद हमने वेचनको जेलवालोंके हवाले कर दिया।

मेरा अधिकतर समय पढ़नेमें बीतता था। थोड़ा-सा चर्खा भी चला लेता था। इतना सूत कात लिया था कि बाहर आकर उससे एक धोती बिनी गयी। पर मुझे अच्छी तरह कातना कभी नहीं आया। मेरा सूत टाट जैसा मोटा होता था। जिस सूरती रुईसे और लोग ४०-५० नम्बरका सूत निकालते थे मैं उसमेंसे कभी १०-१२ नम्बरसे अधिक बारीक सूत न निकाल पाया। और बहुत-से साथी पढ़ने और कातनेके सिवाय खेल-कूदमें भी काफी समय काट लेते थे। यह कम लोग जानते होंगे कि आचार्य कृपालानी पेड़पर बहुत अच्छा चढ़ सकते हैं। कमसे कम लखनऊ जेलमें तो उनको और पण्डित शिवविनायक मिश्रको एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूद जाते देखकर संस्कृतका 'शाखामृग' शब्द याद आ जाता था। मशायरा, कवि-सम्मेलन, सभी कुछ होता था।

जेलमें जिन मित्रोंसे भेंट हुई उनमेंसे कई आगे चलकर राष्ट्रके जीवनमें ऊँचे पदोंपर पहुँचे। डॉ० मुरारीलाल, पण्डित बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्री रफी अहमद किदवई, चौधरी खलीकुज्जमाँ, इन सबसे पहिली मुलाकात जेलमें ही हुई थी।

जेलमें सब प्रौढ़ ही नहीं थे, युवक भी थे, लड़के भी थे। युवकोंमें श्री विचित्रनारायण शर्माका नाम उल्लेख्य है। यह इस समय गान्धी

आश्रमके मन्त्री हैं। उत्तरप्रदेश शासनमे मन्त्री रह चुके है। लडके कई थे, परन्तु दोका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। दोनो ही १३-१४ सालके थे। एक तो कमलापति त्रिपाठी और दूसरे रघुनाथसिंह। कमलापतिजीने विद्वत्ता और कार्यकुशलताके लिए ख्याति प्राप्त की है, वह योग्य सार्वजनिक कार्यकर्ता, पत्रकार, ग्रन्थकार और शासक है, प्रभावशाली वक्ता है। श्री रघुनाथसिंहने सार्वजनिक कार्यकर्ता और पार्लियामेण्टके सदस्यकी हैसियतसे ख्याति अर्जित की है। इन दोनो व्यक्तियोकी भॉति जनसेवाको इतना दीर्घ काल देनेका सौभाग्य कम लोगोको मिला होगा।

मैं चन्द्रशेखर आजादका चर्चा पहिले कर चुका हूँ। आजादकी भी लडकपनकी उम्र थी। यो तो संस्कृत छात्र समितिके सभी सदस्य प्रशसाके पात्र थे, परन्तु कार्यक्षमता और निर्भीकतामे आजादका कोई समकक्ष नही था। हमारी गिरफ्तारीके बाद आजादकी भी गिरफ्तारी हुई। लडकेको बडी बेदर्दीसे बेंत लगाये गये। हर प्रहारपर 'वन्देमातरम्' कहता गया। बाहरी घाव तो भर ही गया परन्तु हृदयमें अपमानने जो घाव किया वह यावज्जीवन बना रहा। सरकारने अपनी मूर्खता और बर्बरतासे एक बालकको अपना कट्टर शत्रु बना लिया। साम्राज्य यों ही अपनी कब्र खोदते है और क्रान्तिकारियोकी सृष्टि करते है।

आन्दोलनका जो जोर पहिले दस-बारह दिन देख पडा वह बहुत दिनोतक न टिक सका। जेल आनेवालोकी संख्या घटती गयी। कुछ दिनोंके बाद नयी मूर्तियोंके दर्शन दुर्लभ हो गये। इसमे कोई आश्चर्यकी बात नही थी। पहिला आन्दोलन था, पहिलेसे कोई तैयारी नही थी, इतने दिन चला, इतने व्यक्ति जेल आ गये, यही बहुत था। आन्दोलनके ठण्ढे होनेपर सरकारने एक कमेटी बैठायी जिसने लोगोंकी सजाओपर पुनर्विचार किया। मेरी सजा सालभरसे घटाकर छ महीने कर दी गयी। जुर्माना अंशतः वसूल हो चुका था।

चौरी-चौराके हत्याकाण्डके बाद महात्माजीने आन्दोलनको स्थगित कर दिया। क्रोधमे आकर जनताने जिस प्रकार कुछ पुलिसवालोके प्राण

लिये उसका समर्थन तो कोई नहीं कर सकता था, परन्तु आन्दोलनका स्थगित किया जाना बहुत लोगोंको अच्छा नहीं लगा। इतने बड़े देशमें कहीं कोई हिंसात्मक काम न हो जाय इसका दायित्व कौन ले सकता था? यदि किसी कोनेमें हिंसा हो जानेसे हम अपना काम रोक दिया करेंगे तो आगे बढ़ना असम्भव हो जायगा, और फिर यह तो सरकारके हाथमें प्रबल शस्त्र देना है। जब कभी कोई आन्दोलन छिड़ेगा, सरकार दो-चार आदमियोंको उभारकर हिंसा करा देगी और हमारे नेतागण काम रोक देंगे। हम हाथपर हाथ रखकर बैठे रह जायँगे। इससे बहुत क्षोभ था। परन्तु थोड़ी गम्भीरतासे विचार करनेसे यह समझमें आता था कि महात्माजीने जो कुछ किया वह ठीक किया। एक तो आन्दोलन ठण्डा हो रहा था, थोड़े दिनोंमें समाप्त हो जाता। चतुर सेनानी अपनी सेनाको पूर्णतया हार जाने या उसमें भगदड़ मच जानेके पहिले उसे स्वयं पीछे हटा लेता है। अपने सेनापतिकी आज्ञासे पीछे हटना शत्रुसे हारकर पीछे हटनेसे अच्छा होता है। दूसरी बात यह थी कि जनताको भी आवश्यक पाठ पढ़ाना था। यह बात साफ कर देनी थी कि जब महात्माजी और कांग्रेस कोई कदम उठानेकी बात करते हैं तो भेड़ियाधसान नहीं चाहते, अनुशासन चाहते हैं। उनके मुँहसे निकला 'अहिंसा' शब्द पत्थरकी लकीर है। यदि उनके आदेशोंकी अवहेलना हुई तो फिर वह देशके नेतृत्वका दायित्व अपने ऊपर नहीं लेंगे।

इसके दो-तीन साल बाद हमने इस आन्दोलनके सम्बन्धमें एक विचित्र आलोचना सुनी। उत्तरी अफ्रीकासे त्रिपोलीके एक नेता काशी आये थे। उनका नाम अब्दुल करीम था। वह काशी विद्यापीठ भी आये थे। वहीं भेंट हुई। कहते थे: 'जब भारत जैसा विशाल देश अंग्रेजोंके अधीन है तो हम छोटे-छोटे देश जो फ्रांस और इटलीके अधीन हैं, हतोत्साह हो जाते हैं। आप नहीं जानते कि अफ्रीकासे लेकर चीनतक लोग आपको क्या कहते हैं। जब कहीं बलवा होता है तो भारतीय सिपाही भेजे जाते हैं। इसीसे लोग कहते हैं कि यह नालायक स्वयं तो पराधीन है

ही हमको भी पराधीन बनाने आते है। १९२१ मे आपके असहयोग आन्दोलनसे हम सबको साहस बँधा। हमारे विदेशी शासक भी काँप रहे थे कि यदि भारत स्वतन्त्र हो गया तो यह सब देश भी हमारे हाथसे निकल जायँगे। पर आप ऐसे योद्धा है कि तीन महीने भी न टिक सके, कमर खोल दी। आपका तो जो कुछ हुआ वह हुआ, परन्तु हमारे शासक और कडे पड गये। उनको यह दृढ विश्वास हो गया कि इन रगीनोके किये कुछ न हो सकेगा।' सिवाय सिर नीचा करके सुन लेनेके, हम और कर ही क्या सकते थे ?

३१ दिसम्बर १९२१ आया और गया। स्वराज्य नही मिला। जो लोग समझते थे कि सालभरमे देश स्वतन्त्र हो जायगा, बहती गगामे हम भी हाथ धो ले, वह निराश हुए। उनकी समझमे यह बात आ गयी कि यह बडी लम्बी लडाई है, इसमे बहुत कष्ट उठाने होंगे, इस घरफूँक सौदेसे दूर रहना ही अच्छा है। वह अलग हो गये। फिर किसी आन्दोलनमे उनका साहचर्य हमको न मिला। देशके समझदार लिबरल विचारवालोंको भी सिर उठानेका अवसर मिला। किसीने कहा था :

इस सादगी पै कौन न मर जाय ऐ खुदा।
लडते हैं मगर हाथमें हथियार भी नहीं।

इसीको वह कहते थे . स्वाधीनता अच्छी चीज है परन्तु शस्त्र बिना कैसे मिल सकती है ? हम पहिले ही कहते थे। कई जगह बहुत कडा दमन हुआ, जुरमानोकी वसूलीमे लोग उजड गये। यह सब हुआ, परन्तु स्वाधीनताकी लगन कम नही हुई। जो मतवाले इस नशेमे जेल गये थे उनकी प्यास बुझी नही थी। कष्ट झेले, कोई हँसा, किसीने सच्ची या झूठी सहानुभूति दिखलायी, परन्तु यह लोग अपनी जगह अटल रहे। प्रतीयमान असफलताने उत्साहको और भी बढा दिया। महात्माजी कबीरके शब्दोंमे कह सकते थे :

मेरा मारा फिर जियै, तो हाथ न गहूँ कमान।



: ७ : कम्युनिज्मसे पहिली भेंट

कम्युनिज्मके लिए समय-समयपर हिन्दीमें कई नाम निकाले गये हैं। साम्यवाद, वर्गवाद, मार्क्सवाद, यह सभी नाम सामने आ चुके हैं। मार्क्स इसके प्रवर्तक थे, इसलिए मार्क्सवाद कहना तो ठीक है ही, शेष नाम इसके अर्थका ठीक-ठीक द्योतन नहीं करते। वर्गवाद तो बिलकुल ही गलत है। मैंने प्रायः सर्वत्र 'कम्युनिज्म'का ही व्यवहार किया है। जगत्प्रसिद्ध नाम है और इसका ध्वनितार्थ भी व्यापक है।

जेलसे आनेके बाद मैंने फिर 'मर्यादा'का सम्पादन सँभाला। इस काममें लगभग छ महीने लगे रहनेके बाद मैं काशी विद्यापीठमें दर्शनका अध्यापक हुआ। विद्यापीठ श्री शिवप्रसाद गुप्तकी उदारता, विद्याप्रेम और राष्ट्रीय भावनाका प्रतीक था। उसके लिए उन्होंने दस लाख रुपयेका न्यास स्थापित कर दिया था। विश्वविद्यालयस्तरकी शिक्षा दी जाती थी, परन्तु माध्यम हिन्दी थी। सरकारसे न सहायता ली जाती थी, न कोई अन्य सम्बन्ध था। अध्यापकोंमें श्री श्रीप्रकाश, स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव, स्व० पण्डित यज्ञनारायण उपाध्याय, पण्डित गोपाल शास्त्री, श्री रामशरण, श्री बीरबलसिंह और श्री धर्मवीर थे। इनमेंसे कुछ लोगोंने विभिन्न क्षेत्रोंमें देशव्यापी ख्याति पायी है। श्री रामशरण और श्री बीरबलसिंह पार्लियामेण्टके सदस्य हैं। डॉ० भगवानदासजी स्वयं अध्यापन करते थे।

विद्यापीठकी स्थापना १९२० में हुई। इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध राज-

नीतिसे नहीं था, परन्तु राजनीतिक पर्यावरणका प्रभाव पडना तो अनिवार्य था। इसके सस्थापक और अध्यापक काग्रेसजन थे और छात्रोमे प्रायः वही लडके थे जो काग्रेसके आदेशको मानकर असहयोग आन्दोलनमे आ गये थे और सरकारी समाश्रयप्राप्त कॉलेजों और विश्वविद्यालयोको छोड आये थे। ऐसे लोग राजनीतिकी जाग्रत्, उच्छल धारासे कब अलग रह सकते थे। फिर भी विद्यापीठके अधिकारियोने इस बातका भरपूर प्रयास किया कि सस्था १९२१ के आन्दोलनसे पृथक् रहे और व्यवस्थापकोमेसे डॉ० भगवानदास तथा अध्यापकोमेसे गणिताध्यापक श्री धर्मवीरके सिवाय कोई जेल नहीं गया। शिक्षासस्था राजनीतिसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रखे, यह बात सिद्धान्ततः ठीक हो सकती है, परन्तु देशकालकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जब चारो ओर आग लगी हो तो बीचमे बैठकर भैरवी नहीं गायी जा सकती। प्रबन्धकोंके निर्णयसे काफी असन्तोष रहा और जनतामे भी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं हुई। परन्तु १९२१ के बाद यह लाञ्छन धुल गया, प्रत्येक आन्दोलनमे विद्यापीठके अध्यापक और छात्र आगे रहे। जिलेका ही नहीं, प्रदेशका काग्रेस-कार्य विद्यापीठके अध्यापकों और छात्रोंने सँभाला। इमारतपर पुलिसका कब्जा होता था, जिन कमरोमे पढाई होती थी उनमे अनाजके बोरे भरे गये। स्वतन्त्रता प्राप्तिके बाद भी विद्यापीठके कई शास्त्रियोने देशके सार्वजनिक जीवनमे अपने लिए ऊँचे स्थान प्राप्त किये और सस्थाकी यशोवृद्धि की। केन्द्रीय गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री, केन्द्रीय सूचनामन्त्री श्री बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर, उत्तरप्रदेशके भूतपूर्व शिक्षा और गृहमन्त्री श्री कमलापति त्रिपाठी, नियोजन आयोगके सदस्य श्री त्रिभुवननारायणसिंह, प्रसिद्ध श्रमिक नेता स्व० श्री हरिहरनाथ शास्त्री, दर्शन और समाजशास्त्रके विद्वान् श्री राजाराम शास्त्री और अखिल भारतीय अपराध निरोधन समितिके अध्यक्ष मेरे छोटे भाई श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, यह सब विद्यापीठके ही स्नातक थे।

विद्यापीठ केवल कॉलेज स्तरकी शिक्षा देने या छात्रोमे राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करनेके लिए नहीं खोला गया था। विचार यह था कि भारतीय

समाजका पुनर्व्यूहन भारतीय सस्कृतिकी आधारशिलापर किया जाय। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, जीवनके सभी अगोका सशोधन और सस्कार हो और विद्यापीठसे ऐसे स्नातक निकले जो इस कामके व्रती हो और अपने चरित्र तथा ज्ञानसे इस कामका बोझ उठा सके। यह उद्देश्य पूरा न हो सका। सघर्ष और उथल-पुथलके कालमे स्वभावतः राजनीतिको प्राथमिकता मिल गयी। किसीको यह सोचनेका अवसर ही न मिला कि भारतीय सस्कृतिके मूल तत्त्व क्या है, वर्तमान युगमे हम उनको किस प्रकार व्यावहारिक रूप देगे आदि। देशकी स्वाधीनताने नयी परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हमारे नेताओने सविधानमे, समाजके जीवनके लिए किसी प्रकारका दार्शनिक आधार रखना अनावश्यक समझा, बहुत-सी भारतीय बाते उनको पुरानी, बैलगाडी-युगकी, और इस परमाणुयुगके लिए प्रतिकूल प्रतीत होती है। जिस प्रकारका विचार विद्यापीठके सस्थापकोको उचित जँचता था वह समय नष्ट करनेके समान माना जाने लगा। और फिर विद्यापीठमे भी वह पुराने आदमी प्राय. नही रहे। वह स्वप्न स्वप्न ही रह गया।

मै इस बातका पहिले जिक्र कर चुका हूँ कि रूसमे जो कुछ हो रहा था उसको जाननेकी देशमे बहुत उत्सुकता थी। यह तो हम जानते थे कि वहाँ समाजवादी व्यवस्थाका प्रयोग हो रहा था, परन्तु समाजवादके तो कई भेद है। सबसे अधिक साहित्य तो ब्रिटिश समाजवादके सम्बन्धमे मिलता था, पर यह शैली तो बहुत दुर्बल थी। इसमे क्रान्ति जैसी बातके लिए जगह नही थी। सिद्धान्तरूपसे थोडा-बहुत ज्ञान समाजवादके दूसरे भेदोका भी था, परन्तु हम तो जानना चाहते थे कि रूसमे क्या हो रहा है। रूसके शासक समाजवादके मौलिक तत्त्वोकी कैसी मीमासा करते है और उसको कैसे व्यवहारमे लाते है। अग्रेजी अखबारोसे जो सामग्री मिलती थी उसपर विश्वास नही होता था। धीरे-धीरे हमारा मार्ग साफ हुआ। हम अग्रेजोके झूठे प्रचारसे मुक्त हो चले। रूसमे बहुत-सा साहित्य अग्रेजी भाषामे छापा जाता था। विशेषत. यह उन देशोमें प्रचारके

लिए होता था जो अंग्रेजी साम्राज्यमे थे। प्रचार तो प्रचार ही है, इस साहित्यमे भी झूठका अंश रहा ही होगा। जहॉ अंग्रेज रूसमे बुराई ही दिखलाते थे वहॉ रूसी साहित्य प्रशंसाके पुल बॉधता था। फिर भी उससे बहुत जानकारी होती थी। यह सब सामग्री कैसे लुकछिप कर आती थी, इसका पूरा ब्योरा मै भी नही जानता। कितने हाथ इस काममे लगे थे। कभी पुलिसको कुछ पता लग जाता था तो धार पतली पड जाती थी। मुझे तो श्रमनेता श्री राजाराम शास्त्रीसे, जो कानपुरमे रहते थे, बडी सहायता मिलती थी। इस तिकडमसे दूर रहना तत्कालीन राजनीतिकी एक बडी जीवित चहल-पहलकी ओरसे ऑख मूँद लेना था।

सन् १९२२ मे मुझे एतद्विषयक जानकारीका अपूर्व अवसर मिला। भूमिकाके रूपमे इतना जान लेना चाहिये कि खिलाफतके प्रति ब्रिटिश सरकारकी नीतिसे रुष्ट होकर कुछ मुसलमान देश छोडकर चले गये। यह लोग महाजरीन, हिजरत करनेवाले, कहलाते थे। इनको आशा थी कि अफगानिस्तान मुसलिम देश है, हमको आश्रय देगा, परन्तु ऐसा नही हुआ। काबुलमे इन लोगोके साथ रूखा बरताव हुआ। इनमेसे कुछ लोग रूस चले गये। वहॉ इनको शरण मिली। रूसी क्रान्ति और समाजवाद, मुख्यत कम्युनिज्मकी शिक्षा दी गयी और परतन्त्र देशोमे अशान्ति फैलाने और क्रान्ति करानेकी पद्धतिकी दीक्षा दी गयी। फिर यह लोग भारत भेजे गये। अब इनको अपनी शिक्षाको चरितार्थ करना था।

इन लौटे हुए महाजरीनमे शौकत उसमानी भी थे। यह बीकानेरमे मेरे छात्र थे। भावुकता कूट-कूटकर भरी हुई थी, अली-बन्धुओके गुणोपर इतने मुग्ध थे कि कुछ दिनोके लिए अपना नाम बदलकर मुहम्मद शौकत कर लिया। खुलकर लौटना तो सम्भव नही था। रूससे लौटा हुआ भारतीय कहॉ जनतामे खुलकर रह सकता था। भेष और नाम बदलकर, किसी प्रकार छिप-छिपकर आ गये। काशी आये और किसी कश्मीरी होटलमे ठहरे। उनके बीकानेरके एक सहपाठी हिन्दू विश्वविद्यालयमे पढते थे। उनसे मिले, फिर उनके साथ मेरे यहॉ आये। कई बार मुझसे मिले।

रातमे आते थे। उनसे रूसकी बहुत-सी बाते ज्ञात हुई, साहित्य भी मिला। मेरा पत्र लेकर कानपुर गये, श्री गणेशशंकर विद्यार्थीसे मिले। उन्होने कानपुरमे ठहरनेका प्रबन्ध कर दिया।

अपनी समझमे तो महाजिर और उनके मित्रोने बडी सावधानीसे काम किया और अपनी गतिविधिको गुप्त रखनेकी पूरी चेष्टा की, परन्तु पुलिस सतर्क थी और बादमे ज्ञात हुआ कि उसको सब बातोका पूरा पता था। कौन किससे मिला, कहाँ मिला, किसके साथ मिला, कितनी देरतक बाते हुई, सारा ब्योरा उसके पास था। पूरी तैयारी करके १९२३ के मई महीनेमे एक दिन सवेरेके समय सारे देशमे १५-२० जगह पुलिसका धावा हुआ। प्राय. सभी महाजिर गिरफ्तार हो गये, कुछ और लोग भी पकडे गये और बहुत-से जरूरी कागज पुलिसके हाथ लगे। मेरे मकानपर भी पुलिस आयी और तलाशी ली। बहुत-से कागज थे, मेरे छोटे भाई परिपूर्णानन्दने, जिनकी उम्र उस समय १४-१५ सालकी थी, उनको जल्दीसे उस जगह छिपा दिया जहाँ पूजाका घर था। पुलिसको कोई चीज नही मिली। उनके पास गिरफ्तारीका वारट था। पर गिरफ्तारी न कर सके। जो मुकदमा चला उसमे और कागजोंके साथ स्व० श्री एम० एन० रायके कुछ पत्र पेश हुए जो शौकत उसमानीके पास मास्कोसे आये थे। उनमे उसमानीको यह परामर्श दिया गया था कि सम्पूर्णानन्दको मिलाओ, उनके द्वारा जवाहरलालको मिलाया जा सकेगा। यह बात तो सिद्ध हुई कि इन कम्युनिस्टोसे मेरा मिलना-जुलना था, परन्तु यह प्रमाणित न हो सका कि मै उनके साथ मिल गया था, उनसे किसी दृष्टिसे प्रभावित हुआ। सच बात यह है कि मेरी प्रवृत्ति कम्युनिस्ट होनेकी तो नही हुई और रूसमे जो कुछ हो रहा था वह मुझे पूराका पूरा पसन्द भी नही था, फिर भी मुझपर पर्याप्त प्रभाव पडा था। वहॉकी कई बाते ऐसी थी जो अच्छी लगती थीं और भारतके लिए प्रयोज्य प्रतीत होती थीं। उस समय-तक भारतमे कम्युनिस्ट पार्टी स्थापित भी नही हुई थी। यह काम तो एम० एन० रायके लौटनेपर हुआ, इसलिए किसीके पार्टीमे सम्मिलित

होनेका प्रश्न उठ ही नहीं सकता था। कुछ बातोंमे रूस और भारतकी परिस्थितियाँ मिलती थी, इसलिए ऐसा प्रतीत होता था कि समाजवादी पद्धति भारतके लिए भी उपयुक्त होगी। उदाहरणके लिए, जमींदारी प्रथाके उन्मूलनकी आवश्यकता यहाँ भी प्रतीत होती थी परन्तु ज्योंका त्यो अनुकरण न करणीय था, न सम्भव। रूसमे कम्युनिस्टोको ईसाई धर्मसस्थानका खुलकर प्रबल विरोध करना पडा। धर्माचार्योने कम्युनिज्मका विरोध किया। भारतमे उस प्रकारका धर्मसस्थान है ही नहीं। धार्मिक प्रमुखोने कभी राजनीतिक क्रान्तियोका विरोध नहीं किया। कई साधु-सन्यासी स्वाधीनता आन्दोलनमे जेल गये थे। अतः यहाँ धर्मविरोधी आन्दोलन चलाना लाभदायक होना तो दूर रहा, हानिकर होता। रूसमे भूमि बहुत थी और जनसख्या कम, भारतमे भूमि कम थी और जनसख्या अधिक, इसलिए भी रूसी क्रान्तिका कार्यक्रम यथावत् इस देशमे नही चलाया जा सकता था। हमारी परिस्थितियाँ स्वय इस प्रकारकी विचार-धाराको उभारती, परन्तु रूसी क्रान्ति और कम्युनिज्मके सिद्धान्तोने विचारोंमे अधिक तीव्रता और गम्भीरता ला दी, इसमे सन्देह नहीं।

उन दिनो देशमे एक महत्त्वपूर्ण विवाद चल पडा था। मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार योजनाके अनुसार नयी व्यवस्थापक सभाओका चुनाव होनेवाला था। कुछ काग्रेसजनकी यह राय हुई कि काग्रेसको भी उम्मीदवार खडे करने चाहिये जो विधानसभाओके भीतर जाकर असहयोगकी नीति बरते। पण्डित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चितरञ्जनदास तथा पण्डित मदनमोहन मालवीय इसी पक्षमे थे। काग्रेसजन इस प्रश्नको लेकर दो भागोंमे बँट गये। जो लोग चुनावमें भाग लेनेके पक्षमे थे, वह परिवर्तन-वादी कहलाते थे, शेषको अपरिवर्तनवादी कहा जाता था। १९२२ के दिसम्बरमे गयामे काग्रेसका अधिवेशन हुआ। यही मुख्य विचारणीय विषय था। लगभग नौ दिनतक वादविवाद होता रहा। स्वागत् समितिने जो प्रबन्ध किये थे वह सब समाप्त हो गये। अधिवेशन दो-तीन दिनतक चलता है। नौ दिनके लिए कहाँतक प्रबन्ध किया जाय। देशबन्धु चितरञ्जन

दास अध्यक्ष थे। घण्टों बहस होती रहती, वह शान्तिसे बोलनेवालोंको अवसर देते जाते। विधानसभाओंमें प्रवेश करनेके सबसे कट्टर विरोधी मुसलमान मौलवी थे। उन दिनों कांग्रेसमें इनकी बहुत बड़ी संख्या थी। इनका एक पाँव कांग्रेस, दूसरा खिलाफत कमेटीमें होता था। जो मौलवी मंचपर आता वह कुरान और हदीस तथा दूसरे ऐसे ही ग्रन्थोंसे अरबीके लम्बे अवतरण उपस्थित करता और फिर उनकी व्याख्या करता। घण्टे-दो-घण्टेसे कम कोई बोलता ही न था। ऐसा लगता था जैसे इन धर्मग्रन्थोंमें इसी राजनीतिक प्रश्नकी उधेड़बुन की गयी है। स्पष्ट ही यह लोग अर्थको तोड़-फोड़कर अपना उद्देश्य सिद्ध कर रहे थे। सुनते-सुनते जी ऊब गया। अन्तमें एक युक्तिसे काम लिया गया। हममेंसे कुछ युवक सदस्योंने यह प्रस्ताव किया कि इस प्रश्नका अन्तिम निर्णय स्थगित रखा जाय और काशीके पण्डितोंसे व्यवस्था माँगी जाय कि हिन्दू धर्मशास्त्र इस सम्बन्धमें क्या कहते हैं। इस हास्यमय सुझावने, जिसे बड़ी गम्भीर मुद्रासे पेश किया गया था, बातचीतका रूप बदला। सबको ही लगा कि मजहबकी बहुत बातें हो गयीं, राजनीतिक प्रश्नको राजनीतिक ढंगसे ही सुलझाना चाहिये। कुरानकी आयतोंका प्रवाह रुक गया। और सब प्रबन्ध तो टूट ही गये थे, वक्ताओंके गले भी जवाब दे गये थे। अकेले श्री राजगोपालाचारीका गला ठीक था। उनको कुछ लोग मजाकमें कापालिक कहते थे। कौंसिल-प्रवेशके कट्टर विरोधी थे। अन्तिम दिन अध्यक्ष महोदयने हमारे मित्र श्री शिवप्रसाद गुप्तसे सहायता ली। शिवप्रसादजीका स्वर बहुत बलिष्ठ था। अध्यक्ष अपने बैठे गलेसे जो कुछ कहते थे उसे शिवप्रसादजी दुहराते थे। उन दिनों लाउड स्पीकरोंका चलन नहीं था, शिवप्रसादजी सजीव लाउड स्पीकर बने हुए थे। यह सहायता उनको उभय पक्षके कई वक्ताओंको देनी पड़ी।

कांग्रेसने कांग्रेसजनका विधानसभाओंमें जाना स्वीकार तो किया पर संकुचित ढंगसे। परिवर्तनवादियोंने स्वराज्य पार्टी बनायी थी। यह अनुमति दी गयी कि कांग्रेसके नामसे कोई उम्मीदवार खड़ा न किया जाय

परन्तु जो कांग्रेस सदस्य स्वराज्य पार्टीकी ओरसे खडा होना चाहे वह ऐसा कर सकता है। अपरिवर्तनवादी कांग्रेसजन निजी हैसियतसे उसकी सहायता करेंगे। कमसे कम कोई विरोध न करेगा।

मै स्वय परिवर्तनवादी हो चुका था। परन्तु मैने यह निश्चय किया कि स्वराज्य पार्टीकी ओरसे खडा न हूँगा। यदि कभी कांग्रेस अपने नामसे उम्मीदवार खडा करेगी तभी मै विधायक बननेकी बात सोचूँगा। गया कांग्रेसके अवसरपर मैने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीके सदस्योके पास एक पुस्तिका छपवाकर बॉटी। उसमें कांग्रेसके लिए भावी कार्यक्रमके सुझाव थे। इसमे विधानसभाओमें प्रवेश करना भी सम्मिलित था। जो कार्यक्रम मैने बनाया था उसपर निश्चय ही कम्युनिस्ट वाङ्मयके अध्ययन और रूसी सरकारके कामोकी छाप थी।



: ८ : १९२३ से १९२९

इन सात वर्षोंकी कुछ घटनाओकी चर्चा तो पूर्ववर्ती अध्यायमे हो चुकी है। कम्युनिज्मसे जो सम्पर्क हुआ वह थोडा-बहुत बढता ही गया और यत्र-तत्र बहुत-से लोगोके मनमे यह विचार जमता गया कि अपने देशका कल्याण तभी होगा जब स्वराज्यके साथ-साथ यहाँ किसी-न-किसी रूपमे समाजवादी व्यवस्था कायम की जायगी। यह कैसे होगा इसके विषयमे स्पष्ट राय नही थी। हमारे समाजवादका रूप क्या होगा यह भी स्पष्ट नही था। इस विषयका चर्चा इतना कम होता था कि जो लोग समाजवादी विचार रखते थे वह एक-दूसरेसे अनभिज्ञ थे।

१९२३ मे उत्तरप्रदेशमे म्युनिसिपैलिटियोका चुनाव हुआ। प्रादेशिक काग्रेस कमेटीने यह तय किया कि जिन नगरोमे सम्भव हो, काग्रेसकी ओरसे उम्मीदवार खडे किये जायॅ। प्रायः सभी बडे नगरोमे काग्रेस विजयी हुई। लखनऊ, प्रयाग, काशी इन सबमे काग्रेसका बहुमत हुआ और काग्रेसका ही अध्यक्ष चुना गया। मै स्वय नगरके चेतगज वार्डका प्रतिनिधि था और तीन सालोमे क्रमात् चुगी, स्वास्थ्य और शिक्षा समितियोंका अध्यक्ष रहा। इस प्रकार हम लोगोको शासनका उपयोगी अनुभव प्राप्त हुआ। शिक्षासमितिके अध्यक्षकी हैसियतसे मुझे शिक्षा-सुपरिण्टेण्डेण्ट चुननेका अवसर मिला। इस पदपर श्री रामेश्वरसहाय सिनहा नियुक्त हुए। वह सब-डिप्टी इन्सपेक्टर ऑव स्कूल्स थे। इसीलिए आज भी डिप्टी साहब कहलाते है। १९२१ मे नौकरी छोड दी। जेल गये। काशीमे नियुक्त

होनेके बाद भी हर आन्दोलनमे जेल गये। तीन सालतक हरदोई जिलेसे असेम्बलीके सदस्य थे। तीन सालतक राजनीतिक पेंशन विभागके अवैतनिक अधिकारी रहे। वह बड़े ही धार्मिक प्रकृतिके मनुष्य है और स्वामी रामतीर्थके नामपर स्थापित श्री रामतीर्थ प्रतिष्ठानके मन्त्री है। उनके जैसे सच्चे मित्र और परोपकारी व्यक्ति देखनेमे कम आते है। लोकसेवाकी प्रवृत्ति उनका सहज गुण है।

हमारे बोर्डके अध्यक्ष डॉ० भगवानदासजी थे। दूसरे सदस्योमे स्व० श्री शिवप्रसादगुप्त, श्री श्रीप्रकाश तथा स्व० डॉ० अमरनाथ बनर्जीके नाम विशेष रूपसे उल्लेख्य है। बोर्ड लोकप्रिय था और उसकी नगरमे तथा बाहर प्रतिष्ठा थी। म्युनिसिपल शासनमे बहुत सुधार हुआ, आय बढी और बोर्डकी बैठके समयसे तथा गम्भीरतापूर्वक होने लगी। रिश्वत कम हो गयी, लोगोको तग करना बहुत कम हो गया। रिश्वतके सम्बन्धमे डॉ० भगवानदासकी एक उक्ति याद आती है: 'न लेना तो सबसे अच्छा है परन्तु यदि लेना ही हो तो शुकराना लिया करो, जबराना नही।' इसका तात्पर्य यह है कि काम करके इनाम माँग सकते हो पर यह नहीं कह सकते कि यदि रिश्वत न मिली तो काम न करूँगा।

सरकारी अफसरोको भला यह बात कहाँ अच्छी लग सकती थी कि कांग्रेसजन अपने सुशासनके लिए ख्याति प्राप्त करे। काम सँभाले एक साल भी नही हुए थे कि २२ जनवरी १९२४ को तत्कालीन कमिश्नर श्री ममफर्डने प्रादेशिक सरकारको लिखा कि 'इस बातका कोई प्रमाण नही है कि सदस्योमे अपने दायित्वको क्षमता और मितव्ययिताके साथ निबाहनेकी योग्यता और अनुभव है' और यह राय दी कि बोर्डको निलम्बित करके उसका काम किसी अनुभवी अफसरको पाँच वर्षके लिए सौप दिया जाय। इस पत्रका उत्तर फरवरीमें गया। उत्तर ऐसी सौजन्यपूर्ण तथा कड़ी भाषामे था जैसी सरकारको देखनेको कम ही मिलती होगी। कमिश्नरकी एक-एक बातका तर्कसम्मत पुष्ट खण्डन था। इस बातपर आश्चर्य और कुतूहल प्रकट किया गया कि बोर्डके सदस्योंमे व्यापारी,

पत्रकार, डाक्टर, अध्यापक होते हुए यदि काम खराब है तो सरकारके पास ऐसे कौन-से विलक्षण अफसर है जिनमे इन सबकी सम्मिलित योग्यता है और इतनी क्षमता है कि सब सदस्योका काम वह अकेले कर सके। बहरहाल सरकारने कमिश्नरका परामर्श नही माना, बोर्ड रह गया और पूरे तीन सालतक जनताकी सेवा करता रहा। दूसरे चुनावके समय प्रदेशने यह तय किया कि काग्रेसकी ओरसे तो उम्मीदवार न खडे किये जायँ, परन्तु व्यक्तिगत रूपसे जो लोग चाहते हो वह खडे हो सकते है। काशी और दूसरे बडे नगरोमे प्रमुख काग्रेसजन नही खड़े हुए।

१९२५ मे मेरी लडकी सरोजिनीका विवाह हुआ। अब तो न वह है न उसके पति है। इस पारिवारिक घटनाका जिक्र इसलिए करता हूँ कि इसके कारण मुझको पहिली बार वादीके रूपमे न्यायालयके सामने जाना पडा। उन दिनो काशीमे 'सूर्य' नामका साप्ताहिक पत्र निकलता था। विवाहके बाद ही उसमे यह टिप्पणी निकली कि स्थानीय म्युनिसिपल बोर्डके ऋषि समझे जानेवाले एक सदस्यकी कन्याका विवाह हुआ। उसके लिए ऐल्युमिनियमके एक कारखानेवालेसे बर्तन लिये गये और उसका जमीनका मामला तय हो गया। नाम नही दिया गया था परन्तु स्पष्ट ही यह टिप्पणी मेरे सम्बन्धमे थी। मैने श्री पुरुषोत्तमदास सफरीवाले-के शकर ऐल्युमिनियम फैक्टरीसे किरायेपर बर्तन लिये थे। जमीनकी कथा यह थी कि कारखानेवालोने सरकारी सडककी थोडी-सी जमीन दबा ली थी। बोर्डके सदस्यकी दृष्टिसे मैने इसकी शिकायत की थी। फिर बोर्डकी सार्वजनिक निर्माण समितिने किन्ही शर्तोपर मामलेको तय कर दिया। मै उक्त समितिका सदस्य भी नही था।

यह अखबार काग्रेसजनके सम्बन्धमे बहुत-सी अनर्गल बाते लिखा करता था। जाति-बिरादरीकी भावनाको भी भडकाया करता था। सब चुप थे, क्योकि काग्रेसने न्यायालयोके बहिष्कारकी आज्ञा निकाल रखी थी। सम्भवतः इसी भ्रममे वह इस बार भी यह टिप्पणी लिख गया कि कोई कुछ कर न सकेगा। परन्तु कुछ ही मास पूर्व बेलगॉवमे काग्रेसने

बहिष्कार उठा लिया था। मैंने दीवानी अदालतमे ५००० रु० का मानहानिका मुकदमा दायर किया। सभी काग्रेसजनका मुझे नैतिक समर्थन प्राप्त था। आरोप निराधार तो था ही, मेरा जीतना निश्चित था। एक-दो पेशीके बाद प्रतिवादीने यह प्रस्ताव रखा कि श्री सी० वाई० चिन्तामणिको पच मानकर मामला उनके सुपुर्द कर दिया जाय। इस प्रस्तावने मुझे धर्मसकटमे डाल दिया। मेरे सभी मित्र इसके विरुद्ध थे। उनका कहना था कि श्री चिन्तामणि प्रदेशके प्रमुख लिबरल नेता है और यह पत्र अपनेको काशीकी लिबरल पार्टीका मुखपत्र कहता है। अतः श्री चिन्तामणिके लिए निष्पक्ष विचार करना असम्भव होगा। शका निस्तथ्य नही थी। परन्तु मैंने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मेरा यह कहना था कि यदि मै श्री चिन्तामणिके लिबरल होनेके कारण उनको स्वीकार नही करता तो सभी भारतीय नेताओपर लाञ्छन लगता है। यह मानना होगा कि न्यायकी गद्दीपर बैठकर भी भारतीय पक्षपात नही छोड सकता। फिर तो मै भी अविश्वसनीय हुआ। मित्रोको मेरा तर्क बहुत पसन्द नहीं आया। पर मैंने अपना आग्रह नही छोडा। भगवान्‌ने मेरी निष्ठाकी लाज रख ली। श्री चिन्तामणिका निर्णय मेरे पक्षमे हुआ। मै जीत गया।

पिताका देहान्त तो हो ही चुका था, १९२८मे माताका भी देहान्त हो गया। मै उस समय काशीमे न था, मेरे मझले भाई अन्नपूर्णानन्द यूरोप गये हुए थे, अन्त्येष्टि छोटे भाई परिपूर्णानन्दने की। अतीतसे यह नाता भी टूट गया।

लोकमतके दबावसे भारत सरकारने सर ऐण्ड्र्यू स्कीनकी अध्यक्षतामे एक महत्त्वपूर्ण कमेटी नियुक्त की थी जिसका नाम इण्डियन सैंडहर्स्ट कमेटी था। इसे सक्षेपमे स्कीन कमेटी भी कहते थे। इसके दो मुख्य उद्देश्य थे—एक तो इस विषयकी जॉच करना कि भारतमें सैंडहर्स्टकी भॉति सैनिक कॉलेज खोलना उचित होगा या नही, दूसरे यह कि सभी प्रकारके भारतीय सेनामे अफसर नियुक्त हो सकते है या नही। इसके पहले कुछ थोडे-से

भारतीय चुनकर इग्लैण्ड भेजे गये थे। उन्होंने सैडहर्स्ट कॉलेजमे शिक्षा पायी थी। वह सेनामे अफसर थे। जिस सख्यामे ऐसे अफसरोंकी भरती हो रही थी उससे तो सम्पूर्ण भारतीयकरणमे लगभग दो सौ वर्ष लगते, महायुद्ध-कालमे इन्दौरमे सक्षिप्त शिक्षा देकर कुछ भारतीयोको अफसर बना लिया गया था। परन्तु भारत सरकारने भारतीय जनताको दो वर्गोंमे बॉट रखा था : मार्शल और नान-मार्शल, युद्धप्रिय और अयुद्धप्रिय। राजपूत, पठान, गुरखा, सिक्ख, मराठा यह युद्धप्रिय थे। इन्हींके लिए सेनामे स्थान थे, शेषके लिए नही। भारतीय लोकमत भारतमे सैनिक कॉलेज खोलनेके लिए आग्रह करता था, भारतीयकरणकी प्रगति बढानेके पक्षमे था और इस विभाजनके विरुद्ध था। इसीलिए कमेटी नियुक्त हुई थी।

उसके सदस्योंमे पण्डित मोतीलाल नेहरू भी थे। उन्होने कमेटीके कामके लिए मुझे अपना सेक्रेटरी बनाया। मै काशी विद्यापीठसे छुट्टी लेकर उनके साथ हो गया। काम बहुत रोचक था। सैनिक शिक्षा और देशकी रक्षाके सम्बन्धमे बहुत-से ऐसे कागज देखनेमे आये जो अन्यथा सर्वथा गोप्य रहते। जो लोग कमेटीके सामने साक्ष्य देने आते थे उनमेसे बहुतोंकी बातें सुनने और पढने योग्य होती थी। मैं पहिले उनके लिखित बयानको पढकर उनके मुख्य कथनोका नोट पण्डितजीको दे देता, फिर वह दिनमे इसी आधारपर उनसे प्रश्न करते। कुछ अग्रेजोने बहुत ही अच्छी राय दी थी और कुछ भारतीयोने बहुत ही बुरी। जो भारतीय अफसर बनाये जा चुके थे उनकी बात सुनने योग्य होती थी। उनमेसे कई विभाजनके पक्षपाती थे। इस सम्बन्धमे सबसे बुरा रुख सिख अफसरोका था। वह एक स्वरसे विभाजनके पक्षमे थे और दूसरो, विशेषतः खत्रियो और बनियोके अफसर बनाये जानेके कट्टर विरोधी थे। चार-पॉच दिनोतक लगातार इनका ही साक्ष्य होना था। रिपोर्टमे इस प्रकारकी बातका होना अच्छा नहीं लगता था। मैने पण्डितजीको एक सुझाव दिया। वह बहुत अच्छा तो नही था परन्तु 'विषस्य विषमौषधम्' समझकर मैने वह राय दी। मेरा कहना यह था कि यह प्रश्न पूछे जायॅ

कि सिख-धर्म दूसरोको सिख बनाता है। कोई जन्मका बनिया या खत्री भले ही हो, पर वह सिख बन सकता है। तब उसकी गणना युद्धप्रियोमे हो जायगी। फिर तो जन्मके आधारपर अफसरीकी योग्यता नही मानी जा सकती। फिर, पजाबमे सिख-असिख परिवारोमे विवाह होता है। इन विवाहोसे उत्पन्न सन्तान क्या मानी जायगी? और सबसे बडी बात यह कि दसो गुरु, जिन्होने सिखोको सिख बनाया, जन्मना खत्री थे। तो क्या वह लोग सैनिक अफसरीके लिए अयोग्य थे? पहिले तो पण्डितजी ऐसे प्रश्न पूछनेपर राजी न हुए, पर दो दिन बीत गये और वही अराष्ट्रीय गवाही आती रही। अभी कमसे कम दो दिन और थे। उनको मेरी बात माननी पडी। तीसरे दिन उन्होने यह प्रश्न पूछे। गवाह क्षुब्ध और निरुत्तर हो गये। उनके साक्ष्यका रूप बदल गया। मेरा नाम तो न मिलेगा, परन्तु स्कीन कमेटीकी रिपोर्ट इस बातकी साक्षी है।

स्वराज्य पार्टी तीन सालतक कौसिलोंमें रह चुकी थी। उसके सदस्योने यथावसर अच्छा काम किया था। बगाल और उससे भी बढकर मध्यप्रदेशमें उसने शासनका काम चलाना कठिन कर दिया था। वह चाहते थे कि अगले चुनावके बाद उनको यह अनुमति दी जाय कि अपने ढगसे शासन चला सके। यह अनुमति नहीं मिली। परन्तु काग्रेसने अपनी ओरसे उम्मीदवार खडे करनेका निश्चय किया। इसके पहिले स्वराज्य पार्टीवालोको कौसिलोको छोड देनेका आदेश दिया गया। पण्डित मोतीलालजी स्कीन कमेटीसे पृथक् हो गये। इस १९२६ के चुनावमे मै काशीनगरके लिए खडा हुआ। मेरे विरुद्ध हिन्दू सभाके एक सज्जन थे। मै जीत गया।

उन दिनो शासन मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजनाके अनुसार चलता था। शिक्षा, स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण, आबकारी तो कौसिलके प्रति दायी मन्त्रियोके हाथमे थे। पुलिस, जेल, सामान्य प्रशासन, एग्जेक्युटिव कौसिलर लोगोके पास थे, जिनका सम्बन्ध सीधे गवर्नरसे था। उत्तरप्रदेशकी कौसिलमे लगभग सवा सौ सदस्य थे, जिनमेंसे बाईस या तेईस तो मनो-

नीत थे। सभी सेक्रेटरी और मुख्य विभागाध्यक्ष इस प्रकारसे बँटे थे। शेष कांग्रेस (संख्या २३) और लिबरल (संख्या २२)के अतिरिक्त जमींदार आदि सरकारके समर्थक थे। कुछ स्वतन्त्र भी थे परन्तु प्राय: तो वह सरकारके साथ ही होते थे।

कांग्रेस दलके नेता पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त और लिबरल दलके श्री चिन्तामणि थे। मैं कांग्रेस दलका मन्त्री था। हमारे सदस्योंमें स्व० श्री गणेशशंकर विद्यार्थी भी थे। स्वतन्त्र लोगोंमें नवाबजादा लियाकत अली खाँका नाम उल्लेख्य है। इन्होंने पाकिस्तानके सम्बन्धमें काफी ख्याति प्राप्त की।

यों तो मन्त्रियोंके हाथमें अधिकार थे ही, पर सच तो यह है कि सारी सत्ता सेक्रेटरी लोगोंके पास थी। ऐसा होना स्वभाविक था, उनका अस्तित्व ही सेक्रेटरियोंपर निर्भर था। यदि सरकारी मनोनीत सदस्योंका सहारा न होता तो कोई मन्त्री टिक ही नहीं सकता था। इसलिए अपने भाषणोंमें हमारा प्रयत्न इन अफसरोंको प्रभावित करना होता था। अत: अंग्रेजीमें ही बोलना उपयोगी होता था। उन दिनों नियम था कि जो अंग्रेजीमें न बोल सके वही हिन्दीमें बोलने पाता था। मुझे अपना पहिला भाषण याद आता है। यह प्रस्ताव उपस्थित करना था कि इण्टर क्लास-में सैनिक-शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय मैं। चाहता था अंग्रेजीमें बोलना परन्तु हिन्दीमें बोलना धर्म था। आरम्भ किया. 'अध्यक्ष महोदय, मैं प्रस्ताव करता हूँ ' इतना ही कह पाया था कि अध्यक्ष, सर सीतारामने टोक दिया 'मैं जानता हूँ कि माननीय सदस्य अंग्रेजीमें बोल सकते हैं', मैंने मुँहमाँगी मुराद पायी, यद्यपि कहनेको यही कहा कि 'अच्छी बात है, जब आप विवश करते हैं तो अंग्रेजीमें बोलूँगा'।

उस कौंसिलमें वस्तुतः हम शक्तिहीन थे। सरकारके समर्थकोंकी संख्या हमसे कहीं अधिक थी। कांग्रेसी और लिबरल सदस्य मिलकर भी पैंतालीस ही होते थे। जिस प्रस्तावका मैंने जिक्र किया है उसको ही लीजिये। सरकारकी ओरसे इस आधारपर विरोध हुआ कि सैनिक-शिक्षामें बन्दूकसे

काम लेना होता है और इसका सम्बन्ध रक्षासे है। रक्षा केन्द्रीय विषय है। प्रस्ताव गिर गया। कुछ दिन बाद इसी आशयका प्रस्ताव केन्द्रीय कौंसिलमें पेश हुआ। केन्द्रीय सरकारने इस आधारपर विरोध किया कि शिक्षा, चाहे जैसी हो, प्रान्तीय विषय है, केन्द्रीय सरकारका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ दिनों बाद मैं फिर अपना पुराना प्रस्ताव लाया। इस बार प्रादेशिक सरकार उसका विरोध नहीं कर सकती थी। स्वीकृत हो गया। परन्तु सरकारने उसको कार्यान्वित करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया।

राजनीतिक दृष्टिसे इस जमानेकी सबसे बडी घटना १९२८ में साइमन कमीशनकी नियुक्ति थी। कमीशनको यह देखना था कि मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार कहाँतक सफल हुए और अब और क्या सुधार किये जायँ। कमीशनके ऊपर कई प्रतिबन्ध थे। भारत स्वाधीनताका भूखा था और कमीशन स्वाधीनता या इससे मिलती-जुलती किसी बातकी संस्तुति कर नहीं सकता था। परिणाम यह हुआ कि सभी राजनीतिक दलोंने उसके बहिष्कारका निश्चय किया। निश्चय तो हुआ, परन्तु बहिष्कारका मुख्य बोझ कांग्रेसपर ही पडा। और दलोंके नेता तो सभाओंमें भाषण देनेसे आगे बढ नहीं सकते थे, प्रदर्शनोंकी जिम्मेदारी कांग्रेसको ही लेनी पडी। इस कामको और कोई कर भी नहीं सकता था। सारे देशकी भावना कमीशनके विरुद्ध थी। ऐसा प्रतीत होता था कि ब्रिटिश सरकार राष्ट्रका अपमान करना चाहती है।

कमीशनके सदस्य जहाँ कहीं भी गये, उनको लोगोंकी प्रतिकूल भावनाका परिचय मिला। लखनऊमें उनकी दावत हुई। उस स्थानके ऊपर पतंग मँडरा रहे थे जिनपर लिखा था 'साइमन गो बैक', साइमन लौट जाओ। काशीमें जो कुछ हुआ वह अपने ढगका निराला था। गवर्नमेण्टने इस बातको छिपा रखा था कि कमीशन किस दिन आनेवाला है पर एक सरकारी टेलीफोन 'टैप' हो गया। बातचीत हमको ज्ञात हो गयी। उन्होंने बडा बुरा दिन चुना। शिवरात्रि थी। उस दिन

नगरमें लाखोंकी भीड गंगास्नान और विश्वनाथजीका दर्शन करने आती है। स्यात् यह सोचा होगा कि इस भीड-भाडमें किसीको पता न चलेगा। अस्तु, पता लगते ही सहस्रों मनुष्य 'साइमन गो बैक'की तख्तियाँ लिये हुए स्टेशन पहुँचे। उनका नेतृत्व स्व० पण्डित गोविन्द मालवीय कर रहे थे। अफसरोंने कमीशनको एक छोटे स्टेशनपर उतारा और बौद्धकालके अवशेषोंको दिखाने सारनाथ ले गये। सवेरे हम लोगोंने काशीनरेशकी 'मोरपखी' नामकी बडी नावको राजघाटकी ओर जाते देखा। इससे अनुमान यह हुआ कि कमीशनको घाटोंकी सैर करायी जायगी। एक मोटरबोट लेकर दो और साथियोंके साथ मैं वहाँ पहुँचा। हमारी नावपर भी वही, 'साइमन गो बैक' लिखी तख्तियाँ थीं। अनुमान ठीक निकला। कमीशन आया और मोरपखीपर सवार होकर घाटोंको देखने लगा। ठीक उसी समय हमारी मोटर खराब हो गयी। वह लोग आगे बढ गये, हम पीछे पड़ गये। किसी प्रकार ५-७ मिनटमें मोटर ठीक हुई और हम उनके बराबर आ गये। फिर तो उनके और घाटके बीचमें बराबर हमारी नाव रही। घाटोंपरसे भी 'लौट जाओ'का नारा लग रहा था। असी घाटपर उनको उतारकर शहर लाया गया। मेलेकी भीड तो थी ही, कुछ लोगोंने पहिचान लिया और मोटरोंको घेर लिया। अधिकारियोंके हाथ-पाँव फूल गये। यदि स्व० बा० विश्वनाथ सिंह तथा कुछ और कांग्रेसजन बीचमें न कूद पडते तो भगवान् जाने क्या दुर्घटना हो जाती।

कमीशनके आगमनकी प्रतिक्रिया कौंसिलमें भी हुई। यह निश्चय हुआ कि कमीशनके साथ सहयोग न किया जाय। मन्त्रियोंमें राय राजेश्वर बली और कुँअर राजेन्द्रसिंह लिबरल दलके सदस्य थे। उन लोगोंने कमीशनसे असहयोगका निश्चय किया। विवश होकर गवर्नर, सर अलैग्जैण्डर मुडिमैन, ने उनको पदच्युत कर दिया। इसके बाद एक विचित्र बात हुई। लिबरल दलके एक सदस्य राजा जगन्नाथबख्शसिंह थे। उन्होंने भी कमीशनके बहिष्कारके पक्षमें मत दिया था। परन्तु न

जाने किस दबावमे पड़कर दोनो मन्त्रियोके हटनेपर स्वय मन्त्री बनना स्वीकार कर लिया। इससे उनके विरुद्ध घोर असन्तोष जागा। नैनीताल-मे कौसिलकी बैठक थी। उसमे उनके विरुद्ध अविश्वासका प्रस्ताव उपस्थित किया गया। इसमे कुछ ऐसे सदस्य भी सम्मिलित हुए जो स्वय कमीशनके बहिष्कारके विरोधी थे। उनका तर्क यह था कि कमीशनका बहिष्कार स्वतः अच्छा हो या बुरा पर जब कौसिलने एक निर्णय ले लिया और उस निर्णयके फलस्वरूप दो मन्त्रियोको अपने स्थान त्यागने पडे तो जो कोई उस निर्णयके विरुद्ध आचरण करता है वह दोषी है और सदस्यो-के विश्वासका पात्र नही है। अविश्वासका प्रस्ताव स्वीकृत हो गया, राजा साहबको हटना पडा।

हमारे सदस्योमे श्री भगवती सहाय वेदार भी थे, जो अब स्वामी वेदानन्द हो गये है। उनके भाषण अपने ढगके निराले होते थे। एक बार आबकारीपर विवाद हो रहा था। नवाब मुहम्मद यूसुफ इस विभाग-के मन्त्री थे। वेदार साहबने कहा 'मुझको देखिये। कायस्थ हूँ, हमारी बिरादरीमे शराब पीनेका चलन है। शाक्तमतका अनुयायी हूँ। हमारे सम्प्रदायमे पचमकारसे पूजा होती है जिसमे शराब भी है। परन्तु लोग कहते है कि शराबबन्दीसे देशका हित होगा। इसलिए अपना लोक-परलोक दोनो बिगाडकर इसका समर्थन करता हूँ। और नवाब साहबको देखिये। इसलाममे शराबकी मनाही है, हराम है, फिर भी बन्द नही करते।' बेचारे नवाब साहब इसका क्या उत्तर देते।

अविश्वासके प्रस्तावपर भी वेदारने विलक्षण भाषण किया। बोले 'मै घरसे राजा साहबके पक्षमे वोट देनेका निश्चय करके चला था। मार्गमे डॉडीवालोने पूछा कि आज कौसिलमे क्या है कि इतनी भीड जा रही है। मैने उनको सब बाते बतायी। इसपर वह बोले, "अरे साहब तब तो यह बडा ही विश्वासघात हुआ। यह राजा तो बडा निकम्मा आदमी है, इसको निकालना ही चाहिये।" डॉडीवालोकी बात सुनकर भान हुआ यह असली लोकमत है। इसीको मानना चाहिये, मेरी भूल थी जो मै

राजा साहबके पक्षमें वोट देने जा रहा था।' इस प्रकार डाँडीवालोंकी आड़में आलोचना करना नयी बात थी। अपनी ओरसे किसी अशिष्ट भाषाका प्रयोग नहीं किया।

कांग्रेसने यह निश्चय किया कि कौंसिलोंमें जो काम होना था हो लिया। अब बाहर आना चाहिये, १९२९ के अन्तमें कौंसिलोंके सभी कांग्रेसी सदस्योंने त्यागपत्र दे दिये। 

: ९ : १९३० से १९३२

जनताकी मनोवृत्ति कैसी हो रही थी और उसका रोष किस प्रकार दिनो दिन उद्दीप्त होता जा रहा था इस बातका कुछ अनुमान उस स्वागतसे हो सकता था जो साइमन कमीशनको प्राप्त हुआ। लोग पूर्ण स्वाधीनतासे नीचे किसी बातको सुननेको तैयार नही थे।

यह प्रश्न कई बार उठाया गया था कि स्वराज्यका स्वरूप क्या होगा। डॉ० भगवानदास बरसोसे कहते आते थे कि स्वराज्यको 'डेफाइन' करना चाहिये, उसकी परिभाषा बता देनी चाहिये ताकि प्रत्येक नागरिक जान सके कि उसके भावी अधिकार और कर्तव्य क्या होगे। उनका यह कहना था कि इससे लोगोका उत्साह बढेगा, जनताके सामने एक अस्पष्टार्थ शब्दमात्र नही प्रत्युत निश्चित लक्ष्य होगा। बहुत लोग इस प्रकारके प्रयासको व्यर्थ समझते थे। फिर भी समय-समयपर कई न्यूनाधिक विस्तृत परिभाषाऍ तैयार हुई। यह परिभाषाऍ भावी संविधानका प्रारूप थी जिनके रचयिताओंने उन सिद्धान्तोका उल्लेख किया था जो, उनकी सम्मतिमे, हमारे भावी शासनके मूलमे होने चाहिये। इनमेसे, मेरी रायमे वह कई दृष्टियोंसे सबसे अच्छा था जिसको दास-दासयोजना कहते है। इसे डॉ० भगवानदास और देशबन्धु चितरञ्जन दासने मिलकर बनाया था। इसमेकी कुछ बाते आजके समाजवादी युगमे अनुपयुक्त जचेगी, फिर भी योजना अच्छी थी। काग्रेसके सामने पेश हुई पर उसपर विचार होनेकी कभी नौबत नही आयी। जिन लोगोने स्वराज्य होनेके बाद हमारा

संविधान तैयार किया उनमेंसे स्यात् ही किसीने उसे देखा होगा। देखना तो दूर रहा उसका नाम भी बहुतोंने न सुना होगा।

प्रसंगवशात् उस योजनाकी भी चर्चा किये देता हूँ जिसकी रूपरेखा योजना आयोगके सदस्य श्री श्रीमन्नारायण अग्रवालकी पुस्तक 'गान्धियन कांस्टिट्यूशन फॉर फ्री इण्डिया'में दिया है। पुस्तक १९४५ में प्रकाशित हुई। उसके नामका अर्थ है 'स्वतन्त्र भारतके लिए गान्धीवादी संविधान'। पुस्तकका प्राक्कथन स्वयं गान्धीजीने लिखा था। उसमें वह कहते हैं : 'भारतके सामने संविधान पेश करनेके जो कई प्रयत्न हुए हैं, मैं आचार्य अग्रवालकी रचनाको विचारपूर्ण रचना समझता हूँ। इस प्रयासकी विशेषता यह है कि उन्होंने इसमें वह काम कर डाला है जिसे समयाभावसे मैं नहीं कर सका।' इससे यह तो स्पष्ट ही है कि पुस्तकमें जो बातें लिखी हैं उनसे महात्माजीको स्वारस्य था। उनकी अभिलाषा थी कि भारतका संविधान उसी आधारपर बने।

ग्रन्थकर्त्ताने इस बातपर जोर दिया है कि भारतका संविधान भारतीय परम्पराओंकी भूमिकामें बनना चाहिये। अपने सहस्रों वर्षोंके इतिहासमें भारतने अनेक प्रकारके शासकीय प्रयोग किये हैं। निरकुश नरेश भी देखे हैं, गणतन्त्र भी देखे हैं। चक्रवर्ति, साम्राज्य, भौज्य, द्वैराज्य, वैराज्य अनेक प्रकारके राज यहाँ रह चुके हैं। भारतीय विद्वानोंने राज-नीतिशास्त्रका मन्थन किया है। उनके विचार मुख्यतः 'वाल्मीकिरामायण', 'महाभारत', 'कौटिल्य अर्थशास्त्र', शुक्राचार्यकृत 'नीतिसार' तथा 'कामन्द-कीय नीति'में मिलते हैं। दुर्भाग्य यह है कि हमारे भारतीय नेता इस वाङ्मयसे परिचित नहीं हैं, परिचित होनेके इच्छुक भी नहीं हैं। इन सन्दर्भ ग्रन्थोंके आधारपर श्री अग्रवालने कुछ सिद्धान्त स्थिर किये हैं जिनको गान्धीजीका भी समर्थन प्राप्त था। उनका कहना है कि अनेक दोषोंके होते हुए भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था औरोंसे अच्छी है परन्तु उसका वर्तमान रूप दूषित है। आज हम हाथ गिनते हैं, मस्तिष्क नहीं। प्रत्येक मनुष्यको इकाई मान लेते हैं और सबके मतका मूल्य बराबर ठहराते हैं।

विद्या, वुद्धि, अनुभव, चरित्रकी ओर ध्यान न देकर सबको एक-सा मान लेना ठीक नहीं है। मत देनेवालोकी अपेक्षा उन लोगोकी योग्यता अधिक होनी चाहिये जिनको मत दिया जाना है। विकेन्द्रीकरण करके नीचेकी सस्थाओको अधिक अधिकार देने चाहिये और प्रादेशिक तथा केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाओका अप्रत्यक्ष चुनाव इन नीचेकी सस्थाओमेसे ही करना चाहिये।

यह हो सकता है कि इन सब सिद्धान्तोको यथावत् अपना लेना सम्भव न हो परन्तु दुख इस वातका है कि किसीने इस ओर ध्यान भी न दिया। प्राचीन भारत क्या कहता है और महात्माजी क्या चाहते है, इस वातको जाननेकी हमारे सविधान वनानेवालोको इच्छा ही न हुई।

अस्तु, सविधान बना हो या न बना हो, परिभाषा हुई हो या न हुई हो, जनता तो स्वराज्य शब्दको पूर्ण स्वाधीनताके अर्थमे ही प्रयोग करती थी। वह एक ही अर्थ जानती थी, ब्रिटिश सम्बन्धका पूर्ण विच्छेद।

अवस्था जटिल होती जा रही थी परन्तु अब भी कुछ बिगडा न था। ब्रिटिश सरकार उसे अब भी सँभाल सकती थी। यदि भारतको डोमिनियन स्टेट्स, वैसा स्वायत्त शासन जैसा कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीकाको प्राप्त था, दे दिया जाता तो सन्तोष हो जाता, परन्तु इतिहास वतलाता है कि साम्राज्यशाहियाँ कभी समयसे चेतती ही नही। अनेक साम्राज्योके इतिहास अपने सामने है, वह उठे, भूले की, गिरे, परन्तु फिर भी हर साम्राज्य यह समझता है कि मेरा काम ठीक है, मै चिरस्थायी रहूँगा।

अपने कार्यकालके समाप्त होनेपर घर जानेके पहिले वाइसराय, लार्ड अर्विन, ने ३१ अक्तूवर १९२९ को एक वयान दिया, जिसका अन्तिम वाक्य यह था : 'मै सम्राट्की सरकारकी ओरसे साधिकार यह स्पष्ट शब्दोमे कहना चाहता हूँ कि १९१७ मे जो घोषणा हुई थी उसमे उनकी रायमे यह वात निहित थी कि उस घोषणाके अनुसार भारतकी जो सावैधानिक उन्नति होगी उसका सहज पर्यवसान डोमिनियन स्टेटस ही

होगा।' इस बयानमे यह साफ-साफ नहीं कहा गया है कि भारतको उस प्रकारके अधिकार मिलने जा रहे है या निकट भविष्यमें मिलेंगे। एक लक्ष्यकी ओर संकेत है जो कभी किसी सुदूर भविष्यमें स्यात् पहुँचा जा सके। परन्तु भारतीय नेताओने इन शब्दोकी बडी आशापूर्ण मीमांसा की। उन्होने ब्रिटिश सरकारको नेकनीयती और उदारताका श्रेय देना अपना कर्तव्य समझा।

बयान निकलनेके चौबीस घण्टेके भीतर कई दलोके नेता उसपर विचार करनेके लिए दिल्लीमे एकत्र हुए और एक सर्वदलीय विज्ञप्ति निकाली गयी जिसके आरम्भमें ही यह कहा गया 'हमको यह आशा है कि भारतकी आवश्यकताओके अनुरूप डोमिनियन स्टेसटका स्वरूप स्थिर करनेमें हम सम्राट्की सरकारके साथ सहयोग कर सकेंगे।' लन्दनमें राजनीतिक सुधारोके सम्बन्धमे गोलमेज सम्मेलन होनेवाला था। उसमें सम्मिलित होनेके लिए कई भारतीय नेता भी निमन्त्रित थे। उस विषयमे इस सर्वदलीय विज्ञप्तिमें कहा गया कि हमारा ऐसा विश्वास है कि इस सम्मेलनमें डोमिनियन स्टेटस कब मिले इसपर विचार नही करना है वरन् उसके स्वरूपका ढाँचा बनाना है। किसी अंग्रेज मित्रको पत्र लिखते हुए महात्माजीने लिखा 'मै सर्वदलीय विज्ञप्तिके एक-एक शब्दका समर्थक हूँ। किसी कागजके शब्दोंका महत्त्व नहीं होता, महत्त्व उसके मूल भाव-का होता है। यदि व्यवहारसे डोमिनियन स्टेटस मिल जाय तो मैं तद-नुकूल संविधानकी प्रतीक्षा करनेको तैयार हूँ। इसका अर्थ यह है कि सच्चा हृदयपरिवर्तन होना चाहिये. ब्रिटिश जनतामें यह भावना होनी चाहिये कि भारत स्वतन्त्र और आत्मसम्मानी राष्ट्र बन जाय और सर-कारी अफसरोंमें सच्चा सेवाभाव आ जाय।' थोडे ही दिनमें यह स्पष्ट हो गया कि सर्वदलीय विज्ञप्ति वस्तुतः निराधार थी। लार्ड अर्विनके बयानका वह अर्थ था ही नही जो भारतीय नेता उसमें पहिना रहे थे। सरकारका ऐसा कोई भी विचार नहीं था कि निकट भविष्यमें डोमिनियन स्टेटस दिया जाय।

भारतीय नेताओंका प्रतिनिधिमण्डल वाइसरायसे २३ दिसम्बर १९२९ को मिला। मिलनेवालोंमें महात्माजी, पण्डित मोतीलाल नेहरू, श्री जिना, सर तेजबहादुर सप्रू और श्री विट्ठलभाई पटेल भी थे। दुर्भाग्य-से उस दिन दिल्लीसे कुछ ही दूरपर वाइसरायके डब्बेके नीचे किसीने बम रख दिया था। खैरियत हुई किसीको चोट नहीं आयी। मुलाकात होनेपर स्वभावत: पहिले इसीका चर्चा हुआ। सभी लोगोंने वाइसरायको बधाई दी और हिंसात्मक कामोंकी निन्दा की। बहुत ही सौजन्यपूर्ण वातावरण बन गया। परन्तु मुख्य विषयके छिड़ते ही वातावरण बदल गया। गान्धीजीने कहा कि हमको इस बातका आश्वासन मिल जाना चाहिये कि लन्दनका गोलमेज सम्मेलन इस आधारपर काम करेगा कि सम्पूर्ण डोमिनियन स्टेटस तो मिलना ही है, केवल उसके स्वरूप और प्रक्रिया, संविधान, का नकशा बनाना है। लार्ड अर्विनने ऐसा आश्वासन देनेमें साफ इनकार कर दिया। अब ब्रिटिश सरकारकी नीयतके सम्बन्ध-में भ्रान्तिकी कोई जगह नहीं रह गयी। यह स्पष्ट हो गया कि जो कोई सुधार होंगे वह बहुत नीचे स्तरके होंगे: गोलमेज सम्मेलन केवल समय नष्ट करनेके लिए बुलाया जा रहा है।

कांग्रेसमें कई बार ऐसे प्रस्ताव आये थे कि यह घोषित कर दिया जाय कि हमारा लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रता है, परन्तु ऊपरके नेता ऐसे प्रस्तावका समर्थन नहीं करते थे। सम्भवत: वह समयको अनुकूल नहीं समझते थे, उनका यह भी खयाल रहा होगा कि जनता इसके लिए तैयार नहीं है। १९२१ में तो सरकारने कहा, स्वयंसेवक न बनें, हमने इसका उलटा किया, परन्तु पूर्ण स्वातन्त्र्यका नारा लगानेके बाद इतनेसे काम नहीं चल सकता था। सरकारसे संघर्ष करनेके मार्ग ढूँढने होंगे। पीछे लौटना सम्भव न होगा, जो कुछ भी त्याग करना पडे, जैसी भी बलि देनी पडे, उस सबके लिए तैयार रहना पड़ेगा। नेताओंकी हिचकिचाहट समझमें आती है। ऐसे आन्दोलनको चलानेका दायित्व बहुत बडा होता है। परन्तु ब्रिटिश सरकारकी धोखेबाजीने अब कोई दूसरा उपाय छोड़ा ही

नहीं। नीचेसे जनताका भी बडा दबाव पड रहा था।

उस साल काग्रेसका अधिवेशन लाहौरमे हो रहा था। ३१ दिसम्बर १९२९ को महात्माजीने पूर्ण स्वतन्त्रताका प्रस्ताव पेश किया। वह आधी रातके समय स्वीकृत हुआ। वह दृश्य देखने योग्य था। बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सबमे अपूर्व उल्लास था। रावी नदीका तट, पजाबकी कडी सर्दी, उसपर दिसम्बरका महीना और निशीथकाल, इस सबकी किसीको परवाह नही थी। लोग उन्मत्तकी भाँति नाच रहे थे, गा रहे थे, एक-दूसरेसे गले मिल रहे थे। भारतने अपने स्वतन्त्र होनेके सकल्पको मूर्त रूप दे दिया। और जन-जनके हृदयने इस निश्चयका स्वागत किया। मित्र और शत्रु एक बार सभी इससे स्तब्ध हो गये। काग्रेसने वह कदम उठा लिया जो मोडा नहीं जा सकता।

बादमे काग्रेस कार्यकारिणी समितिने स्वतन्त्रताकी घोषणा तैयार की। यह घोषणा, वस्तुतः प्रादेशिक भाषाओमे इसका अनुवाद, सारे देशमे २६ जनवरी १९३० को ५ बजे सायकाल पढा गया। तबसे ही २६ जनवरीका नाम स्वाधीनता दिवस पड गया, हमारा नया गणतन्त्रात्मक सविधान २६ जनवरी १९४८ से लागू हुआ। इसलिए अब इस तारीख-को गणतन्त्र दिवस कहते हैं।

घोषणाका हिन्दी अनुवाद श्री श्रीप्रकाशके साथ मैंने कानपुरमे किया था। हम दोनो उस समय श्री गणेशशकर विद्यार्थीके अतिथिके रूपमे प्रताप प्रेसमे ठहरे हुए थे। घोषणाका कुछ अश आज भी स्मर्तव्य है :

"हमारा ऐसा विश्वास है कि स्वतन्त्र रहने, अपने श्रमसे पूरा लाभ उठाने और जीवनोपयोगी वस्तुओसे युक्त होनेका भारतीय जनताको वैसा ही अविच्छेद्य अधिकार है जैसा कि दूसरे लोगोको, ताकि उनको अपने विकासके लिए पूरा अवसर मिल सके। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई सरकार किसी राष्ट्रको इन अधिकारोसे वचित करती है या उसका उत्पीडन करती है तो जनताको यह भी अधिकार है कि वह उस सरकार-को बदल दे या मिटा दे। भारतमे ब्रिटिश सरकारने न केवल भारतीय

जनताकी स्वाधीनता छीन ली है वरन् उसका आधार ही जनसाधारणका शोषण है और उसने भारतको आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे तबाह कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि भारतको ब्रिटिश सम्बन्धका विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना होगा। हमारी यह धारणा है कि जिस शासनने हमारे देशको इस प्रकार चतुर्धा नष्ट किया है उसकी अधीनताको अब स्वीकार करना ईश्वर और मनुष्य दोनोंके प्रति अपराध है। इसलिए हम यथाशक्य ब्रिटिश सरकारके साथ किसी प्रकारका ऐच्छिक सहयोग न करेंगे और सत्याग्रहके लिए, जिसमें टैक्स न देना भी शामिल है, तैयारी करेंगे।"[१]

---

१ यह नया अनुवाद है। जो अनुवाद १९३० में किया गया था वह लिखते समय मुझे यहाँ मिल न सका। १९ जनवरी सन् ३० के 'आज'में प्रकाशित घोषणा अविकल रूपमें इस प्रकार है—

"हमारा विश्वास है कि दूसरे देशवासियोंकी तरह हिन्दुस्तानके लोगोंका यह अटल अधिकार है कि वे स्वाधीन रहें और अपने देशका सुख भोगें तथा जीवनकी आवश्यक सामग्रीसे सम्पन्न रहें ताकि वे उन्नतिका पूरा अवसर पावें।

"हमारा यह भी विश्वास है कि अगर कोई सरकार लोगोंको उनके अधिकारसे वंचित करती है और उनको कष्ट देती है तो लोगोंको यह भी अधिकार है कि उसमें फेर-बदल करें या उसको बदल दें। भारतकी अंग्रेज सरकारने हिन्दुस्तानियोंको न केवल उनकी स्वाधीनतासे वंचित कर दिया है बल्कि वह जनताके शोषणके आधारपर ही बनी है और उसने हिन्दुस्तानको आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है इसलिए हम समझते हैं कि हिन्दुस्तानको अवश्य ब्रिटिश सम्बन्ध त्याग देना चाहिये और 'पूर्णस्वराज्य' या पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना चाहिये।

"जिस सरकारने हमारे देशको इन चार प्रकारकी विपत्तिमें फँसाया है उसको मानना हम ईश्वर और मानवजातिके विरुद्ध अपराध करना समझते हैं। हम इसे स्वीकार करते हैं कि स्वाधीनता प्राप्त करनेके मार्गोंमें अहिंसाका मार्ग प्रभावशाली नहीं। हम ब्रिटिश सरकारसे स्वेच्छापूर्वक सहयोग करना छोड़कर सत्याग्रह करने और सरकारी कर न देनेके लिए तैयारी करेंगे।

"हमारा विश्वास है कि यदि ब्रिटिश सरकारसे सहयोग करना छोड दें और

स्वाधीनताका बीड़ा उठा लिया गया। लाहौरमें संकल्प किया गया, २६ जनवरीको हजारों नर-नारियोंके गलेने उसे सारे देशमें दुहराया। वह उत्साह देखते बनता था। ऐसा लगता था कि १८५७ में क्षत-विक्षत होनेके बाद जो राष्ट्र गलितस्वाभिमान और हतोत्साह हो गया था उसकी दशाब्दियोंसे प्रसुप्त चेतना अब फिर जागी है। अब सबकी जिह्वापर एक ही प्रश्न था : क्या कदम उठाया जायगा। प्रश्न स्वाभाविक था। गान्धीजीके सिवाय इस आन्दोलनका नेतृत्व कोई और करे, यह बात सोची भी नहीं जा सकती थी। सबकी आँखें उनकी ओर उठी हुई थीं। उनके आदेशकी प्रतीक्षा कर रही थीं। सरकार भी उधर ही देख रही थी। १९२१ में उसने जो भूल की थी वह दुहरायी नहीं गयी। उस बार स्वयंसेवक बनने-बनानेको अपराध घोषित करके उसने जेल जानेका द्वार खोल दिया था, इस बार उसने सत्याग्रहका मार्ग सुलभ न करनेका निश्चय कर लिया। जब उन्होंने अपना कार्यक्रम प्रकाशित किया तो एक बार तो सभी अवाक् रह गये, सरकार भी अचम्भे में पड़ गयी। बड़े-बड़े नेताओंने गान्धीजीकी रायकी हँसी उड़ायी। किसीको विश्वास नहीं होता था कि इस कार्यक्रमसे कोई लाभ होगा। परन्तु वाद-विवाद होकर वही हुआ जो गान्धीजी चाहते थे।

उनका कहना था कि मनुष्यके जीवनके लिए नमक प्रायः उतनी ही आवश्यक वस्तु है जितनी कि अन्न या जल। उसे बनाना नहीं पड़ता, बना-बनाया मिलता है। प्रकृतिकी इस देनपर टैक्स लगानेका किसी सरकारको अधिकार नहीं है। अतः जहाँ भी सम्भव हो, लोगोंको नमक स्वयं निकालना और साफ करना चाहिये।

६ अप्रैल १९३० को आन्दोलन आरम्भ हुआ। यह उस राष्ट्रीय

उत्तेजनाका कारण उपस्थित होनेपर भी उपद्रव न करें तो इस अमानुषिक शासनका अन्त निश्चित है। अतएव हम शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि पूर्ण स्वराज्यकी स्थापनाके लिए कांग्रेस जब जो आदेश करेगी उसका हम पालन करेंगे।"

सप्ताहका पहिला दिन था जो जलियानवाला बागकी स्मृतिमे मनाया जाता था। सरकारने आन्दोलनका जवाब बडी कडाईसे देना आरम्भ किया। कई जगह गिरफ्तारीके स्थानपर मारपीटसे काम लिया गया। पेशावरमे गोली भी चली। ऐसी अवस्थामे महात्माजीने स्वय सत्याग्रहमे भाग लेनेका निश्चय किया। इसके पहिले उन्होने वाइसरायको एक पत्र लिखा। उसमे सरकारकी ज्यादतियोका चर्चा करते हुए उन्होने उनको अपने निश्चयकी सूचना दी और इस निश्चयका कारण यह बतलाया कि 'मै चाहता हूँ कि आपके क्रोधको अपनी ओर मोड लूँ।' अन्तमे वह कहते है : 'बहरहाल मै आपको निमन्त्रण देता हूँ कि अपने अधिकारका पूर्ण क्रूरतासे उपयोग करे। तभी मै साधारण भारतीयको, जो मेरा अनुकरण करके शारीरिक कष्ट भोग रहा है और अपनी चल और अचल सम्पत्ति खो रहा है, यह विश्वास दिला सकूँगा कि अपनी ओरसे मैने सत्याग्रहके कार्यक्रमको कार्यान्वित करनेका पूरा प्रयत्न किया।'

महात्माजीका कार्यक्रम यह था कि वह अपने स्थानसे चलकर धरसनातक जायँ जहाँ नमकका सरकारी गोदाम था और वहाँ नमकपर कब्जा किया जाय। इस लम्बी यात्रासे बहुत प्रचार हुआ। गान्धीजी तो पहिले ही गिरफ्तार हो गये, पर स्वयसेवकोने १५ मईको धरसनापर छापा मारा। यह क्रम वर्षारम्भतक जारी रहा। गान्धीजीकी यह यात्रा 'डाडी मार्च'के नामसे प्रसिद्ध है।

नमक सत्याग्रहकी उपादेयताके सम्बन्धमे पहिले चाहे किसीके मनमे कुछ भी शका रही हो परन्तु वह बहुत ही शीघ्र लोकप्रिय हो गया। नमक बनानेकी सामग्री, नोना मिट्टी, प्राय. सर्वत्र उपलब्ध है, अत. नमक बनाना बहुत सुकर था। लोगोको ऐसे कानूनके तोडनेमे बडी सुविधा होती थी। उत्साहकी सीमा नही थी। कानूनको तोडना और अपने ऊपर कष्ट बुलाना, हँससे-हँसते कष्ट झेलना, लोगोको अच्छा लगता था। नया जोश, नया नशा था। कष्ट आ पडनेपर सहना एक बात है, यहाँ कष्टका वरण होता था।

इस बार १९२१ की अपेक्षा उभयपक्ष अधिक सन्नद्ध थे। जनताकी मानस तैयारी महीनोंसे हो रही थी, साइमन कमीशनके समयसे ही लोगोंका क्षोभ और जोश बढ रहा था। ३१ दिसम्बर १९२९ को स्वाधीनताका सकल्प पारित हुआ, २६ जनवरी १९३० को स्वाधीनताकी घोषणा पढ़ी गयी, ६ अप्रैलको आन्दोलन आरम्भ हुआ। पर्याप्त समय था। ऋतु भी अच्छा था। देहातमें खेती-बारीका विशेष काम नहीं था। किसानको छुट्टी थी। सरकार भी सतर्क थी। उसने इस बातका अन्दाज लगाया था कि कितने व्यक्ति सम्मिलित होंगे और पुलिस तथा जेल विभागोंको ठीक कर लिया था।

हम लोगोंने यह मानकर तैयारी की थी कि सग्राम देरतक चलेगा। हमारा ऐसा खयाल था कि काग्रेस कमेटियाँ गैर-कानूनी सस्थाएँ घोषित कर दी जायँगी और उनके रुपये-पैसेपर सरकारी कब्जा हो जायगा। पत्रव्यवहार भी न हो सकेगा। इसलिए गुप्त रूपसे काम चलानेका प्रबन्ध करना ही होगा। अखिल भारतीय और प्रादेशिक काग्रेस कमेटीका कोई आदेश कहीं पहुँच न सकेगा अतः हर जिलेको और कभी-कभी हर कार्य-कर्ताको अपनी बुद्धिके सहारे काम करना होगा। स्वयंसेवकोंकी भरती की गयी, परन्तु ऐसा प्रतीत होता था कि भरती हुए स्वयसेवकोंके अतिरिक्त दूसरे बहुत-से लोग सघर्षमें भाग लेंगे। इससे हमारा दायित्व कुछ बढ जाता था क्योंकि इन सब लोगोंको अहिंसक बनाये रखनेका दायित्व तो काग्रसका ही था। प्रत्येक जिले और बड़े शहरमें कमेटीने एक व्यक्ति-को अधिनायक या डिक्टेटर नियुक्त कर दिया। सञ्चालनके सम्पूर्ण अधिकार उसको दे दिये गये। उसको अपने उत्तराधिकारी चुननेका भी अधिकार था। इसी प्रकार क्रमात् उत्तराधिकारी अपने उत्तराधिकारीको चुन सकता था। जबतक काम करनेका समय न आ जाय तबतक उत्तराधिकारीका नाम गुप्त रहता था। यदि कहीं समाचार भेजना होता तो आदमी ले जाता था। जहाँतक सम्भव होता मौखिक सन्देश जाते थे। कभी-कभी सरकारी डाकसे भी काम लिया जाता था, परन्तु ऐसे रूपमें

कि कुंजीके जानकारके सिवाय दूसरा कोई समझ न सके। खुले पोस्टकार्ड-पर लिखा गया, 'आपने जितने थान मॉगे थे भेज दिये गये।' अर्थ यह था कि जितनी सख्यामे स्वयसेवक मॉगे गये थे, भेज दिये गये।

काशीकी शहर और जिला दोनो काग्रेस कमेटियोने मुझे प्रथम डिक्टेटर चुनकर गौरव प्रदान किया। मेरे सहयोगी सब वीर और विश्वस-नीय व्यक्ति थे। उदाहरणके लिए मैं उनमेसे एकका जिक्र करता हूँ। नियोजन आयोगके सदस्य श्री त्रिभुवननारायण सिंह वाराणसी जिलेके रहनेवाले है। विद्यापीठके शास्त्री है। उन दिनो काशीमे ही एक पत्रिकाका सम्पादन कर रहे थे। देहातके अपने समवयस्कोपर उनका बहुत प्रभाव था। एक दिन मैंने उनसे बुलाकर कहा 'त्रिभुवन, मुझको काग्रेस-कामके लिए तुम्हारी आवश्यकता है। तुमको इस पत्रिकासे इस्तीफा देना होगा'। उन्होने इतना ही कहा, 'प्रोफेसर साहब, बहुत अच्छा'। विद्यापीठके मेरे छात्र मुझे अब भी प्रोफेसर साहब ही कहते हैं। दूसरे दिन त्यागपत्र दे दिया। यदि काशीको यह ख्याति मिली कि सत्याग्रह आन्दोलनमे देशके अग्रणी स्थानोमे उसकी गणना है तो इसका श्रेय त्रिभुवननारायण सिह और उनके जैसे दूसरे व्यक्तियोंको है। मै नेता था परन्तु निमित्तमात्र। हमारे साधारण स्वयसेवक भी सोनेसे तौलनेके योग्य थे। मैं उनकी असाधारण वीरता और अदम्य उत्साहके भी दो-एक उदाहरण दूँगा।

हमारा दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार था। सवेरे स्वयसेवकोका जलूस निकलता था। प्रत्येक दिनके लिए नये स्वयसेवक होते थे और उनका जत्थेदार भी नया होता था। जत्थेमे प्रायः ग्यारह स्वयसेवक होते थे। जलूस निश्चित मार्गसे, जिसकी सूचना पहिलेसे दे दी जाती थी, निक-लता था। इस प्रकार क्रमशः सारे शहरके मुहल्लोमें हमारे जलूस घूम गये। इससे बहुत प्रचार हुआ और लोगोंका उत्साह बढा। जलूसके साथ मै भी रहता था और सैकडोकी भीड साथ चलती थी। लोग जगह-जगहपर स्वयसेवकोको रोककर उनका स्वागत करते थे। लगभग १० बजे

जलूस सोनिया पहुँचता था। यह काशी विद्यापीठके पीछे मैदान है। इसे ही हमने नमक कानून तोडनेका केन्द्र बनाया था। पासमें एक खँडहर था, उसकी मिट्टीमें काफी नमक था। नमकके साथ सम्भवतः शोरा भी मिला रहता होगा पर इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। नमक बनाना तो कानून तोडनेका साधन था। रासायनिक दृष्टिसे शुद्ध और अमिश्रित नमक बनाना मुख्य लक्ष्य नहीं था। वहाँसे मिट्टी लाकर पानीमें घोली जाती और कूडा-करकट छानकर बडे कडाहेमें चढा दी जाती। जो मैल निकलती उसे कलछीसे काटते जाते थे। थोडी देरमें पानी उड जाता और कडाहीमें नमक रह जाता। सैकडो आदमी यह दृश्य देखते। कुछ लोग तो बहुत दाम देकर उस नमककी पुडिया मोल लेते थे और उसको पवित्र प्रसादकी भाँति रखते थे। स्वयंसेवक दिनमें वहीं भोजन करते और सायंकालको अपने घर चले जाते थे।

हमारी लडाई ६ अप्रैलको आरम्भ हुई। पाँच दिनतक तो पुलिस कुछ न बोली। छठे दिन उसने छापा मारा। उस दिनके जत्थेमें कई पतले-दुबले युवक थे और जत्थेदार स्व० डॉ० अमरनाथ बनर्जी थे। डॉ० बनर्जी काशीके सुप्रसिद्ध चिकित्सक और प्रतिष्ठित वयोवृद्ध नेता थे। पुलिस हमारे बनाये गैर-कानूनी नमकको छीनना चाहती थी। पर यह हँसी-खेल नहीं था। नमक आगपर चढी कडाहीमें था। पानी उबल रहा था। स्वयसेवकोंने अपने हाथोंसे कडाहीको उतारकर उसी जोरसे जमीन पर दबा रखा। देवगण भी इस अभूतपूर्व दृश्यपर मुग्ध हो गये होंगे। जलती कडाहीको हाथसे पकडे हुए ग्यारह-बारह युवक एक ओर, और पचास-साठ पुलिसवाले दूसरी ओर। एक ओर तो जलनेकी परवाह न करके कडाहीको पकडे हुए स्वयसेवक, दूसरी ओर अपनेको जलनेसे बचाते हुए नमक छीननेके इच्छुक पुलिसके सिपाही। आखिर यह लडाई कबतक चलती। एक मित्रने मुझसे कहा, 'अब इसे रोक दीजिये'। मुझे भी रोप कहूँ, या कुछ और, किसी ऐसे ही भावने अभिभूत कर लिया था। मैने कहा, 'नहीं, चलने दीजिये'। चारो ओर रस्सियाँ बँधी थीं। उसी घेरेके

भीतर खींचातानी हो रही थी। कडाही भी कुछ ठंढी हुई। कोई आध घण्टेके बाद पुलिस सफल हुई। कडाही उसके हाथ लगी। लज्जित विजेता उसे उठाते गये।

वह लडाई तो समाप्त हुई, पर इन वीर लडकोकी हारका मूल्य विजयसे बढकर था। जनता, स्वयं काशीकी जनता, इस घटनाको भूल गयी है, इन बहादुरोके नाम भी किसीको याद नही है परन्तु यदि भारत आज स्वतन्त्र है तो उसका श्रेय इन अज्ञातनामा योद्धाओको है जिनको गान्धीजीके जादूने मिट्टीसे सोना बना दिया था।[१]

मैंने निश्चय किया था कि देहातमें आन्दोलनको १३ अप्रैलको आरम्भ करूँगा। इस दिनको 'जलियानवाला बाग दिवस' कहते थे। यह राष्ट्रीय सप्ताहका अन्तिम दिन था। चन्दौली तहसीलका फेसुडा ग्राम इस कामके लिए चुना गया था। सवेरे वहॉ गया। श्री श्रीप्रकाश भी साथमे थे। हम लोगोको यह पता लग गया था कि हम लोगोकी गिरफ्तारी भी होगी। नमक बनानेकी प्रक्रिया की गयी। बन जानेपर पुलिसने छापा मारा। पर इस बार हमारे स्वयसेवकोने नगरकी घटनासे शिक्षा ले ली थी। कडाहीके कानोमे बॉसका मोटा टुकडा डाल दिया गया और स्वयमेवक उसे दबाकर बैठ गये। इससे उनके हाथ जलनेसे बच गये और जोर भी अधिक लग सका। काफी कठिनाईके बाद पुलिस नमक पा सकी। हम लोग अपने साथ प्रथमोपचारकी सामग्री ले गये थे। उससे अपने स्वयसेवको तथा पुलिसवालोकी भी मरहमपट्टी की गयी। इसके बाद वारट निकाले गये तथा श्री श्रीप्रकाश और मेरी गिरफ्तारी हुई, साथ ही, स्थानीय नेता श्री चन्द्रिका शर्मा भी गिरफ्तार हुए।

युद्धका प्रथम काण्ड समाप्त हुआ। कई महीनेतक आन्दोलन चलता रहा। सभी मुख्य कार्यकर्ता जेलमे पहुँच गये। कडी सजाएँ दी गयीं और

१ उस दिनके जत्थेमें शामिल कुछ व्यक्तियोंके नाम है—श्री हीरालाल, श्री अभयनारायण सिंह, श्री विश्वनाथ (उम्र १६ साल), श्री हरिदत्त जोशी (उम्र १७ साल), श्री द्वारिकादास, श्री धर्मदत्तशास्त्री (जत्थेके नायक)।

भारी जुरमाने हुए। झूठी गवाहियोंके बलपर ही मुकदमोंका निर्णय होता था। मुझे फौजदारी दण्डविधानकी विभिन्न धाराओंके अनुसार ढाई सालकी सजा हुई थी परन्तु कई सजाएँ एक साथ चलनेवाली थीं, इसलिए जेलमें सब मिलाकर डेढ साल ही रहना था।

हमारे मुकदमोंकी कहानी बडी रोचक थी। मजिस्ट्रेट लोग दण्ड तो देते ही परन्तु काग्रेसजनने उनका काम बहुत कठिन बना दिया था। इतना तो हम सभी कह देते थे 'मैं इस अदालतको नहीं मानता, अत. काररवाईमें कोई भाग नही लूँगा'। परन्तु हमारे सब साथियोंको इतनेमें सन्तोष नही होता था। कोई नारे लगाता, कोई भाषण करने लगता, कोई कविता पढता। एक मित्रने जो कविता पढी थी उसकी एक पंक्ति मुझे याद है :

इलाही यह अदालत है कि भाँडों का तमाशा है।

न्यायालयका सारा रोबदाब, अदालती काररवाईकी गम्भीरता इन बातोंसे समाप्त हो जाती थी। फिर भी कागज तो भरने ही पड़ते थे, गवाह पेश होते थे। कोई स्वयसेवक न वकील करता था, न स्वय जिरह करता था। जो कुछ गवाहोंसे कहला दिया जाता था वह लिख जाता था और उसके आधारपर फैसला हो जाता था। भले आदमी गवाही देने आते न थे, पुलिस इधर-उधरसे लोगोंको इस कामके लिए पकड लाती थी। कुछ गवाहोकी बातोंसे तो यह स्पष्ट हो जाता था कि उनसे जो काम लिया जा रहा था वह उनको पसन्द नही था। कुछ गवाह तो ऐसी गवाही देते थे जिससे यह सिद्ध हो जाय कि वह विश्वास योग्य नही है। यदि जिरह होती तो ऐसी गवाहीके चिथडे उड जाते पर हम लोग गवाहोके इस सकेतसे लाभ उठानेको तैयार नही थे। मेरे साथ श्री बैजनाथसिंह और श्री विश्वनाथसिंहका भी मुकदमा हुआ था। अब यह दोनो सज्जन दुनियासे उठ गये है। एक गवाहसे श्री विश्वनाथसिंहने पूछा : क्या यह सच है कि तुम हर मुकदमेमे पुलिसकी ओरसे गवाही देने आते हो ? उसने उत्तर दिया कि ऐसा तो नही है, मै केवल आठ दस

बार आया हूँ। एक और प्रश्न करनेपर उसने बताया कि जिन मुकदमोमे वह पुलिसकी ओरसे आया था वह या तो जालके थे या कोकेन बेचनेके। यह गवाहो और गवाहियोका नमूना है।

जेलसे छूटकर बहुत लोगोने दुबारा सत्याग्रह किया और पुनः जेल गये। यो तो मुख्य कार्यकर्ताओकी सजाऍ इतनी लम्बी थी कि आन्दोलन-के बीचमे किसीका छूटना कठिन था। जैसा कि स्वाभाविक था, धीरे-धीरे जोर कम हो चला, यद्यपि बिल्कुल शान्ति तो कभी भी नही हुई। कार्यक्रममे परिवर्तन और परिवर्द्धन भी हुआ। नये काम जोड़े गये। काग्रेसके मूल सिद्धान्तोमे नशाबन्दीकी गणना है, इसलिए जहॉ-जहॉ सम्भव हुआ, लोगोने शराबकी दुकानोंपर धरना दिया। जो लोग गिरफ्तार हुए उनकी सख्या तो एक लाखसे ऊपर रही होगी परन्तु कुछ लोग हवालातसे ही छूट जाते थे, जुरमानेकी ही सजा पा जाते थे, या अदालतमें कुछ घण्टे रोककर छोड़ दिये जाते थे। कितने स्वयसेवकोको गाडियोमे बैठाकर शहरसे दूर ले जाकर छोड दिया जाता था। फिर भी लगभग ८०,००० व्यक्ति जेल गये।

जेलमें मेरा और मेरे जैसे और भी कई साथियोका समय अधिकतर पढनेमे कटता था। बहुत-से लोग थोडी-बहुत कताई भी करते थे। अधि-काश स्वयसेवक खेलकूदमे और लडने-झगडनेमे सारा समय काट देते थे। हम लोगोको सपरिश्रम सजा मिली थी। मूँज दिया जाता था। उससे सुतली बटनी होती थी। कुछ समय रसोईघरमे कट जाता था। जेलका जीवन आरामके लिए नहीं होता, शारीरिक कष्ट न हो तब भी अनेक प्रकारकी चिन्ताऍ रहती ही है। इतने व्यक्तियोका एक साथ रहना स्वय नयी-नयी समस्याऍ खडी कर देता है। ऐसी दशामे चित्तको प्रसन्न बनाये रखना यत्नसाध्य हो जाता है।

जेलमे हमारे बारिकमे स्वर्गीय श्री बैजनाथसिहजी भी थे। वह 'किकर' उपनामसे ब्रजभाषामे कविता करते थे। उनकी रचनाऍ शृगाररसमय वीररसप्रधान होती थीं। मै कभी-कभी उनकी कविताकी कापीमें अपनी

ओरसे कुछ तुकबन्दी लिख देता था। नाम किंकरका होता और पद्यका भाव यह होता कि वह जेल-जीवनसे ऊब गये है और छुटकारा चाहते है। जब कभी पन्ना उलटते समय उनकी दृष्टि ऐसे स्थलोपर पडती तो बडे आश्चर्यमे पड जाते कि मैने कब यह चीज लिखी। एक तो उसमे वह प्रौढता न होती थी, दूसरे विषय ऐसा जो कभी उनकी लेखनीसे निकलने-वाला नहीं। महीने-दो-महीनेके बाद वह असली बात ताड पाये। तब मुझसे बोले 'हम जान गइली। ई तोहरे बदमाशी हौ।' उस समयकी कुछ तुकबन्दियाँ याद है :

ध्यानमें आन बसी जबते, तबते भई जेलकी पीर पराई।
सामुहें आई, दुरी बहुबार, गई अब तो, अब हाथमें आई
'किंकर' केसनकी सितता लखि बारवधू-सी रहै बिलगाई।
चित्तमें है, न कढै मुखते, अलबेलीको नाम नवेली, रिहाई॥

भैरव भीषण भय दलन, हरन भक्त भव भार।
क्यों न बेगि भजहु प्रभो, किंकर कारागार॥

अम्बरमें छाये कजरारे मतवारे मेघ,
दामिनि दमंकि सुधि हरत सयाननकी।
चहुँदिसि छितिमें छयी है छबि पावसकी,
छीनी पपीहन मति नेहके दिवाननकी।
कसिके बेधै वियोगिनके हिये बीर,
छूटीं सर वृन्दैं ये पुहुप कमाननकी।
दई निर्दई ऐसे समय लिख दई हाय,
किंकरके भागमें दिवालें जेलखाननकी॥

मै तिकडमका जिक्र पहिले कर चुका हूँ। कुछ ऐसे लोग भी थे जो तिकडम करना पाप समझते थे परन्तु अधिकाश काग्रेसजन तो इसको बुरा नहीं समझते थे। जेलके अधिकारियोकी ऑखोमे धूल झोंकना कुछ शानकी बात भी थी। उसमें मजा भी आता था। पर सब लोगोने अपने लिए अलग-अलग सीमाएँ बॉध रखी थी। मैं स्वय उन तिकडमवालोमें था जो

अखबार मँगाना वैध समझते थे। महँगा सौदा था। बाहरके दूने पैसे लगते थे परन्तु यह कुछ बहुत अधिक भी नही कहा जा सकता। आखिर बीचमे कई हाथ गरमाने होते थे और भीतर लानेवालेको खतरेका भी सामना करना होता था। मुझको तेज पढ़नेका अभ्यास है। जल्दी-जल्दी पढकर कागजकी चिटोपर मुख्य समाचारोको सकेतमे लिख लेता था। दिन-रात वार्डर सिरपर रहते थे। इसलिए यह बहुत सरल काम नहीं था। दूसरे दिन जलपानके समय सबको सुना देता था। उस समय कोई पहरेदार हमारे पास नही रहता था। अखबारको अपने रसोई-घरमे जला डालना कठिन काम नहीं था।

आन्दोलन आरम्भ होनेके कुछ दिन बादसे ही समझौतेके प्रयत्न आरम्भ हुए। पहिले तो सफलता न मिली परन्तु श्री श्रीनिवास शास्त्री, सर तेजबहादुर सप्रू और श्री एम. आर. जयकर प्रयत्नमे लगे ही रहे। अन्तमे गान्धी-अर्विन पैक्टके नामसे समझौता हो ही गया। समझौतेकी शर्तें बहुत सन्तोषजनक नही थी। काग्रेस वर्किंग कमेटीके कई सदस्य असन्तुष्ट थे, गान्धीजीके निजी दबावके कारण ही और लोग चुप रह गये। मुख्य शर्तें यह थी कि आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा, सरकार मुकदमे उठा लेगी और सत्याग्रही छोड दिये जायँगे। जो जुरमाने वसूल नहीं हुए हैं वह माफ कर दिये जायँगे, जो जब्त की हुई जमीनें बिक नही चुकी है वह लौटा दी जायँगी, जिन सरकारी अफसरोने इस्तीफा दिया था वह अपनी जगहोंपर फिर बहाल हो जायँगे, यदि जगहे भर न गयी हो, और यदि किसी जगह नमक बनानेकी प्राकृतिक सुविधा हो तो वहाँके लोग अपने कामके लिए नमक बना सकेंगे।

इन शर्तोंमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे 'यदि'की भरमार है। जेलसे छोडनेके सम्बन्धमे भी एक 'यदि' था। जिन लोगोपर सैनिको या पुलिस-वालोपर आक्रमण करनेका अभियोग था वह न छूटेंगे। अच्छाई यह थी कि बहुत दिनोके बाद ऐसा हुआ कि भारतके किन्ही प्रतिनिधियो और ब्रिटिश सरकारके बीच कोई समझौता हुआ। एक प्रकारसे काग्रेसका

बराबरीका पद स्वीकार किया गया। स्वयंसेवकोंको सुस्तानेका अवसर मिला, राष्ट्रका गौरव बढा। जनताने सहयोग और सत्यशक्तिके लाभको प्रत्यक्ष देखा।

समझौतेमें कहीं स्वराज या राजनीतिक सुधारोंकी चर्चा नहीं है। लन्दनमें गोलमेज कानफरेंस हुई थी परन्तु कांग्रेसके सम्मिलित न होनेसे वह विफल रही। यह निश्चय हुआ कि दूसरी कानफरेंस लन्दनमें फिर हो। उसमें कांग्रेस भी सम्मिलित हो। उसीमें राजनीतिक प्रश्नोंपर विचार होगा।

६ फरवरी १९३१ को पण्डित मोतीलाल नेहरूका स्वर्गवास हो गया। उस समय हम लोग जेलमें ही थे। समझौतेके बाद आन्दोलन उठा लिया गया और होलीके कुछ पहिले अधिकांश राजनीतिक बन्दी छोड दिये गये। मेरी सजा पूरी होनेके लगभग छ महीने शेष रह गये थे।

आन्दोलन शानदार रहा, परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि हमको जो कुछ भी सफलता मिली उसका श्रेय केवल कांग्रेस नेताओं और स्वयंसेवकोंको नहीं है। हम संख्यामें थोडे थे पर हमारे पीछे देशकी सारी जनता थी। हमको सबकी सहानुभूति प्राप्त थी। लोग सहायता करनेको उत्सुक थे, तत्पर थे और इसके लिए खतरा उठानेके लिए तैयार थे। १९२१ में तो आन्दोलनका खुला रूप था। १९३० के बाद गुप्त काम करने पड़े पर हमारे भेद नहीं खुले। कांग्रेसकी विज्ञप्तियाँ छपती थीं, सारे देशमें पहुँचती थीं परन्तु सरकारी प्रलोभन या भय उनका पता न पा सका। छोटे-छोटे कार्यकर्ताओंने अद्भुत साहस और चरित्रबल दिखलाया। देश उनसे कभी उऋण नहीं हो सकता।

लडाई बन्द नहीं हुई, कुछ दिनके लिए थम गयी। ऐसी लडाइयाँ तो स्वतन्त्रताकी उपलब्धिके पहिले बन्द होना जानतीं ही नहीं। रुकती हैं, फिर आरम्भ होती हैं। दोमेंसे किसी पक्षका उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ, कोई पक्ष इतना थका नहीं कि हार मानकर बैठ रहे। लन्दनमें होनेवाले

गोलमेज सम्मेलनतकके लिए संघर्ष टल गया परन्तु किसीको यह विश्वास नहीं था कि लन्दनमें भारतकी समस्या सुलझ जायगी। सबको ऐसा लगता था कि शीघ्र ही इस विरामसन्धिका अन्त होगा और युद्ध फिर छिड़ेगा। काशीकी एक घटनासे उभय पक्षकी मनोवृत्तिका अच्छा परिचय मिलता है।

फेसुडा ग्रामका जिक्र ऊपर आ चुका है। वहीं १३ अप्रैलको नमक कानून तोड़नेमें मेरी गिरफ्तारी हुई थी। इन दिनों वहाँ जमींदार और किसानोंमें कुछ खटपट चल रही थी। हम कांग्रेसवाले चाहते थे कि हम बीचमें पड़कर मामला निबटा दें, परन्तु सरकारी कर्मचारियोंका भी यही प्रयत्न था। न उनको हमारा हस्तक्षेप पसन्द था, न हमको उनका। इस कारण कुछ तय नहीं हो रहा था। इसी समय डॉ० भगवानदासजीने सरकारी और गैरसरकारी कुछ लोगोंको चायपर बुलाया। उनका उद्देश्य दोनों पक्षोंको एक-दूसरेके निकट लाना था। फेसुडाका जिक्र छिड़ना स्वाभाविक था। कुछ देरतक यों ही गोल-गोल बातें होती रहीं इसके बाद जिला मजिस्ट्रेट श्री फिनलेने मुझसे कहा: 'हम और आप एक-दूसरेको खूब अच्छी तरह समझते हैं। आप इस मामलेको हमको बीचमें डाले बिना तय करना चाहते हैं और हम आपके बिना। हम दोनोंको ऐसा लगता है कि फिर संघर्ष होगा। हम आपको कुचल डालनेका पूरा प्रयास करेंगे और आप हमको चकनाचूर करनेका भरसक यत्न करेंगे।' मैंने श्री फिनलेकी बातोंका अक्षरशः समर्थन किया। डॉ० भगवानदास इस बातचीतसे बहुत क्षुब्ध हुए। उनको यह अन्दाज नहीं था कि आपसकी खाई इतनी गहिरी है। परन्तु वस्तुस्थिति वैसी ही थी। श्री फिनलेका कहना यथार्थ था।

लन्दनमें गोलमेज कानफरेंस होनी थी। महात्माजी कांग्रेसके प्रतिनिधि होकर जा रहे थे। उससे कोई विशेष आशा नहीं थी परन्तु वातावरणको बिगाड़नेका अपयश कोई नहीं लेना चाहता था। भीतर-भीतर भावी संघर्षके लिए तैयारी जारी थी। सरकार और कांग्रेस दोनोंने ही

१९३० से कई बातें सीखी थीं परन्तु ऊपरसे शान्ति थी। परन्तु यह शान्ति बहुत दिनोंतक टिक नहीं सकती थी। परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि शान्त वातावरणको बनाये रखना दिनों दिन कठिन होता जा रहा था।

हमारा उत्तरप्रदेश अशान्तिका केन्द्र बन रहा था। फसल खराब हो गयी थी। किसानोंकी दशा अच्छी नहीं थी। हमारी रायमें लगानमें छूट देनेकी आवश्यकता थी। सरकार इसके लिए तैयार नहीं थी। यदि जमींदारोंको लगान कम मिला तो सरकारको उनसे मिलनेवाली मालगुजारीमें भी कमी करनी पड़ेगी। परन्तु सरकारको रुपया कम मिलनेकी चिन्ता नहीं थी। उसको यह डर था कि यदि एक बार कांग्रेसके कहनेसे लगानमें कमी की गयी तो किसानोंकी दृष्टिमें कांग्रेस उनकी प्रबल हितू बन जायगी। इससे सरकारका पक्ष दुर्बल पड़ जायगा। सरकारका कहना था कि किसान पूरी-पूरी लगान दे दें। फिर जाँच करायी जाय कि वस्तुतः उनकी आर्थिक अवस्था कैसी है। यदि जाँचसे सिद्ध हो कि उनकी देनेकी सामर्थ्य नहीं है तो जितनी छूट उचित प्रतीत होगी उनको लौटा दी जायगी। हम लोग जाँचका समर्थन करते थे परन्तु हमारी राय यह थी कि जाँचके बाद लगान ली जाय, यदि किसान किसी प्रकार पहिले ही पूरी लगान भर देंगे तो जाँच बेकार हो जायगी। यह सिद्ध हो जायगा कि वह लगान चुका सकते हैं। इस बातपर कोई समझौता न हो सका। दोनों पक्ष अपनी-अपनी जगह दृढ़ थे। प्रश्न प्रादेशिक कांग्रेस कमेटीकी कार्यकारिणी समितिके सामने आया। निश्चय यह हुआ कि लगानबन्दीका आन्दोलन चलाया जाय। मेरा और कुछ और सदस्योंका यह खयाल था कि आन्दोलन चलाया जाय परन्तु उसको लगानबन्दीका रूप न दिया जाय। लगानके बदले सरकार जमीन जब्त करके बेच देगी। फिर उसे वापस दिलाना कठिन होगा। पुश्त दर पुश्तके लिए जीविका चली जायगी। यह आन्दोलन बहुत सफल न होगा। बहुमत हमारे विरुद्ध था। जो भी निश्चय हुआ उसको सफल बनाना हम सबका कर्तव्य था। इस बार मेरे ऊपर दोहरा दायित्व था। एक तो मैं बनारस शहर और जिलेका अधिनायक

(डिक्टेटर) था, दूसरे प्रदेशभरके प्रशिक्षित स्वयसेवक सघटन, हिन्दुस्तानी सेवादल, का अध्यक्ष था।

गोलमेज सम्मेलनसे लौटते ही महात्माजी ४ जनवरी सन् १९३२ को बम्बईमे गिरफ्तार हो गये। उत्तरप्रदेशमे तो इसके पहिले ही गिरफ्तारियॉ हो चुकी थी। सरकारकी तैयारी यह थी कि सभी प्रमुख काग्रेसजन पकड लिये जायॅ ताकि स्वयसेवकोकी दशा अफसर-हीन सेना जैसी हो जाय। आन्दोलन आप ही बैठ जायगा। गिरफ्तारियॉ तो हुई परन्तु आशा पूरी न हुई। कुछ लोगोका यह खयाल था कि उत्तरप्रदेशवालोने नाहक लडाई छेडकर सारे देशको उसमे फॅसा दिया। स्वय महात्माजीका यह खयाल नही था। गिरफ्तारीके पहिले उनसे और वायसरायसे लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ था। उससे स्पष्ट है कि सरकार दमन करनेपर तुली हुई थी। एक पत्रमे महात्माजीने लिखा था : 'घटनाएँ ऐसी हुई है कि मुझको सहयोगकी कोई आशा नही रह गयी जबतक कि मै अपना सारा आत्मसम्मान न खो बैठूँ और पिछले ४५ वर्षोंके इतिहासको नये ढगसे लिखनेके लिए तैयार न हो जाऊँ। सरकारके लिए यह असह्य है कि काग्रेसका प्रभाव जनतापर बढता जाता है और वह बराबर मजबूत होती जाती है।'

बहरहाल, युद्ध आरम्भ हो गया। कुछ जिलोको छोडकर लगान-बन्दी तो बहुत सफल नही रही परन्तु और कई काम भी उठा लिये गये। शराबकी दूकानो और विदेशी वस्तुकी दूकानोपर बहुत सफल धरना हुआ। कुछ जगहोमे लोगोने ताडके पेट काट डाले कि ताडी बन ही न सके।

मुझे छ मासकी सजा हुई थी। अधिक समयतक रायबरेली जेलमे रहा। इस बार जेलका वातावरण बहुत अशान्त था। हमारे प्रदेशके कुछ जेलोने राजनीतिक बन्दियोके साथ दुर्व्यवहार करनेमे नाम कमा रखा था। उनमे रायबरेली भी था। मै स्वय 'ए' क्लासमे था। हमारे साथ प्रत्यक्ष दुर्व्यवहार नही था परन्तु हमारे 'सी' क्लासके साथियोको जो कष्ट दिया

जाता था उसकी सूचना मिलती ही रहती थी। उससे हम भी क्षुब्ध होते थे। एक बार बहुत मार-पीट हुई। फलस्वरूप 'सी' क्लासवालोंने अनशन करनेका निश्चय किया। हमने, मेरे साथ 'ए' क्लासमें दो और मित्र थे, मना किया, इतने आदमी अनशन नहीं कर सकते। जेलवाले थोडा-सा भोजन भेज देते हैं। सबकी शक्ति एक-सी नहीं होती। कुछ लोगों का धैर्य छूट जाता है, भोजन देखकर दुर्बलता और बढ जाती है। जहाँ एकाध व्यक्तिने अनशन तोडा कि वहाँ धडाधड और लोग ऐसा करने लगते हैं। ग्लानि होती है, लज्जा आती है परन्तु भूख सँभाली नहीं जाती, हमने कहलाया कि आप लोग अनशन न करें और चाहे जो करें। आपकी ओरसे अनशन हम करेंगे। जबतक आप लोगोंका संघर्ष जारी रहेगा हम लोग अनशनपर रहेंगे। आठ दिनतक यही हाल रहा। 'सी' क्लासमें गाजीपुरके श्री गजानन्दके सिवाय और किसीने अनशन नहीं किया। बीचमें कहींपर खबर बाहर पहुँची कि मेरी दशा बहुत खराब है। खबर गलत थी परन्तु लोगोंको विश्वास हो गया। काशीमें हड़ताल हो गयी। मालवीयजीने प्रादेशिक सरकारसे पत्रव्यवहार किया। बहरहाल, किसी प्रकार वह संघर्ष तो खतम हुआ। यह मानना होगा कि जेलके अधिकारियोंकी जीत हुई। लात-जूते-डण्डेकी मार सहनेकी भी सीमा होती है। यह मार-पीटका काम 'दोबाडो'से लिया जाता था। चोर, डकैत, खूनी, कोकेन बेचनेवाले, स्त्रीविक्रेता यह लोग 'दोबाडा' कहलाते हैं। इनकी लम्बी सजाएँ होती हैं। छूटकी लालचमें यह लोग जेल अधिकारियोंके लिए सब-कुछ करनेको तैयार रहते हैं। आठ दिनके बाद हमारा अनशन भी समाप्त हो गया। प्रदेशके अन्य बहुत-से जेलोंमें इसी प्रकार मार-पीटका बाजार गरम था। सुननेमें आता था कि बरेली जेलमें तो जानेके साथ ही किसी-न-किसी बहाने राजनीतिक बन्दियोंको पीटा जाता था। फाटकपर ही यह स्वागत होता था।

मेरे छूटनेके समयतक आन्दोलन ढीला हो चला था। जेलसे आनेके बाद कुछ बडे नेताओंको स्वास्थ्यसुधारके लिए यूरोप जाना पडा। इसका

भी बुरा असर पडा। लोगोने समझा कि यह लोग जान चुराते है। इस अविश्वास और दुर्बलताको बदलना था। अतः उत्तरप्रदेशमे हम लोगोने यह निश्चय किया कि जेलसे आनेपर शीघ्र ही फिर जानेका प्रयत्न करना होगा। यह बहुत कठिन नही था। सरकार नही चाहती थी कि बुझती आगमे नया ईंधन पडे इसलिए जेलसे आनेके बाद पुनः काममे लग जानेवालेको वह स्वयं बाहर नही रहने देना चाहती थी। हम लोगोने आपसमे तय किया कि पहले आचार्य नरेन्द्रदेव जायेगे, फिर मै। जुलाईमे बाहर आया था, सितम्बरमे फिर पहुँच गया। इस बार भी रायबरेली भेजा गया पर वहाँ मुश्किलसे एक सप्ताह ही रहने पाया। जेलवालोने सरकारको लिखा कि इनके रहनेसे कैदियोपर बुरा प्रभाव पडता है। मै झाँसी भेज दिया गया।

आन्दोलन धीरे-धीरे समाप्तप्राय हो गया। इस बार भी उत्तरप्रदेशमे लगभग ८०,००० व्यक्ति जेल गये। किसी अन्य प्रदेशने इतने स्वयसेवक नही दिये। यह कम लोग जानते होगे कि कुछ दिनोतक काग्रेसका अखिल भारतीय और प्रादेशिक दफ्तर काशीमें ही था और हमारे गुप्त प्रेससे ही छपकर विज्ञप्तियाँ सारे देशमे वितरित होती थी। यह सब इसलिए हो सका कि जनताका हृदय हमारे साथ था। कुछ लोग हमारे गोपनीय स्थानो और कार्यकर्ताओंको पहचानते थे, कई लोगोंके पास सन्देहके लिए पर्याप्त सामग्री थी। परन्तु पुलिसको साँस भी न मिल सकी। हमारा स्वयसेवक देहातमे जहाँ भी चला जाय, उसको भोजन और आश्रयस्थानकी दिक्कत नही होती थी। काशीमे नागरिकोने स्वयसेवकोके भोजनादिका विस्तृत प्रबन्ध कर रखा था। कई सौ स्वयसेवक एक साथ काम करते थे। इस सेवामे हजारों रुपये व्यय हुए।

हमारी सेनामे बहुत-सी स्वयसेविकाएँ भी थीं। इनका साहस और धैर्य पुरुषोसे कम न था। कइयोंकी याद आती है। उदाहरणके लिए गिरिबालाका जिक्र करता हूँ। वह सम्पन्न बगाली घरानेकी महिला थी। उनके कई सम्बन्धी ऊँचे सरकारी पदोपर थे परन्तु वह उनसे एक पैसा

नहीं लेती थीं क्योंकि उनका रुपया सरकारी खजानेसे आनेके कारण दूषित था। दरिद्रताका यह व्रण और उनका अदम्य उत्साह दूसरोंके लिए आदर्श था।

झाँसी जेलमें जीवन शान्तिसे बीता। मुझको यूरोपियन बारिकमें रखा गया। कई जेलोंमें इस प्रकारके बारिक थे। अँग्रेज यदि जेलमें जाते थे तो आरामसे रहते थे और भारतीय कैदियोंसे अलग रहते थे। ऐसे बारिक जेलकी मुख्य इमारतके बाहर जेलके बाग, यों कहिये कि खेत, के बीचमें होते थे। रमणीय जगह थी, बहुत दिनोंतक कोई साथी नहीं था, एकान्त-सेवनका सुख था, पढ़ने-लिखनेका बहुत आराम था। जेलके अधिकारी शान्तिप्रिय थे, इसलिए यदि राजनीतिक बन्दियोंसे कोई मतभेद हो भी गया तो उसे बढ़ने नहीं देते थे। मुझको 'बागवानी'का परिश्रम दिया गया था; अपनी कोठरीके चारों ओर कुछ फूल-पत्ती और तरकारी लगा रखी थी। एक राजनीतिक बन्दी ही भोजन बना दिया करते थे।

छूटके दिन काटकर जुलाईमें छूटा। छ महीनेसे ऊपर सजावालेको महीनेमें ४ दिनकी छूट मिल सकती है यदि जेलमें उनका व्यवहार अच्छा हो। बाहर आनेपर देखा कि बिलकुल सन्नाटा है। आन्दोलन समाप्त हो गया था। लोग धीरे-धीरे अपनी सजाएँ पूरी करके बाहर निकल रहे थे परन्तु कोई नया काम नहीं हो रहा था। 

: १० : कुछ अर्द्धराजनीतिक काम (३३-३४)

आन्दोलन ठण्डा हो चुका था और राजनीतिक वातावरण ऐसा नही था कि लोगोंको पुनरुत्साहित करके सत्याग्रहकी ओर प्रवृत्त किया जा सकता। हममेंसे कुछ लोग भले ही पुनः जेल चले जाते परन्तु इससे लोक-जीवनपर कोई प्रभाव न पडता। ऐसी दशामे सरकारके विरुद्ध किसी प्रकारके आन्दोलनकी बात नही सोची जा सकती थी परन्तु हाथपर हाथ रखकर बैठा भी नही जा सकता था। कोई-न-कोई ऐसा काम करना था जिससे उत्साह फिर उज्जीवित हो। आचार्य कृपालानी, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री रफी अहमद किदवाई, मै तथा कुछ और मित्रोने दो बातोंकी ओर ध्यान देनेका निश्चय किया।

प्रदेशके पूर्वी जिलोंके शकरके कारखानोमे गन्ना लानेवाले किसानो-को बहुत कष्ट होता था। कई-कई दिनतक रुकना पडता था, इससे गन्ना सूख जाता था, तौल कम हो जाती थी, मूल्य कम मिलता था। पानीकी ठीक व्यवस्था नहीं थी और बैलोंके लिए साया नही था। तौलके कॉटे प्रायः खराब थे और तौल कम बताते थे। हमने कई मिलोके क्षेत्रोंमें जाकर इन बातोकी जॉच की। शिकायतें तो ठीक थी ही। विचित्र बात यह थी कि जिन मिलोके मालिक अग्रेज थे उनमें भारतीयोकी मिलोसे अच्छी व्यवस्था थी। हमारे इन बातोकी ओर ध्यान आकृष्ट करनेसे मिल-मालिक घबराये। उनको डर हुआ कि कहीं किसानोंमे गन्ना न देनेका आन्दोलन छिड गया तो मिलें बन्द हो जायॅगी, भारी क्षति होगी। सरकार भी कुछ बोल नहीं पाती थी। शिकायते इतनी सच्ची थीं कि वह मिल-

मालिकोंका पक्ष खुलकर ले नहीं सकती थी। परिणाम यह हुआ कि हमारे मुख्य-मुख्य सुझाव प्रायः सभी मान लिये गये। पानी, साया, अविलम्ब तौलाई, अच्छे काँटे इन सब बातोंकी ही व्यवस्था हो गयी। इससे पूर्वी जिलोंकी ग्रामीण जनतापर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। लोगोंको विश्वास हो गया कि कांग्रेस ही उनकी सहायता कर सकती है।

दूसरे कामका राजनीतिक महत्त्व अधिक था। प्रत्यक्ष भी था। १९३०-३२ में कई जिलोंमें किसानोंको बहुत सताया और अपमानित किया गया था। जमींदारोंको खुलकर खेलनेका अवसर मिला था। उन्होंने इस अवसरसे पूरा लाभ उठाया। कांग्रेसवालोंकी बात माननेका मजा चखानेका निश्चय कर लिया गया था। जी खोलकर बदला लिया गया। ऐसा व्यवहार किया गया कि किसानोंकी आत्मा कुचल दी जाय, कोई फिर सिर उठानेका साहस न करे। सरकारी अधिकारी तमाशा देख रहे थे, कहीं-कहीं वह खुलकर सहायता दे रहे थे। सरकारका हित भी तो इसीमें था कि जनता अब कांग्रेससे विमुख हो जाय।

हमने इन बातोंकी जाँच करनेका निश्चय किया। यह तय हुआ कि जाँचकी रिपोर्ट प्रादेशिक कांग्रेस कमेटीके सामने पेश की जायगी और वह उसको प्रकाशित करेगी। जो बात लिखी जायगी, सप्रमाण होगी। दो-दो प्रमुख कांग्रेसजनकी टोलियोंमें ऐसे जिले बाँट दिये गये जहाँसे अधिक शिकायतें सुननेको मिली थीं। हम अपने जानेका कार्यक्रम कई दिन पहिलेसे घोषित कर देते थे और सबको ही साक्ष्य देनेका पूरा अवसर देते थे। हम सरकारी आदमियोंकी बात सुननेको भी तैयार थे। केवल मौखिक ही नहीं वरन् लिखित बयान लिये जाते थे। कांग्रेस स्वयंसेवक जाँचकी पूरी सूचना सब जगह पहुँचा देते थे। आवश्यकतानुसार एक-एक जगह कई दिन लग सकते थे।

जमींदारोंको तो हमारा यह काम अच्छा नहीं लगता था पर सरकारको भी पसन्द नहीं था। उसके अफसरोंकी अकर्मण्यता और ज्यादातियोंकी भी कलई खुलती थी। परन्तु जाँचको रोकना भी सम्भव नहीं था,

खुला काम था, कानूनके विरुद्ध नहीं था। कोई गोपनीय कार्यवाही नहीं हो रही थी, रिपोर्ट सप्रमाण छपनेवाली थी। इन जाँचोसे काग्रेसकी प्रतिष्ठा निश्चय ही बढ़ रही थी। उसका प्रभाव फिर दृढ हो रहा था, परन्तु सरकार बेवस थी, वह कोई रोक-थाम नहीं कर सकती थी।

आचार्य नरेन्द्रदेव और मेरे सुपुर्द देवरिया और गोरखपुरका क्षेत्र था। छोटी-बडी शिकायतें तो बहुत-सी मिली परन्तु सिसवा बाजारने सबको मात कर दिया। न तो किसी और जगह कानूनकी ऐसी निर्लज्ज और निर्दय अवहेलना हुई, न कही और सरकारी अहलकारोंने इस बेशर्मीके साथ कर्तव्यसे विमुखता दिखलायी। वहाँके जमींदार दो भाई थे। वह पासके एक गाँवके किसानोसे नाराज थे। एक दिन दोपहरके समय सशस्त्र आदमियोके साथ गाँवपर धावा बोला गया, साथमे कुछ खाली बैलगाडियाँ ले ली गयी। बाजारमे थाना है पर थानेवाले कुछ न बोले। गाँवकी नाकाबन्दी की गयी कि कोई भाग न सके, लोग पीटे गये और अन्न, नकद, जेवर, जो कुछ मिला सब लूट लिया गया। लूटका माल बैलगाडियोंमे भरकर विजयी सेना शामको लौटी, फिर भी सरकारी अहलकार सोते रहे। कुछ गाँववाले किसी प्रकार भागकर बाचार पहुँच गये थे। वह अफसरोके यहाँ दोहाई देना चाहते थे परन्तु जमींदारके आदमियोंने उन्हे भी पकड लिया। उनसे जाली हैंडनोटोपर अँगूठेके निशान लगवा लिये गये। फिर भी अधिकारियोके जूँ न रेंगी।

सहसा ऐसी बातोपर विश्वास करना कठिन होता है। अनुचित बाते होती हैं पर इस प्रकार अधिकारियोकी आँखोके सामने दिन-दहाडे लूटकी तैयारी हो, गाँव लूटा जाय, लूटका माल खुलकर लाया जाय और फरियाद करनेवालोको पकडकर उनसे ऋणके कागजपर अँगूठेका निशान लगवाया जाय और अधिकारी चुप रहें, ऐसा स्यात् ही कहीं हुआ होगा। समाचारपत्रोतक या तो समाचार नहीं पहुँचा या डरके मारे किसीने छापा नहीं। परन्तु हमारे पास एक-एक चीजका प्रमाण था। हमारी रिपोर्ट यो ही टाली नहीं जा सकती थी। जमींदार घबराये। इतना तो वह

समझ ही गये कि रिपोर्ट छपनेपर सम्भवतः सरकारको इच्छा न रहते हुए भी कोई कारखाई करनी ही पड़ेगी और उस समय सरकारी कर्मचारी उनकी कोई सहायता न कर सकेंगे। उन्होने अपनी भूल स्वीकार करनेमे ही कल्याण समझा। जाली हैंडनोट फाड डाले गये और लूटका कुछ सामान लौटा दिया गया। शेषका पता न चला। उन्होने उजडे किसानो-को फिरसे वसानेमे सहायता देनेका भी वचन दिया। उन्होने कुछ किया इसमें मुझे सन्देह है परन्तु यह निर्विवाद है कि यह बहुत बड़ी नैतिक विजय हुई। यह सिद्ध हो गया कि दुर्बलो और उत्पीडितोंकी रक्षा करने-की क्षमता सिवाय कांग्रेसके और किसीमे नहीं है। सरकारकी भी बडी बदनामी हुई। उसके अहलकारोंको सतर्कता बरतनी चाहिये थी। अत्याचार हो परन्तु पकड़ा न जाय, यही उस समयकी नीति थी। गोरखपुरके अहलकारोंने सरकारकी प्रतिष्ठाको क्षति पहुँचायी, वह समझ-दारीमे काम न कर सके।

मामला यहीं समाप्त नहीं हुआ। जेलसे छूटनेके बाद महात्माजी और वाइसराय लार्ड विलिंग्डनमे जो लम्बा पत्रव्यवहार हुआ उसमे इस घटनाका जिक्र आया और महात्माजीने सरकारके विरुद्ध अत्याचारोकी जो सूची चार्जशीटके नामसे प्रस्तुत की थी उसमे यह रिपोर्ट अन्तर्भूत थी।

हमारी दूसरी टोलियोकी रिपोर्टें भी ऐसी ही थीं, यद्यपि सिसवा बाजारकी घटना अपने ढगकी अनोखी थी। सर्वत्र जुल्म-ज्यादती हुई थी। जमींदारो और ताल्लुकेदारोंने उच्छृंखल होकर कृषकोंके साथ बर्बर आचरण किया और सरकारी शासनयन्त्र देखकर हँसता रहा। जहाँ सक्रिय सहयोग नहीं हुआ वहाँ भी उसका मूक अनुमोदन प्राप्त था।

जो होना था वह तो हो गया। उसको लौटाया नहीं जा सकता था। जिसको जो यन्त्रणा भोगनी थी वह भोग चुका, अपमान सह चुका, क्षति उठा चुका, परन्तु इन रिपोर्टोंसे सबको यह ज्ञात हो गया कि शान्ति-व्यवस्थाकी आड़मे अन्याय और उत्पीडनका कैसा नंगा नाच नाचा गया था। यदि किसीके मनमे सरकारपर कुछ श्रद्धा रही हो तो वह बहुत-

: ११ : कांग्रेस समाजवादी दल

इस दलका जन्म कांग्रेसके इतिहासकी बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। दल अब नहीं है। परन्तु आज भी कांग्रेसके ऊपर उसकी अमिट छाप देखी जा सकती है। दलके स्थापित होनेके सम्बन्धमें कई लोगोंको भ्रान्ति थी, आज भी है। कुछ लोग यह समझते थे, कि थोडे-से नवयुवकोंने, जिनमेंसे अधिकांशको कोई जानता भी न था, एकत्र होकर इसको कायम किया है। वह लोग पुराने नेताओंसे असन्तुष्ट थे और अपने असन्तोषको व्यक्त करनेके लिए उन्होंने दलको साधन बनाया। दूसरी ओर कांग्रेसके कई बडे नेताओंकी धारणा थी कि पण्डित जवाहरलाल नेहरूने इसे कायम कराया था। यह भ्रान्ति १९४२ मे जाकर दूर हुई जब अहमदाबादमें आचार्य नरेन्द्रदेवको इन लोगोंके साथ जेलमें रहनेका अवसर मिला। रूसके शासकोंका एक तीसरा ही मत था। उसका उल्लेख आगे चलकर होगा। यह तीनों ही मत भ्रान्त और निराधार थे। पहिलेमे तो कुछ थोडा-सा तत्त्व रहा भी हो पर शेप दोनो नितान्त गलत थे।

स्वराज्य अभी दूर था परन्तु क्षितिजपर उसकी झीनी आभा देख पडने लगी थी। यह प्रतीत हो रहा था कि स्वराज्य होकर रहेगा और उसकी प्राप्ति अनतिदूर भविष्यमें ही होगी। ऐसी अवस्थामें स्वराज्योत्तरकालकी ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक था। स्वतन्त्र भारतकी व्यवस्था कैसी हो? इस बीचमें समाजवादका पर्याप्त अध्ययन हुआ था। हम न तो रूससे आनेवाले प्रचारात्मक वाङ्मयपर एकमात्र आश्रित थे, न इंग्लैण्ड और अमेरिकासे प्रकाशित विरोधी साहित्यपर। अब हमको प्रभूत अध्ययनसामग्री उपलब्ध थी और हमने काफी मनन किया था।

२. चकबन्दी

३. मुख्य उद्योगो तथा यातायातके मुख्य साधनोका राष्ट्रीकरण

४. न्यूनतम पारिश्रमिक और कामके अधिकतम घण्टोका स्थिरीकरण

५. बेकारोको काम या भत्ता तथा वृद्धावस्थामे पेशन

६. प्रसवके एक मास पूर्व और पश्चात् प्रत्येक काम करनेवाली स्त्रीको एक मासकी छुट्टी

७. प्रत्येक ऐसे बच्चेको जिसके माता-पिता निर्धन है, मुफ्त भोजन तथा निःशुल्क शिक्षा

८. सम्पूर्ण नशा बन्दी

९. नमक-करका उठा दिया जाना

यह प्रारम्भिक विचार थे, इनमे पीछेसे सशोधन भी हुआ। मैने मुआविजेकी दर बहुत बढाकर रखी थी। उस समय मेरे मनमे यही था कि रूस जैसे खून-खराबेकी नौबत न आने पाये।

१९३२ के आन्दोलनके बाद समाजवादमे अभिरुचि और बढी। ऐसा लगा कि यही ऐसा मार्ग है जिससे देशके करोडो गरीब स्वराज्यकी लडाईकी ओर प्रवृत्त किये जा सकते है। अकेले-अकेले विचार करनेवालो-को सम्मिलित प्रयत्नकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। एक दिन सायकाल ९ व्यक्ति, जिनमे मै भी था, मेरे घरपर एकत्र हुए और उन्होने समाजवादी पार्टी बनानेका निश्चय किया। उनमेसे अब चार ही सार्व-जनिक क्षेत्रमे काम करते हैं, श्री तारापद भट्टाचार्य जो अब प्रजासमाजवादी पार्टीमे हैं, उत्तरप्रदेशके भूतपूर्व गृहमन्त्री श्री कमलापति त्रिपाठी, मेरे छोटे भाई परिपूर्णानन्द और मै। कार्यक्रम प्रायः वही था जिसका सकेत मेरी पुस्तिकामे था।

धीरे-धीरे विभिन्न केन्द्रोको एक-दूसरेका पता लगा और सम्पर्क स्थापित हुए। पटनामे आचार्य नरेन्द्रदेवके सभापतित्वमे एक सम्मेलन हुआ जिसमे यथाशक्य समाजवादी विचारोके सभी प्रमुख काग्रेसजन एकत्र हुए। कुछ ही समय बाद काग्रेसका अधिवेशन होनेवाला था। काग्रेसपरसे

गैरकानूनी होनेका प्रतिबन्ध उठ चुका था। यह निश्चय हुआ कि उस अवसरपर काग्रेसके भीतर एक समाजवादी दल स्थापित किया जाय। परन्तु इसके पहिले प्रादेशिक दलोंका स्थापित होना आवश्यक था। यह प्रादेशिक दल ही सघीभूत होकर अखिल भारतीय दलको जन्म देंगे।

काग्रेसका बम्बई अधिवेशन अक्तूबर १९३४ मे समुद्रतटके पास बडे मण्डपके नीचे हुआ। समाजवादी सम्मेलन पासमे ही रेडीमनी हालमे सम्पन्न हुआ। कहा जाता था कि यह हाल जिस इमारतमे है उसमे कुछ प्रेत-बाधा थी। लोग उसमे घबराते-से थे। हमारे सफल अधिवेशनने उसपर-से यह शका दूर कर दी। हमारी यह बैठक २१ और २२ अक्तूबरको हुई। इस अधिवेशनका मै सभापति चुना गया था। सद्योजात काग्रेस समाजवादी दलके सविधानकी कुछ धाराएँ अब भी स्मर्तव्य है :

उद्देश्य . ब्रिटिश साम्राज्यसे पृथक् हो जानेके अर्थमे पूर्ण स्वाधीनताकी उपलब्धि और समाजवादी समाजकी स्थापना।

सदस्यता . दलके सदस्य वह लोग होगे जो भारतीय राष्ट्रीय काग्रेसके सदस्य होनेके साथ-साथ दलसे सम्बद्ध किसी प्रादेशिक काग्रेस समाजवादी दलके भी सदस्य हो, परन्तु प्रतिबन्ध यह है कि वह .

(क) किसी साम्प्रदायिक सघटनके सदस्य न हो या

(ख) किसी ऐसे दूसरे राजनीतिक सघटनके सदस्य न हो जिसके उद्देश्य और कार्यक्रम दलकी सम्मतिमे उसके अपने लक्ष्य और कार्यक्रमके अनुकूल न हो।

दलके कार्यक्रमके तीन मुख्य भाग थे : लक्ष्य, काम करनेकी योजना और तात्कालिक माँगें। प्रथम कोटिमे पन्द्रह मदे थी जिनमेसे मुख्य यह थी :

१. उत्पादक जनताके हाथोमे समस्त अधिकारोका हस्तान्तरण।

२. मौलिक तथा मुख्य व्यवसायोका समाजीकरण।

३. विदेशी व्यापार राजके हाथमे होना।

४. राजामहाराजाओ, जमींदारो तथा अन्य सभी प्रकारके शोषकोका विना मुआविजा दिये दूरीकरण।

५. सहकारी और सम्मिलित खेतीका प्रोत्साहन।

६. वस्तुओके उत्पादन और वितरणका यह आधार कि प्रत्येक मनुष्यको अपनी शक्तिके अनुसार समाजकी सेवा करनी चाहिये और अपनी आवश्यकताके अनुसार समाजमे मिलना चाहिये।

७. इस वातका मान लिया जाना कि प्रत्येक व्यक्तिको काम करनेका और काम न मिलनेपर राजसे भृति पानेका अधिकार है।

काम करनेकी योजनाके मुख्य अग यह थे :

१. राष्ट्रीय काग्रेसके भीतर इस प्रकार काम करना कि वह दलके उद्देश्य और कार्यक्रमको स्वीकार कर ले।

२ कृषको और श्रमिकोंके सघोको स्थापित कराना।

३. साम्राज्यशाही युद्धोका सक्रिय विरोध और युद्धो तथा अन्य इस प्रकारकी विपम घटनाओका अपने राष्ट्रीय सघर्षके तीव्रतर वनानेमे उपयोग।

४ अपने हाथमे अधिकार आ जानेके वाद ऐसी सविधायक परिपद्‌-को वैठाना जिसमे श्रमिको, कृषको और दूसरे शोषितवर्गोंके प्रतिनिधि हो।

तात्कालिक मॉगोमे तीस मॉगे रखी गयी थी परन्तु उनमें कोई नवीनता या क्रान्तिमयता नहीं थी। प्रायः वही सभी वाते समय-समयपर काग्रेसके मञ्चसे कही जाती रही थी।

ऊपर जो वाते दी गयी हैं उनको देखनेसे यह स्पष्ट होता है कि हम लोग रूसकी घटनासे और उस विचारधाराओसे जो रूसको स्फूर्त कर रही थी वहुत प्रभावित हुए थे। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि उस समयकी हमारी दृष्टि वहुत व्यापक थी। पिछले कई सालोमे काग्रेसके अधिवेशनोमे जो मन्तव्य स्वीकृत हुए है और काग्रेस सरकारोने जिन नीतियो और कार्यक्रमोको अपनाया है उनपर दृष्टि डालनेसे ही यह प्रतीत होता

है कि अपनी पहिली बैठकमे ही हमने जिन बातोका चर्चा किया था उनसे काग्रेस भी बहुत दूर है। मै यह नही कह रहा हूँ कि हमारी सारी बाते अकाट्य थी पर यह निर्विवाद है कि जिन दिशाओकी ओर हमने सकेत किया था उनकी ओर बढनेका आज भी हमारे नेताओंको साहस नही है, यद्यपि उनकी उपयोगिता उनको भी मान्य है।

अधिवेशनके अन्तमे कार्यकारिणी समिति चुनी गयी। हमारे सविधान-मे स्थायी अध्यक्षका पद नही था। श्री जयप्रकाशनारायण मुख्यमत्री हुए। दलके अधिकाश सदस्य उम्रमे थोडे थे, कई तो काग्रेसमे हालमे ही आये थे। सहकर्मियोके साथ काम करनेमे विशेष रस मिलता था। देशकी स्वाधीनताकी लगन तो थी ही, समाजवादने कुछ और ही नशा प्रदान किया था। नये प्रकारकी दुनिया बनानेकी, भारतको पृथ्वीपर स्वर्गमे परिणत करनेकी, भारतकी दासता, दुर्बलता, दरिद्रता हटा देनेकी, असाधारण उमंग थी, हम लोगोमे कुछ वैसा ही उत्साह था जैसा किसी नये धर्मके प्रवर्तकोमे देख पडता है। अधिकाश पुराने नेता हमारे विरुद्ध थे। उनके विरोधने हमारे आपसी सौहार्दको और बढा दिया।

महात्माजी और राजेन्द्र बाबूको छोडकर सभी पुराने नेता हमारे विरुद्ध थे। उनको ऐसा लगता था कि दलका स्थापित होना उनके लिए प्रबल चुनौती है। उन्होने आरम्भसे ही हमको नीचा दिखानेका प्रयत्न किया। यह मानना होगा कि हमने भी अपनी ओरसे उनके विरोधको शान्त करनेका कोई उपाय नहीं किया। उनको नाराज होनेका ही अवसर देते रहे। इस पहिली बैठकका ही हमारा एक प्रस्ताव कहता है : 'यह बात हमारे ध्यानमे है कि दक्षिणपक्ष इस बातका यत्न कर रहा है कि काग्रेसको पुनः वैध आन्दोलनके निन्द्य मार्गपर ले जाय और उसको उस मोल-भावका साधन बना दे जो समाजके सम्पन्न वर्ग ब्रिटिश साम्राज्य-शाहीसे करना चाहते है।' साल भरतक किसी-न-किसी बातपर चखचख चलती रही। काग्रेस सदस्यताकी दृष्टिसे आचार्य नरेन्द्रदेव और मै दलके सबसे प्रवर सदस्य थे। आचार्यजी प्राय. सालभर बहुत अस्वस्थ रहे।

उनका दमा बहुत तेज हो गया था । परिणाम यह हुआ कि दलके नेतृत्व-का सेहरा मेरे सिर बँध गया ।

बम्बई काग्रेस अधिवेशनके अध्यक्ष राजेन्द्र बाबू थे । डॉ० अंसारीने एक लम्बा प्रस्ताव पेश किया । उसमे एक ओर तो ऐसे अश थे जिनका समर्थन हर काग्रेसजन करता, दूसरी ओर कई विवादास्पद विषय थे । हम लोगोने आपत्ति की कि ऐसा प्रस्ताव नही माना जाना चाहिये । जो व्यक्ति किन्ही बातोको नापसन्द करता होगा उसको मत देनेमे कठिनाई होगी । जब यह आपत्ति न मानी गयी तो हमने यह सुझाव दिया कि प्रत्येक टुकडेपर अलग-अलग मत लिया जाय । यह बात भी न मानी गयी । इसमे हम असमजसमे पड गये । उसी समय हमको यह सूचना मिली कि डॉ० असारीने काग्रेस मेम्बरीका वार्षिक चन्दा नही जमा किया है । मैने यह आपत्ति उठायी कि जब डॉक्टर साहब का चन्दा जमा नही है तो वह काग्रेसके सदस्य नही हैं । असदस्य प्रस्ताव नही रख सकता । अत. इस समय हमारे सामने कोई प्रस्ताव नही है । मत लेनेका प्रश्न ही नहीं उठता । एक बार तो सब लोग स्तब्ध हो गये । नेतृवृन्दमे आपसमे कानाफूसी होने लगी । कुछ देरके बाद हमको बताया गया कि डॉक्टर साहबका चन्दा दिल्लीमे तो जमा नही हुआ था पर यहाँ बम्बईमे जमा हो गया । यह मानना चाहिये कि ऐसा हुआ ही होगा, पर यह सिद्ध हो गया कि हम तग कर सकनेकी काफी क्षमता रखते थे ।

इस बम्बई अधिवेशनमे काग्रस सविधानमे कई सशोधन हुए । उनमेसे एक हम लोगोके आग्रहपर हुआ । उस समयतक अखिल भारतीय काग्रेस कमेटीका चुनाव सीधे बहुमतसे होता था । यदि प्रादेशिक काग्रेस कमेटीमे ५१ सदस्य एक विचारके हो तो वह शेष ४९ मेसे एक व्यक्तिको भी न आने दे, ऐसी सम्भावना हो सकती थी । कुछ प्रदेशोमे हमारे दलके सदस्योकी सख्या काफी थी । उत्तरप्रदेशमे तो बहुत-से जिलोमे हमारा प्रभाव था फिर भी प्रादेशिक काग्रस कमेटीमे हमारा बहुमत नही था । ऐसा हो सकता था कि हमारा एक भी सदस्य अखिल भारतीय काग्रेस कमेटीके

लिए न चुना जाय। हम चाहते थे कि इस बातका लिहाज किया जाय परन्तु वर्किंग कमेटीके सदस्य हमारी बात माननेको तैयार नही थे। अन्तमे महात्माजीने हमारे कथनकी न्यायताको स्वीकार किया। उनका समर्थन प्राप्त होनेपर हम एकल सक्रमणीय मत (सिंगल ट्रासफरेबुल वोट) को मनवा पाये। इसके अनुसार प्रत्येक दल अपनी सख्याके अनुसार सदस्य चुनवा सकता है। यह नियम आजतक चालू है।

महात्माजीकी न्यायप्रियताको मेरी प्रशसाकी अपेक्षा नहीं है। फिर भी उन्होने वर्धासे इसी साल, काग्रेस अधिवेशनसे कुछ पहिले, १७ सितम्बरको एक वक्तव्य निकाला था, उसका एक अनुच्छेद उद्धृत करना चाहता हूँ :

"मैने समाजवादी समुदायके स्थापित होनेका स्वागत किया है। उनमेसे कई प्रतिष्ठित और त्यागी सत्कर्मा है। फिर भी उनकी पुस्तिकामे जो कार्यक्रम प्रकाशित हुआ है उससे मुझको मौलिक मतभेद है। परन्तु किसी प्रकारका नैतिक दबाव डालकर उन विचारोको नही दबाना चाहता जिनका उल्लेख उनके साहित्यमे है। उनमेसे कुछ विचार मुझको चाहे जितने भी बुरे लगते हो लेकिन मै उनके प्रचारमे बाधा नही डाल सकता।'

इसी उदारताने महात्माजीको देशका सर्वमान्य और एकमात्र नेता बनाया था।

पुराने नेतृवृन्दसे हमारा जो सघर्ष चल रहा था उसका एक और उदाहरण द्रष्टव्य है :

प्रथम महायुद्धके बाद ११ नवम्बरको विरामसन्धि हुई थी। तबसे यह तारीख विरामसन्धि दिवस (आर्मिस्टिस डे) के नामसे मनाया जाता था। ११ बजे दिनको सब काम रोक दिया जाता था और दो मिनटतक सब लोग पूर्णतया चुपचाप रहते थे। इस साल ११ नवम्बरके पहिले अखिल भारतीय काग्रेस कमेटीकी बैठक हुई। हम लोगोने प्रस्ताव किया कि यह दिन साम्राज्यशाही युद्धविरोधी दिवसके रूपमे मनाया

जाय। खैर, हमारी बात तो नहीं मानी गयी, हमारा उत्तर देते हुए वर्किंग कमेटीके एक सदस्यने कहा कि जैसे भाषण हमारी ओरसे दिये गये उनसे फौजदारी कानूनकी चार धाराएँ टूटती थीं। उनको किसीने टोका नहीं। इसके कुछ दिन बाद एक बयानमें मैंने कहा कि यह सदस्य महोदय तो सरकारको उकसा रहे थे कि हमारे विरुद्ध इन धाराओंके अनुसार काररवाई की जाय और वर्किंग कमेटी 'सरकारके गैर सरकारी एजेण्ट' जैसा आचरण कर रही थी। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह भाषा बहुत कड़ी और अनुचित थी परन्तु उस समयके रोषपूर्ण वातावरणमें मुँहसे निकल ही गयी। वर्किंग कमेटीकी अगली बैठकमें मेरे विरुद्ध अनुशासनकी काररवाई करनेपर विचार हुआ परन्तु राजेन्द्र बाबूके अनुरोधपर कुछ न करनेका निश्चय किया गया।

हमारे सम्बन्धमें बहुत-सी गलत बातें फैलायी गयीं। लोगोंके सामने यह बात रखी गयी कि हम कांग्रेसके भीतर फूट डालना चाहते हैं। यह बात सर्वथा मिथ्या थी। जहाँतक हमारे समाजवादी विचार थे, उनके कार्यान्वित होनेका समय तो स्वराज्यप्राप्तिके बाद आता। इस समय तो हमारा यह सतत प्रयास था कि पूर्ण स्वाधीनताके विषयमें कांग्रेसमें ढीलापन न आने पाये और ब्रिटिश सरकारसे किसी प्रकारका समझौता करके पूर्ण स्वातन्त्र्यसे नीचेकी कोई व्यवस्था न मान ली जाय। १९३५ में प्रादेशिक दलोंके नाम परिपत्र भेजकर मुख्यमन्त्री श्री जयप्रकाशनारायणने यह बात स्पष्ट कर दी थी। वह लिखते हैं: 'ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिये जिससे कांग्रेसके भीतर जो सच्चे राष्ट्रवादी हैं वह नाराज होकर उन दक्षिणपक्षियोंसे मिल जायँ जो ब्रिटिश सरकारसे समझौता चाहते हैं। इससे बुरी कोई बात नहीं हो सकती कि कांग्रेस समाजवादी और समाजवादविरोधी दो विरोधी दलोंमें बँट जाय। हमको तो उग्र राष्ट्रवादियोंको अपने साथ रखना चाहिये और कांग्रेसको इस प्रकार विभक्त करना चाहिये कि एक ओर तो यह लोग हों और दूसरी ओर समझौतेके इच्छुक नरम विचारवाले। मैं इस बातपर जोर देना चाहता हूँ कि हमको किसी हालतमें

अपनेको कांग्रेससे अलग नहीं करना चाहिये।'

कांग्रेस नेतृवृन्दसे हम लोगोंका मनमुटाव कम नहीं होता था। कोई-न-कोई बात ऐसी उपस्थित हो जाती थी जो आगमें घीका काम कर देती थी। मैं स्वाधीनताकी घोषणाका चर्चा कर चुका हूँ। १९३० में कांग्रेस समाजवादी दल जैसी कोई संस्था नहीं थी परन्तु हममेंसे बहुतोंको उसकी भाषा खटकती थी। हमारी समझमें उसमें गम्भीरताकी कमी थी और हेतुओंकी भरमार थी। स्वाधीनता मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है, उसके लिए किसी तर्ककी आवश्यकता नहीं होती। प्रथम अनुच्छेद ही हमारी रायमें ठीक नहीं था। उसमें कहा गया था कि ब्रिटिश सरकारने भारतकी स्वाधीनता ही नहीं छीनी प्रत्युत उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षति भी की। ऐसा कहना स्वातन्त्र्यके महत्त्वको घटा देता है। ध्वनि यह निकलती है कि यदि इस प्रकार बहुमुखी क्षति न की होती तो हम स्वतन्त्रताके चले जानेसे बहुत चिन्तित न होते। परन्तु हमारे कुछ नेताओंको इस दुर्बल घोषणामें भी क्रान्तिकी दुर्गन्धका अनुभव हुआ। कांग्रेस वर्किंग कमेटीने १९३५ के स्वाधीनता दिवसके पहिले घोषणाको बदल दिया। हमने इसपर आपत्ति की। हमारा कहना था कि स्वातन्त्र्य घोषणाको पवित्र मानना चाहिये। साधारण प्रस्तावोंकी भाँति उसे बदला नहीं जा सकता। हमारी बात नहीं मानी गयी परन्तु देशमें पर्याप्त लोकमत हमारे साथ था। वर्किंग कमेटीने जो परिवर्तन किये और स्वाधीनता दिवस मनानेके लिए नीचेकी कमेटियोंको जो आदेश भेजे उनका अनुमान निम्नलिखित अवतरणसे हो सकता है। यह एक लेखका आंशिक अनुवाद है जिसे मैंने दलके मुखपत्र 'कांग्रेस सोशलिस्ट'के १० फरवरी १९३५ के अंकमें निकाला था। पुराने संकल्पके, 'शान्तिमय और उचित'की जगह 'अहिंसात्मक और सत्य' बदलनेका प्रस्ताव प्रादेशिक कांग्रेस कमेटियोंके पास राय जाननेके लिए भेजा गया था। मेरी जानकारीमें कम-से कम तीन, सिन्ध, महाराष्ट्र और उत्तरप्रदेशने इसका विरोध किया। फिर भी वर्किंग कमेटी यह चाहती है कि लोग यह संकल्प करें कि हम 'मनसा

वाचा, कर्मणा अहिंसात्मक रहेंगे'। किसी भी राष्ट्रके लिए जो स्वाधीनताके लिए ऐसे शत्रुसे लड़ रहा हो जो किसी दुष्कर्मसे हिचकता न हो और जो पूँजीशाही तथा विज्ञानके सभी साधनोंसे सम्पन्न हो, यह बहुत भारी सकल्प है। इसके शब्दों या भावोंका पालन आजतक उन लोगोंने भी नहीं किया है जिन्होंने उसको राष्ट्रके सामने उपस्थित किया है और न आगे चलकर यह लोग इसका पालन करेंगे।''एक तो जो कुछ कहा गया है वह निस्तेज है, दूसरे उसके चारों ओर शर्तें लगा दी गयी हैं। यह समझमें नहीं आता कि हँसें या रोयें। जलूस निकाले जायँ परन्तु पुलिससे राय लेकर। यदि जलूस निकालनेकी अनुमति मिल जाय तो सड़कपर चुपचाप चलना चाहिये, न गाने हों, न नारे लगें। स्वाधीनताकी देवीका शव श्मशानघाटतक गम्भीरतासे पहुँचाना है। जिस जगह जाकर अहिंसाकी झूठी शपथ लेनी है वहाँके लिए भी प्रतिबन्ध हैं। यदि पुलिसको आपत्ति न हो तभी सभा की जाय। यदि आरम्भ होते-होते भी पुलिस मना कर दे तो लोग दुम दबाकर अपने बिलोंमें भाग जायँ और वहाँ चुपकेसे सकल्पपत्र पढ़ लें।

यह भाषा बहुत कड़ी है पर वस्तुस्थितिकी परिचायक है और लाखों काग्रेसजनके हार्दिक भावोंको व्यक्त करती है। पता नहीं वर्किंग कमेटीने क्या समझकर ऐसे आदेश दिये जिनका एकमात्र परिणाम लोगोंको हतोत्साह और हतवीर्य बनाना हो सकता था। प्रतिज्ञापत्र पढ़ा तो गया ही परन्तु एक लाख पढ़नेवालोंमेंसे दसने भी अहिंसावाले अशको कोई महत्त्व नहीं दिया, न उसके पालन करनेका प्रयास किया। यह सन्तोषकी बात है कि बहुधा लोगोंने शर्तोंको नहीं माना। किसीने पुलिससे राय नहीं ली, जलूस निकाले, गाने हुए, नारे लगे। कमसे कम उत्तरप्रदेशमें तो वर्किंग कमेटीके इस आदेशका पालन नहींके बराबर हुआ।

इन्हीं दिनों श्री एम० एन० राय रूससे भारत लौटे। उन्होंने बड़े क्रान्तिकारी होनेकी ख्याति प्राप्त की थी। यहाँ भी लोग उनके अगले कदमकी प्रतीक्षा कर रहे थे। पर उन्होंने कोई ऐसी बात न की जिससे

किसीको उनके प्रति श्रद्धा होती। कुछ दिनोंतक तो सरदार पटेल तथा दूसरे दक्षिणपक्षी नेताओने उनकी आवभगत की। ऐसा समझा जाता है कि यह सब इसलिए हो रहा था कि वह लोग पण्डित जवाहरलाल नेहरूके मुकाबलेमे श्री रायको खडा करना चाहते थे। मछलीने चारेपर मुँह डाल दिया। यह प्रस्ताव उठा था कि वह काग्रेस समाजवादी दलमे सम्मिलित हो जायँ परन्तु उस समय वह जैसे स्वप्न देख रहे थे उनके सामने भला इस दलमे क्या धरा था! प्रस्ताव गिर गया। श्री राय यह खूब जानते थे कि ऐसे समाजवाद-विरोधी तत्त्वोका साथ देकर वह अपने भविष्यके साथ जुआ खेल रहे हैं। उन्होने शायद यह कहा भी था, 'मै कमजोर घोडेपर बैठकर घुडदौड जीतूँगा।' परन्तु घोडा उनसे बुद्धिमान् निकला। उसने उन्हे गिरा दिया। दक्षिणपक्षी नेताओने उनका खोखलापन पहिचान लिया और उनको छोड दिया। काग्रेस समाजवादी दलसे खटपट हो ही गयी थी, उनके लिए काग्रसमे कही स्थान नही रहा।

काग्रेसका अधिवेशन १९३६ मे लखनऊमे हुआ। मै स्वयसेवकोंका जी० ओ० सी० (प्रधान अफसर) था। जवाहरलालजी अध्यक्ष थे। मै पहिले भी बतला चुका हूँ कि दलके सस्थापन या सघटनमे उनका कोई हाथ नही था। उनका रुख भी हमारे लिए कभी अच्छा नही रहा और वह कभी भी हमारी कटु आलोचना करनेमे नही चूके। परन्तु हमारे अस्तित्वसे लाभ उठानेको वह बराबर तैयार रहते थे। हमारे दलमे भी कुछ लोग, जिनमे आचार्य नरेन्द्रदेव और श्री जयप्रकाशनारायण प्रमुख थे, जवाहरलालजीके दृढ समर्थक थे। यह तो हम सबकी राय थी कि उनके विचार हमसे कुछ मिलते-जुलते है और दक्षिणपक्षकी अपेक्षा हमको उनका हाथ मजबूत करना चाहिये। परन्तु हममेसे कुछ लोग इस खयालके थे कि हर बातमे उनकी आलोचनाओ और बातोंको चुपचाप नही सह सकते। इससे लोगोकी इस धारणाकी पुष्टि होती है कि दल उनके हाथका खिलौना है। उस समय काग्रेस वर्किंग कमेटीमे जवाहरलालजी अकेले पड गये थे और यह कोई छिपी बात नही है कि सरदार पटेल और श्री

कृपालानीका व्यवहार उनके प्रति बहुत आदरका नहीं था।

वामपक्षके बढ़ते प्रभावको देखकर उसको अंकुशमें रखनेके विचारसे हमसे यह कहलाया गया कि कांग्रेस समाजवादी दलके तीन सदस्य वर्किंग कमेटीमें ले लिये जायँ। इस कामके लिए आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री जयप्रकाशनारायण और श्री अच्युत पटवर्धनके नाम लिये गये। इन सज्जनोंकी मधुरभाषिताको सरदार पटेल जैसे नेता भी पसन्द करते थे। इन्होंने दक्षिणपक्षको मेरी तरह नाराज नहीं किया था। उन लोगोंको यह आशा रही होगी कि जब दलके तीन सदस्य वर्किंग कमेटीमें आ जायँगे तो दल कड़ी आलोचना करना छोड़ देगा। मैं बड़े धर्म-संकटमें पड़ा। मैं श्री जयप्रकाशनारायण और श्री पटवर्धनसे प्रवर था अर्थात् कांग्रेसमें इन तीनोंसे पहिलेसे था। जेल भी सबसे अधिक गया था। यह भी सबको विदित था कि दक्षिणपक्षी नेताओंसे मेरा चित्त नहीं मिलता था फिर भी मैं यदि इस सुझावका विरोध करूँ तो यह अर्थ निश्चय ही लगाया जायगा कि मैं वर्किंग कमेटीमें नहीं लिया जा रहा हूँ इसलिए विरोध कर रहा हूँ। फिर भी विरोध करना अपना कर्तव्य था। मेरी आपत्ति यह थी कि यदि दलके किन्हीं सदस्योंको लेना है तो उनका चुनाव दलको करना चाहिये, अन्यथा वह दलके प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते। बहुमतसे मेरी आपत्ति अमान्य रही। इसी बीचमें जवाहरलालजीने इस अवसरसे लाभ उठानेके लिए एक प्रस्ताव पेश किया। उनका यह कहना था कि यदि किसी कारणसे वह वर्किंग कमेटीसे त्यागपत्र दें तो दलके तीनों सदस्य भी पृथक् हो जायँ। मैंने उनसे पूछा, यदि दलके तीनों सदस्य अपनी इच्छासे या दलकी आज्ञासे इस्तीफा दे दें तो आप भी उनके साथ इस्तीफा देंगे? उन्होंने ऐसा वचन देनेसे इनकार किया। तब मैंने कहा कि इस दशामें हमको उनकी एकतरफा शर्त नहीं माननी चाहिये। मेरी यह आपत्ति भी अमान्य रही। तीनों सज्जन वर्किंग कमेटीमें चले गये और इस शर्तपर गये कि यदि कभी जवाहरलालजीका इस्तीफा हुआ तो यह भी अलग हो जायँगे। इससे वर्किंग कमेटीमें जवाहरलालजी-

को तो बल मिला परन्तु मेरी रायमे दल दुर्बल हुआ। यह धारणा और दृढ हो गयी कि वह जवाहरलालजीके पीछे-पीछे चलनेवाला समुदाय है। एक और बात हुई। अबतक दलकी कार्यकारिणीमे सौहार्दका जो वातावरण था वह भी कुछ भग्न हुआ। बहुमतसे चाहे जो तय हो गया हो परन्तु कई सदस्योको लगा कि जवाहरलालजीकी सहायता करके वामपक्षको पुष्ट करनेके बहाने काग्रेसके पुराने दक्षिणपक्षी नेताओसे मोलभाव करके समझौता किया गया।

सच तो यह है कि दलके जन्मके सालभरके भीतर ही कुछ आपसी विरोध प्रकट होने लगा था। विरोध व्यक्तियोके बीचका नही था। उसका आधार सैद्धान्तिक था। सदस्यताके नियमोका बहुत उदार अर्थ लगाया गया था, इसलिए कई कम्युनिस्ट आ गये थे। इनमेसे तीन, सर्वश्री जेड० ए० अहमद, अशरफ और सज्जाद जहीर, हमारी कार्यकारिणीमे थे। दलकी सदस्यताने इन लोगोको काग्रेसमे स्थान और अपने विचारोके प्रचारका अवसर दे दिया। दलके भीतर इनका निरन्तर यह प्रयत्न रहता कि आपसमे फूट पैदा करते रहे और जिन लोगोसे इनको चिढ थी उनको किसी-न-किसी प्रकार दुर्नाम देकर पृथक् करा दे। मुझपर इनकी बडी कडी दृष्टि थी और यह भी स्वीकार करना होगा कि मै भी कम्युनिस्ट गुटका कट्टर शत्रु था। मेरे सम्बन्ध मे यह लोग ऐसा कहनेसे कभी नही चूकते थे कि यह दलकी सदस्यताके योग्य नही है क्योकि इनके विचार पूर्णरूपेण समाजवादी नही है। ज्यो-ज्यो १९३६ का आम चुनाव निकट आता गया यह भीतरी सघर्ष और तीव्र होता गया।

काग्रेस समाजवादी दलकी अवस्था उत्तरप्रदेशमे अन्य प्रदेशोसे भिन्न थी। यहाँ नीचेसे लेकर ऊपरतक काग्रेस सघटनमे हमारे सदस्योका स्थान था। मोहनलाल गौतम, चन्द्रभानु गुप्त, कमलापति त्रिपाठी, हरिहरनाथ शास्त्री, यह सभी ख्यातनामा व्यक्ति थे। श्री श्रीकृष्णदत्त पालीवाल और श्री रफी अहमद किदवाई जैसे प्रादेशिक स्तरके नेता जो हमारे विरोधी थे वस्तुतः समाजवादके विपक्षमे नही थे, उनको वह लोग नापसन्द

थे जो समाजवादके समर्थक माने जाते थे। हमारे प्रदेशका साधारण कांग्रेसजन भी क्रान्तिकारी विचार रखता था। प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी बहुत पहिले जमींदारी उन्मूलनके पक्षमे निश्चय कर चुकी थी। इसमे कोई सन्देह नही था कि कांग्रेस उम्मीदवारोकी बडी जीत होगी और विजेताओमे दलके सदस्य पर्याप्त सख्यामे होगे।

हमारे सामने प्रश्न यह था कि यदि कांग्रेस मन्त्रिपद ग्रहण करना स्वीकार कर ले तो हम लोग क्या करे। यही एकमात्र प्रदेश था जिसमे समाजवादी मन्त्रिमण्डलमे आ सकते थे और शासनकी नीतिको समाजवाद-की ओर झुका सकते थे। पूर्ण समाजवादी व्यवस्था भले ही न आये परन्तु हम यह तो दिखला ही सकते है कि समाजवाद देशको किस दिशामे ले जायगा। अतः हममेसे कुछकी राय थी कि हमको पद ग्रहण करना चाहिये। मै इसी पक्षका था। मेरा तो यह ख्याल है कि आचार्य नरेन्द्र-देव भी मुझसे सहमत थे पर किन्ही कारणोसे उन्होने अपना मत प्रकट नही किया। अस्तु, दलके भीतर हमारा काफी विरोध हुआ। इस विरोधका नेतृत्व कम्युनिस्टोके हाथ मे था। मतभेद बहुत तीव्र हो गया। अन्तमे मैं सदस्यतासे अलग हो गया। फिर भी मेरा सम्पर्क बना रहा और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीमे मै दलके साथ ही वोट देता था। अन्तमे १९४० मे रामगढ कांग्रेस अधिवेशनके समय कम्युनिस्ट लोग दलसे निकाल दिये गये। उनके निष्कासनके सम्बन्धमे जो प्रस्ताव था उसका प्रारूप बनानेमे श्री जयप्रकाशनारायणके साथ मैं भी था। मेरे लिए इसीमे थोडा-सा सन्तोष हुआ।

देशकी महती सेवा करनेका एक और अवसर दलके सामने आया परन्तु वह खो दिया गया। जब सविधान बनानेके लिए कास्टिट्युएण्ट असेम्बली बैठी तो जनरल सेक्रेटरी श्री जयप्रकाशनारायणने यह आदेश निकाल दिया कि दलका कोई सदस्य उसमे सम्मिलित न हो। उन्होने इस विषयमे कार्यकारिणीसे भी राय न ली। इस मनमाने आदेशका बहुत बुरा प्रभाव पडा। दलके सदस्य बिलकुल अपनी पसन्दका सविधान न

बनवा सकते परन्तु जो भी संविधान बनता उसको अधिक उदार और समाजवादकी ओर अधिक झुका हुआ तो बनवा ही सकते थे। मै दलका सदस्य नहीं था पर इस निर्णयसे क्षुब्ध हुआ। दौडा हुआ नरेन्द्रदेवजीके पास गया। उनका दमा बहुत तग कर रहा था। वह बेचारे भी बहुत क्षुब्ध हुए। उसी अवस्थामे उन्होंने एक पत्र श्री जयप्रकाशनारायणके नाम लिखा। श्री मोहनलाल गौतम स्वय उसे ले गये। परन्तु जयप्रकाशजी टससे मस न हुए। अपनी जिदपर अड़े रहे। यदि आज हमको यह शिकायत है कि सविधान सन्तोषजनक नही है तो इसका दायित्व श्री जयप्रकाश और कांग्रेस समाजवादी दलपर है। सुनहरा अवसर हाथसे निकल गया।

पार्टी कुछ दिन और चली, परन्तु ओजहीन और वीर्यहीन होकर। एक तो कांग्रेस स्वय समाजवादकी ओर झुक रही थी और उसके अधिवेशनोंमें समाजवादी व्यवस्थाके विभिन्न अगोपर उत्तरोत्तर जोर दिया जाने लगा था, दूसरे, कांग्रेसके भीतर किसी सघटित दलका अस्तित्व असह्य प्रतीत होने लगा था। कुछ लोग कांग्रेस छोडकर बाहर आ गये और समाजवादी पार्टी स्थापित हुई। इस पार्टीकी निर्बलता इसी बातसे स्पष्ट हो जायगी कि १९५१ के आम चुनावमे आचार्य नरेन्द्रदेव स्वय अपने शहर फैजाबादमे हार गये। समाजवादी पार्टी अपने पॉवपर खडी रहनेमे असमर्थ थी। कुछ दिन पहिले आचार्य कृपालानी तथा कुछ दूसरे लोगोंने कांग्रेससे पृथक् होकर 'कृषक मजदूर प्रजा पार्टी' नामसे पार्टी बनायी थी। उसके भी पॉव लड-खडा रहे थे। दोनों रोगी शरीरोंने एक-दूसरेको सहारा दिया, दोनों मिलकर एक हो गये। नयी पार्टीका नाम 'प्रजासमाजवादी पार्टी' रखा गया। इसे (पी० एस० पी०) प्रसोपा कहकर पुकारा जाता है। इसके शीर्ष-स्थानीय नेताओमे आचार्य कृपालानी और श्री त्रिलोकी सिंह जैसे सज्जन हैं जो किसी समय समाजवादके नामतकको सुनना नहीं चाहते थे। समय बडा बलवान् है। इसीमेसे टूटकर डॉक्टर राममनोहर लोहियाका समाज-वादी दल निकला।

काग्रेस समाजवादी दल हमारे राजनीतिक रंगमचपर मुश्किलसे दस वर्ष रहा परन्तु काग्रेस और देशके इतिहासमे वह दशक बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। दलका इहवृत्त समाप्त हो गया। परन्तु उसकी छाप अमिट है। उसने देशकी बडी सेवाएँ की। इनमे सबसे बडी सेवा यह थी कि उसने लाखों मनुष्योंको सोचनेकी प्रेरणा दी। उसकी प्रेरणा काग्रेसके निश्चयो और पिछले दस-बारह सालके शासनकी नीतियोमे अकित है, उसने जो काम उठाया वह अभी समाप्त नहीं हुआ। क्रान्तिका बीज-वपन हुआ, अब दूसरे लोग उसे सीचगे। दलने देशको कई कुशल शासक और विचारक दिये। यह दुःखकी बात है कि इनमेसे कुछ पथभ्रष्ट हो गये। श्री जयप्रकाश-नारायणको लीजिये। देशको उनसे बडी आशाएँ थी। विद्वान् हैं, तपस्वी है, स्नेही है। परन्तु उनके विचारोंकी शृखला सरस्वतीकी जलधाराकी भाँति मरुभूमिमे खो जाती है। जो आज कहते है कल उसके ठीक विपरीत कह बैठते हैं, न विचारोमे स्थिरता है न कामोंमें। कुछ लोगोंको कभी डॉ० राममनोहर लोहियासे भी कुछ आशा थी। वह भी दलके आदिम सदस्योमे थे। सारा देश आज उनको इच्छाभिघातकी जीती-जागती मूर्तिके रूपमे देखता है।

काग्रेस समाजवादी दलके सम्बन्धमे रूसकी कम्युनिस्ट पार्टीने जो भारी भूल की उसका भी थोडा-सा चर्चा करना आवश्यक है। इस दलके विशेषज्ञोको इस बातका बडा गर्व है कि वह द्वन्द्वन्यायके सबसे बड़े पण्डित है और ऐतिहासिक विकासकी गतिविधिके रहस्यके एकमात्र जानकार हैं। क्रान्तिशास्त्र तो उनके घरका क्रीतदास है। उनके प्रकट और गुप्तचर सर्वत्र फैले हुए है और उनको निरन्तर सूचना भेजते रहते हैं। परन्तु आश्चर्य है कि भारतके आधुनिक इतिहासको वह समझ न पाये। महात्माजीके सम्बन्धमे उनकी प्रामाणिक पुस्तकोमे जो कुछ लिखा था उसका देशमें काफी चर्चा हुआ। सुनते है अब वह बाते हटा दी गयी हैं। काग्रेस समाज-वादी दलको भी वह न पहिचान सके। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि उन दिनों हम लोगोंको रूसमे छपा बहुत-सा साहित्य मिल जाता था। पुलिसके

लाख प्रयत्न करनेपर भी वह किसी-न-किसी प्रकार भारत पहुँच जाता था और गुप्त रीतिसे पढनेवालोंको मिल जाता था। उस साहित्यको देखनेसे ज्ञात होता था कि रूसकी कम्युनिस्ट पार्टी बराबर यही समझती रही कि काग्रेसके दक्षिणपक्षी नेताओने ही काग्रेस समाजवादी दलको खडा किया है। उद्देश्य यह था कि हम समाजवाद, क्रान्ति, साम्राज्यशाहीका सतत विरोध और पूर्ण स्वराज्यकी लम्बी-लम्बी बाते करके जनताको धोखेमे डालते रहे और काग्रेसजनमें जो लोग क्रान्तिकारी विचार रखते है उनको काग्रेसके बाहर न जाने दे। हम चाहे कितनी भी बाते करे, नेतृत्व उन्ही पुराने लोगोके हाथमें रह जायगा। दलके कई सदस्योंको कम्युनिस्ट वाड्मयमे घृणासूचक उपाधियाँ दी गयी थीं। मैं 'वेदान्ती समाजवादी' कहलाता था। यहाँ वेदान्ती शब्द मूढग्राह, दम्भ, प्रतिगामिता और पुराणपन्थीपनका पर्याय था। इस भ्रान्तिका एक ही कारण था। उन दिनो रूससे खुलकर सम्पर्क तो था नही, यहाँ जो कम्युनिस्ट थे वह जैसी रिपोर्ट भेजते थे उसीके आधारपर वह लोग अपनी राय बनाते थे। और यहाँसे झूठी रिपोर्ट ही भेजी जाती थी, क्योंकि यह भारतीय कम्युनिस्ट अपने रूसी गुरुओं और स्वामियोंको यह बतलाना नही चाहते थे कि भारतमे उनके सिवाय कोई दूसरा भी क्रान्तिकारी या समाजवादी हो सकता है। बादको वस्तु-स्थिति खुली परन्तु तबतक गलत लोगोका समर्थन करके रूस काफी धन नष्ट कर चुका था, काफी गलत नीतियोको अपना चुका था और काफी मनोमालिन्य जमा कर चुका था।

इस कालमे मेरी दो मुख्य पुस्तकें, 'अन्ताराष्ट्रिय विधान'[1] और 'समाजवाद' प्रकाशित हुई। 'अन्ताराष्ट्रिय विधान' अपने विषयकी पहिली पुस्तक थी जो किसी भारतीय भाषामें लिखी गयी। 'समाजवाद'के अबतक पाँच सस्करण हो चुके है। इसके द्वारा पहिली बार समाजवादका वैज्ञानिक रूप लोगोंके सामने आया, अन्तिम सस्करणमें मैंने 'भारतीय समाजवाद' नामसे एक नया खण्ड जोड दिया है। महात्माजी कृपया उसे पढ गये।

१ ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी द्वारा प्रकाशित

उन्होंने श्री जयप्रकाशनारायणकी पुस्तक 'ह्वाई सोशलिज़्म' (समाजवाद क्यों)को भी पढ़ा था। उन्होंने मुझको पत्र लिखकर पूछा कि दोनों पुस्तकोंमें कई बातें मिलती-जुलती हैं परन्तु कुछ अन्तर भी है। वह इतना सूक्ष्म है कि मैं उसे पकड़ नहीं पाता। तुम बतलाओ वह क्या है। मैंने निवेदन किया कि अन्तर दोनों पुस्तकोंके दार्शनिक आधारोंमें है। श्री जयप्रकाशनारायणका आधार मार्क्सका भौतिक दर्शन है और मेरा आधार वेदान्त। व्यावहारिक कार्यक्रमोंमें समता होते हुए भी उनके उद्गम भिन्न हैं। इसपर उन्होंने मुझको लिखा कि तुम अपने दार्शनिक विचारोंके सम्बन्धमें एक पुस्तक लिखो। महात्माजीकी इस प्रेरणासे ही मेरी पुस्तक 'चिद्विलास' लिखी गयी। भूमिकामें मैंने इस बातका उल्लेख किया है।

कांग्रेस समाजवादी दल अब नहीं है परन्तु हममेंसे जो लोग उससे सम्बद्ध थे, उसके गौरवमय इतिहासको कदापि भूल नहीं सकते। ● ● ●

: १२ : हमारी राष्ट्रभाषा

मैं इस पुस्तकमें ठीक घटनाक्रमके अनुसार नहीं लिख रहा हूँ, इसलिए कभी-कभी विषयसाम्यके कारण ऐसी बातोंका चर्चा एक साथ करनेमें सुविधा होती है जिनको घटित होनेमें कई साल लगे।

आज तो यह विचार अनावश्यक है कि देशकी राष्ट्रभाषा क्या होनी चाहिये। हमारा सविधान कहता है कि भविष्यमें किसी अनिश्चित दिन अंग्रेजीकी जगह हिन्दी ले लेगी। तबतक धीरे-धीरे वह इस पदकी ओर अग्रसर होती जायगी। उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और राजस्थान अपने शासनोंमें हिन्दीका अधिकाधिक समावेश करानेमें यत्नशील है। उनके प्रयत्न और सफल होते यदि केन्द्र भी वैसी ही तत्परता दिखलाता, परन्तु केन्द्रके मार्गमें बहुत बड़ी अड़चन दक्षिणभारत, मुख्यतः तमिल-नाडकी है। तमिल, तेलगू, मलयालम यह सभी द्रविड भाषाएँ है जिनका संस्कृतसे वह सम्बन्ध नहीं है जो हिन्दी, बँगला, गुजराती और मराठीका है, फिर भी तेलगू और मलयालम-भाषियोंकी ओरसे हिन्दीका विरोध नहीं है। उनको अपनी भाषाओंके लिए आदर और प्रेम है और वे उनका विकास कर रहे हैं, परन्तु सार्वभौम भाषाके रूपमें वह हिन्दीको स्वीकार करते है। तमिल-भाषियोंमें एक बड़ी संख्या ऐसे लोगोंकी है जिनको तमिल प्रदेशसे लगाव तो है ही, उत्तरभारतसे चिढ भी है। यह लोग कहते हैं कि उत्तरभारतीय दक्षिणपर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं और सहस्रों वर्षोंसे इस प्रयत्नमें लगे हुए हैं। 'रामायण'-

की कथा यही तो कहती है। राजनीतिक प्रभुत्व नही तो सास्कृतिक साम्राज्य सही, उत्तरभारतकी यह सतत चेष्टा है। पहिले यह महत्त्वाकाक्षा संस्कृतके द्वारा व्यक्त होती थी। ब्राह्मण उत्तरभारतसे आये थे, उनका सर्वत्र बोलबाला था, उनकी भाषा सस्कृत थी। अब यही प्रयास हिन्दीके द्वारा किया जा रहा है। हिन्दी उत्तरभारतकी महत्त्वाकाक्षाका प्रतीक है।

यह दुःखकी बात है कि राष्ट्रभाषाका प्रश्न दक्षिणभारतके सामाजिक और आर्थिक प्रश्नोंके साथ मिलकर जटिल हो गया। इस समय तो वहाँ बहुत-से लोग हिन्दीकी अपेक्षा अग्रेजीके पक्षपाती हो रहे हैं। हम कुछ कर भी नही सकते। यही आशा करनी चाहिये कि भगवान् सद्‌बुद्धिका उदय करेगा और दक्षिणभारतके भाई उत्तरभारतीयोके सम्बन्धमें अपनी शकाओको दूर करके हिन्दीको अपनायेगे।

आजसे कुछ साल पहिले उत्तरभारतमें ही हिन्दीको घोर विरोधका सामना करना पडा था। सच तो यह है कि यह सघर्ष अब भी जारी है। उर्दूके समर्थकोका बडा जोर था। बादको हिन्दुस्तानी नाम सामने आया। यो तो भाषाके नामका भी महत्त्व होता ही है परन्तु हम हिन्दी नामका मोह छोडकर हिन्दुस्तानी नाम स्वीकार कर लेते। मुख्य बात तो यह थी कि भाषाका स्वरूप क्या हो ? यो तो हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी आदि जिस नामसे पुकारिये, क्रिया, सज्ञा, सर्वनाम, उपसर्ग एक ही हैं। कुछ शब्द शुद्ध सस्कृतके, कुछ अरबी-फारसीसे तत्सम रूपमे लिये गये हैं। सभी भाषाएँ दूसरी भाषाओसे शब्द लेती रहती हैं। परन्तु आगन्तुक शब्द अपनी मूल भाषाका व्याकरण छोडकर आता है। हिन्दीमे राजा शब्द, सस्कृतसे लिया गया है परन्तु ‘राज्ञः’ नहीं बोला जाता, ‘राजाका’ कहते हैं। ‘जङ्गल’ सस्कृतसे आया है परन्तु उसका बहुवचन ‘जङ्गलानि’ न होकर ‘जगलों’ होता है। अग्रेजीसे आये हुए ‘स्टेशन’का बहुवचन ‘स्टेशस’ न होकर ‘स्टेशनो’ बनता है। सर्वत्र यही नियम है। परन्तु उर्दूमे अरबी-फारसीके बहुत-से शब्द भारतीय व्याकरणको नहीं अपनाते। ‘सुल्तान’का

बहुवचन 'सलातीन', 'मुल्क'का 'ममालिक', 'जिला'का 'अजलाअ' बन
है। संस्कृतके तत्सम शब्द या तो त्याज्य, मतरूक, माने जाते हैं या उन
अरबी-फारसीके सामानार्थक शब्दोसे नीचा पद दिया जाता है। दरिय
नदी, शहरसे नगर छोटा है। फिर सस्कृतसे निकले शब्दोका उच्चा
बिगाड दिया जाता है। देश 'देस' बन जाता है। जिन लोगोंको अंग्रेज
'प्रोटेस्ट' कहनेमें कोई कठिनाई नहीं होती उनके मुँहसे प्रदेश और प्रार्थ
'परदेश' और 'परार्थना' बनकर ही निकलते हैं।

उर्दू जाननेवाले हिन्दुओकी सख्या तो बहुत बडी है ही, अर
फारसी जाननेवालोंकी सख्या पर्याप्त है, परन्तु सस्कृत जानना तो ब
दूरकी बात है हिन्दी जाननेवाले मुसलमान भी बहुत कम हैं। इससे ख
पट नहीं पाती। इन सब बातोका परिणाम यह हुआ कि भाषासमस्या
राजनीतिक और धार्मिक कारणोने और उलझा दिया।

कांग्रेसने इस गॉठको खोलनेके लिए यह उपाय सोचा कि हिन्दी-
दोनो पुराने नामोंको हटाकर हिन्दुस्तानी नाम प्रचलित किया जाय।
सितम्बर १९३८ को कांग्रेसकी कार्यकारिणी समितिने यह निश्चय किया
'कांग्रेस, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और कार्यकारिणी समितिका व
साधारणतः हिन्दुस्तानीमें हुआ करे। यदि कोई सदस्य हिन्दुस्तानी
जानता हो या उसे अध्यक्षकी विशेष अनुमति प्राप्त हो तो वह अं
या किसी प्रादेशिक भाषामें बोल सकता है।' हिन्दुस्तानीकी परिभाषा
हुई कि 'यह वह भाषा है जिसे उत्तरभारतमें अधिकांश लोग बोलते
और जो नागरी और उर्दू दोनों लिपियोमें लिखी जाती है।'

थोडे-से विचारसे ही यह स्पष्ट हो जायगा कि इतनेसे काम नहीं
सकता था। किसी भी देशमें गॉव और बाजारकी बोली सभ्य समा
कामोंके लिए पर्याप्त नहीं होती। उत्तरभारतकी साधारण जनता
बोलीको चाहे जो नाम दिया जाय परन्तु स्वराजके पहिले भी उस
अपर्याप्तता प्रकट थी, अब तो इस कमीके बारेमें कोई सन्देह हो ही
सकता। अन्ताराष्ट्रीय व्यवहारके लिए इस बोलीसे शब्द कहाँ मिल स

हैं ? वित्तमन्त्री आयव्ययक उपस्थित करते समय कहाँसे शब्द लायेगा ? विज्ञान, विधान, दर्शनके सिद्धान्त कैसे इस बोलीमे व्यक्त किये जायँगे ? यह स्पष्ट है कि नये शब्दोंको सृष्टि करनी होगी। यूरोपियन भाषाएँ ग्रीक या लैटिनको आकर मानती है, हमको सस्कृत या अरबी-फारसीको आधार बनाना होगा। परन्तु सस्कृतसे काम लेते ही भाषा हिन्दी बन जाती है, अरबी-फारसीसे उर्दूका रूप बन जाता है। बस संघर्षका यही मूल था। नाम कुछ भी हो, नये शब्दोका उद्गम क्या हो ? सास्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रोंमें यही संघर्ष चल रहा था। उर्दूके समर्थक अपनी ओरसे कोई बात उठा नहीं रखते थे परन्तु हिन्दीके समर्थकोंके सामने एक बडी कठिनाई थी। उनमेंसे बहुतोका सम्बन्ध काग्रेससे था। उनको फूँक-फूँककर पाँव रखना पडता था। डर यह था कि कोई ऐसी बात न हो जाय जिससे हिन्दू-मुसलिम ऐक्यको विच्छिन्न करनेका आरोप आ जाय।

हिन्दीके समर्थकोंमें प्रथम स्थान श्री पुरुषोत्तमदास टण्डनका है, जिनको प्रायः सभी लोग टण्डनजी कहते है। उनके चरित्रकी भूरि-भूरि प्रशसा उनके विरोधियोको भी करनी पड़ती है। त्याग और तपस्वी जीवनकी वह जीती जागती प्रतिमा हैं। हिन्दीके सतत और दृढ समर्थनसे वह लोगोको रुष्ट भी कर लेते है परन्तु उनके सरल-निश्छल स्वभावके आगे विरोधियोको भी झुकना पडता है। आजकल वह बहुत अस्वस्थ हैं। उनके जर्जर शरीरको देखकर इस बातका अनुमान करना भी कठिन है कि किसी समय वह क्रिकेटके बडे अच्छे खिलाडी थे। आज उनके प्रयत्नोको बहुत-कुछ सफलता मिली है। कुछ दिनोके बाद लोग भूल जायँगे कि इस सफलताके लिए कैसा कठिन परिश्रम करना पडा था।

१९३८ के अगस्तमे शिक्षामन्त्रीकी हैसियतसे मैं काशी और प्रयाग गया था। वहाँ नागरीप्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलनने मेरा अभिनन्दन किया। इन सस्थाओंने हिन्दीकी जो सेवा की है वह किसीसे छिपी नहीं है। अभिनन्दनपत्रोंके उत्तरमें मैंने भाषाके प्रश्नपर अपने विचार व्यक्त किये। मेरे भाषणोंके छपते ही एक छोटा-मोटा आन्दोलन खडा

हो गया। उर्दू समाचारपत्रोने आकाश सिरपर उठा लिया। मुझे सम्प्रदायवादीकी उपाधि दी गयी और राष्ट्रीय एकताका विरोधी घोषित किया गया। कुछ मुसलमान सज्जनोंने, जो कांग्रेसके भी सदस्य थे, यह नारा लगाया कि मुझे मन्त्रिपदसे तो हटा देना चाहिये ही, कांग्रेससे भी निकाल देना चाहिये। उस अवसरपर मैने महात्माजीके प्राइवेट सेक्रेटरी, स्वर्गीय श्री महादेव देसाईको एक पत्र भेजा। उसके उत्तरने यह सिद्ध कर दिया कि मैंने जो कुछ कहा था वह सर्वथा यथार्थ था। पत्र और उत्तर दोनो ही उस समय प्रकाशित हुए थे। बहुत चर्चा था। विषय आज भी रोचक है इसलिए उसका भावार्थ दे देना अनुपयुक्त न होगा। मूल पत्र-व्यवहार अंग्रेजी भाषामे हुआ था।

मेरा पत्र

लखनऊ
५ सितम्बर, १९३८

प्रिय महादेव भाई,

मैं यह पत्र बडे संकोचसे लिख रहा हूँ क्योकि मै जानता हूँ कि महात्माजीने आजकल मौन धारण कर रक्खा है और उनके सामने कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। फिर भी, मै जिस विषयपर लिख रहा हूँ उसका विशेष महत्त्व है, इसलिए मेरा अनुरोध है कि आप इसे उनको सुना दे और उनके आदेश मेरे पास भेज दे।

मैं अभी हालमे बनारस गया था। वहाँ काशी नागरीप्रचारिणी सभाने मुझे अभिनन्दनपत्र दिया। मैंने उत्तरमे जो कहा उसकी उर्दू पत्रोंमे कडी आलोचना हो रही है। कई पत्र, जो कांग्रेसके कट्टर विरोधी हैं, कांग्रेसके निश्चयोंकी दुहाई दे रहे है। उनको मेरे शब्दोंमे साम्प्रदायिकताकी गन्ध आती है। मेरे वक्तव्यका साराश इस प्रकार है :

"प्रत्येक भाषाका स्वरूप उसके धातुओंपर निर्भर करता है क्योकि धातु ही भाषाके आधार होते हैं। किसी भाषामे कितने भी विदेशी शब्द क्यों न समाविष्ट हो जायँ, उसके नाम और स्वरूपमे अन्तर नही पडता।

गुजराती, बँगला और मराठीमे बहुत-से फारसी शब्द आ गये हैं, अंग्रेजीमे ग्रीक और लैटिनके शब्द है, ईरानीमे अरबी शब्द है। परन्तु इन भाषाओने अपने नाम नहीं बदले है। इस दृष्टिसे हमारी भाषाका नाम हिन्दी होना चाहिये, चाहे उसमे कितने भी अरबी-फारसीके शब्द मिल गये हो। पहिले समयमे मुसलमान कवि भी इसे 'हिन्दी जुबान' कहते थे। परन्तु कुछ दिनोंसे यह चलन पड़ गया कि इस भाषाके उस रूपको जिसमे संस्कृतमूलक शब्द अधिक हो हिन्दी और जिसमें अरबी-फारसी-मूलक शब्द अधिक हो, उर्दू कहा जाय। अब हिन्दुस्तानी नामका प्रचार किया जा रहा है। इसमे किसीको आपत्ति न होनी चाहिये। परन्तु भाषाका स्वरूप क्या हो, यह बात स्पष्ट होनी चाहिये। न तो संस्कृत, फारसी या अरबीके शब्दोको हठात् समाविष्ट करना चाहिये, न तो प्रचलित शब्दोको हठात् निकालना चाहिये। अंग्रेजीमे समानार्थक ऐसे बहुत-से शब्द हैं जो विभिन्न भाषाओसे लिये गये हैं। हिन्दुस्तानीमे भी ऐसा ही होना चाहिये। इससे भाषाका शब्दभण्डार बढता है और साहित्यको सहायता मिलती है। कठिनाई यह है कि कुछ लोग हिन्दुस्तानी-की आडमे उर्दूका प्रचार करना चाहते है। दिल्ली और लखनऊके रेडियो स्टेशन 'गेहूँ'की जगह 'गन्दुम' बोलते है और सीधे-सादे 'पच'की जगह 'सालिस'का व्यवहार करते है। समालोचना करते समय उर्दू पुस्तकोंको तो हिन्दुस्तानीके नामसे पुकारते है परन्तु हिन्दी पुस्तकोको हिन्दी ही कहते हैं। इसका बुरा प्रभाव पडता है। मैने एक ओर बात कही। अंग्रेजोने तो हठात् अपनी भाषा हमारे ऊपर लाद दी परन्तु उत्तरप्रदेशके निवासी दूसरे प्रदेशोंपर अपनी भाषा नहीं लाद सकते। भाषाका स्वरूप निश्चित करते समय हमको यह स्मरण रखना है कि चूँकि वह राष्ट्रभाषा होगी इसलिए गुजरात, महाराष्ट्र, बगाल और मद्रासके निवासी भी इसका व्यवहार करेंगे। उनकी सुविधाको ध्यानमे रखते हुए हमको पर्याप्त संख्यामें संस्कृतमूलक शब्द रखने होंगे। वर्तमान समयमें उर्दू और नागरी दोनों लिपियोंसे काम लिया जायगा।"

मेरा विश्वास है कि मैंने ऊपर जो कुछ कहा है वह काग्रेसके किसी सिद्धान्त या मन्तव्यके विरुद्ध नहीं है और न देशकी साहित्यिक या सास्कृतिक उन्नतिके लिए हानिकर है। यदि हम अपनी भाषासे संस्कृत, अरबी या फारसीके शब्दोको निकालने लगेगे तो परिणाम भयावह होगा। और फिर सस्कृतका इस देशके रहनेवालोकी बहुत बडी सख्याके जीवनसे ऐसा गम्भीर सम्बन्ध है कि उसका बहिष्कार करके जो भाषा बनायी जायगी वह सर्वथा कृत्रिम होगी।

यदि आप अवकाश निकालकर महात्माजीसे परामर्श ले सके और मुझे सूचित कर सकें तो कृतज्ञ हूँगा।

आपका,
सम्पूर्णानन्द

पुनश्च

मैंने जो राय व्यक्त की है वह मेरी निजी राय एक भारतीय, एक साधारण हिन्दी लेखक और एक काग्रेसजनकी हैसियतसे है। परन्तु मैं इस समय काग्रेसी मन्त्रीके पदपर हूँ। मेरा ऐसा विश्वास है कि मेरा मत इस पदके दायित्वके प्रतिकूल नही है परन्तु महात्माजीकी सम्मति मुझे अपनी स्थिति समझनेमें सहायता देगी। यदि मैं देखूँगा कि मेरी यह राय मेरे पदसे असगत है, तो इस सम्बन्धमे अपने कर्तव्यको निश्चित करनेका प्रयत्न करूँगा।

सम्पूर्णानन्द

स्पष्ट ही इसमे इस बातका सकेत था कि मै मन्त्रिपदसे त्यागपत्र दे दूँगा। उत्तर स्वय महात्माजीने भेजा।

सेगॉव, वर्धा
८-९-३८

भाई सम्पूर्णानन्द,

तुमने जो लिखा है मै उससे सहमत हूँ। काग्रेसने भाषाका नामकरण-मात्र किया है, उसने और कोई बन्धन नही लगाया है। जो लोग सच्चे हैं

वह हिन्दू-मुसलिम आधारपर किसी शब्दका बहिष्कार नहीं करेंगे। हम दूसरोंके बारेमें क्या कहे? आजकल यह फैशन हो गया है कि कांग्रेस या कांग्रेसजन जो कुछ कहे उसका विरोध किया जाय। तुम केवल मेरी राय चाहते हो या कुछ और, क्योंकि मैं इस सम्बन्धमे काफी लिख और बोल चुका हूँ।

तुम्हारा
(ह०) एम० के० गान्धी

इस पत्रोत्तरके प्रकाशनने उस समयके लिए तो तूफानको शान्त कर दिया।

मेरी सम्मति अब भी वही है। मैं उर्दूको पृथक् भाषा नहीं मानता। मेरी रायमें अवधी, मैथिली और ब्रजभाषाके समान वह भी हिन्दीकी एक शैली है। वह राष्ट्रभाषा बनाने योग्य नही है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं उसका शत्रु हूँ। हमारे देशके कई ख्यातनामा साहित्यकारोंने इसको अपनाया था। आज भी इसके लिए साहित्यमे स्थान है। ब्रज-भाषा अनेक महाकवियोका माध्यम रही है। यदि मैं कहता हूँ कि उसे राष्ट्रभाषा नहीं बनाया जा सकता तो इसका यह अर्थ नहीं है कि मुझे उससे प्रेम नहीं है। जीवित भाषाके स्वस्थ कलेवरमे अनेक मार्गोंसे शब्द आते रहते हैं। हमने अंग्रेजीसे बहुत-से शब्द लिये है, पुर्तगाली-तकके शब्द हमारे यहाँ है। अरबी-फारसीका तो कहना ही क्या है? कुछ विदेशी शब्द तो अपनी किसी शक्तिविशेषके बलपर देशी शब्दोको दबा लेते हैं। आज साहित्यके क्षेत्रको छोडकर सर्वत्र अरबीके 'बदल'से निकला 'बदलना' बोला जाता है, 'परिवर्तन' नहीं। 'वयस' उठ गया, उसकी जगह 'उम्र'ने ले ली है। अब, किसीको 'प्रतिश्याय' नहीं होता, 'जुकाम' ही होता है। 'अधिकार'का क्षेत्र सीमित हो गया, 'हक' घर-घर फैल गया। अब यह शब्द हमारे हैं, इनको निकालनेकी बात सोचना मूर्खता है। इसके साथ ही संस्कृत, अरबी या फारसीके शब्दोंको निष्प्रयोजन ठूँसना भी वैसी ही मूर्खता है। परन्तु शासन, साहित्य, दर्शन, विधान और

विज्ञानके क्षेत्रोंमे यह बात नही चल सकती। वहाँ केवल प्रचलित शब्दोसे काम नहीं लिया जा सकता। इतना ध्यान रखना होगा कि हिन्दीमे जो भी शब्द लिया जाय उसे हिन्दीके व्याकरणका अनुसरण करना होगा।

कभी-कभो यह शिकायत सुननेमें आती है कि कुछ लेखकोंकी हिन्दी बहुत क्लिष्ट होती है। मेरी स्वय गणना ऐसे लेखकोमे है। मै मानता हूँ कि जहाँ साधारण बोलीसे काम चल जाय वहाँ क्लिष्ट भाषा लिखना भूषण नहीं दूषण है। कृत्रिम भाषाका प्रयोग करके लेखक अपनेको उन लोगोंसे दूर कर लेता है जिनके पास उसकी रचना पहुँचनी चाहिये। इसी दोषके कारण उर्दू काव्य लोकप्रिय न बन सका। परन्तु कुछ विषय ऐसे हैं जिसमें कठिन भाषा—ऐसो भाषा जिसको सब लोग नहीं समझ पाने –व्यवहारमे लानी ही पडती है। मै प्रस्तुत पुस्तकमे जैसी भाषासे काम ले रहा हूँ वह 'चिद्विलास'की भाषासे बहुत भिन्न है। जो भाषा विश्वविद्यालयोंमें शिक्षाका माध्यम होगी उसकी सज्जा बाजारकी बोलीसे पृथक् होनी ही पड़ेगी। हाँ, यह स्वाभाविक है कि नये शब्द अपरिचित होनेके कारण कानमे खटकेंगे, दुरूह प्रतीत होगे। इसका कोई उपाय नहीं है। निरन्तर व्यवहार ही उनको परिचित और सुबोध बना सकता है।

कभी-कभी हमारे गण्यमान्य नेता हिन्दीके सम्बन्धमे ऐसी राय दे देते है जिसको सुनकर कष्ट होता है। वह हिन्दी नही जानते और न हिन्दी वाङ्मयकी प्रगतिकी जानकारी रखते है, परन्तु उनकी बातोका जनतापर प्रभाव पडता है। हम अहिन्दी-भाषियोपर बलात् हिन्दी नहीं थोप सकते परन्तु हिन्दीका प्रचार तो करना ही होगा। इन दिनों हिन्दीकी जो चतुर्दिक् प्रगति हुई है उसे देखकर चित्तको प्रसन्नता होती है। इस प्रगतिके मार्गमें कई बाधाएँ है। बहुत बडी बाधा उन लोगोंकी उदासीनता और मूक विरोध है जो विश्वविद्यालयोमे पढाते है। उन्होने स्वयं अंग्रेजीमें शिक्षा पायी है। उसी माध्यमसे पढानेमें उनको सुविधा होती है। हम उनकी कठिनाईको समझते है परन्तु एक दिन साहस करके यह काम

करना ही होगा। टालनेसे कबतक काम चलेगा? विश्वविद्यालयोंमें पढ़ाई अंग्रेजीमें होती है इसलिए उच्च कोटिकी हिन्दी पुस्तकोंकी माँग और खपत नहीं है। प्रकाशक उनमें अपना रुपया फँसाना नहीं चाहते। उधर यह शिकायत की जाती है कि हिन्दीमें अच्छी पुस्तकें नहीं हैं, पढ़ाई कैसे हो। इस कुचक्रको तोड़ना ही होगा।

हिन्दीके मार्गमें कैसी-कैसी बाधाएँ पड़ती हैं उनका अनुमान भी साधारण लोगोंको नहीं होता। स्कूलोंकी पाठ्यपुस्तकोंके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिकी आपत्तियाँ उठायी जाती हैं। यह कहा जाता है कि इनके द्वारा हिन्दू धर्मका प्रचार किया जाता है। उत्तरप्रदेश विधान परिषद्के एक मुसलमान सदस्यने अपने एक भाषणमें कहा था कि यदि यही क्रम रहा तो एक-दो पुस्तमें हम सब हिन्दू हो जायँगे! आजसे कुछ साल पहिलेकी बात है, मैं शिक्षामन्त्री था। एक सज्जनने प्रधान मन्त्री और केन्द्रीय शिक्षामन्त्री, मौलाना अबुल कलाम आज़ादसे यह शिकायत की कि उत्तरप्रदेशमें जो हिन्दी पाठ्यपुस्तकें हैं वह साम्प्रदायिकतासे भरी हैं। इसके दो-तीन उदाहरण दिये गये। एक तो था कि वर्तमान नेताओंमें तिलक, गान्धी, जवाहरलालके नामोंकी चर्चा है परन्तु केवल एक मुसलिम नेता, मौलाना आजादका

हाथी। मैंने पूछा कि गणेशजीको हाथी जैसा सूँड तो होता है, हाथी जैसे पॉव कबसे हुए और यह पिंजडेमें चिडियाके रूपमे कौन-से हिन्दू देव-देवी हैं? गणेशजीकी मूर्ति आदरके साथ पूजी जाती है या बच्चे उनको हाथमें लटकाये फिरते है? मुझे आजतक इन प्रश्नोंके उत्तर न मिले, हॉ उन शिकायतोका फिर चर्चा नही हुआ। जिन सज्जनने शिकायत की थी उनका नाम भी पीछेसे ज्ञात हो गया। वह एक उर्दू प्रेमी प्रतिष्ठित हिन्दू विद्वान् हैं।

हिन्दी वाङ्मयका एक अंग है जिसकी अवस्था किसी भी दृष्टिसे सन्तोषजनक नही कही जा सकती। हिन्दी समाचारपत्रोंको एक दिन अंग्रेजी पत्रोकी जगह लेनी है पर अभी वह इस ओर अग्रसर नहीं हो रहे हैं। अंग्रेजी पत्रोंकी बराबरी करना तो दूर रहा, हिन्दी पत्र प्रायः प्रादेशिक भाषाओंसे भी पीछे हैं। पाठ्यवस्तु जगत्मे वैविध्य नहीं होता, हास्यमें फूहडपन, कभी-कभी अश्लीलता होती है, व्यक्तिगत आरोपकी बहुलता रहती है। हिन्दी-भाषियोंकी सख्या इतनी बडी है परन्तु हिन्दी पत्रोकी ग्राहकसख्या नगण्य है। इसलिए पत्रोके लिए उन्नति करना कठिन हो जाता है। इस ओर ध्यान देना परम आवश्यक है। सम्पादक, पत्रकार, प्रकाशक, सभीको यत्नशील होना होगा और हिन्दी-भाषी प्रदेशोंकी सरकारोंको भी सक्रिय सहयोग प्रदान करना होगा। इसके साथ ही जनताकी जागरूकता अपेक्षित है। जितने और जैसे ग्राहक होगे उतना और वैसा माल तैयार होगा। हिन्दीके सिरसे वाङ्मयके इस अंगकी आपेक्षिक हीनताका कलक मिटाना बहुत आवश्यक है। ● ● ●

: १३ : प्रथम कांग्रेस सरकार

१९३६ चुनावका साल था। इसीकी धूम थी, क्योकि यह निश्चित था कि जिस पार्टीका बहुमत होगा वही शासन करेगी। यो तो मैदानमें चार दल थे, कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और जमींदार, परन्तु इनमें महासभा सबसे दुर्बल था। दो-दो आन्दोलनोंके बाद कांग्रेस चुनावक्षेत्रमें उतर रही थी। लोगोको उससे बडी आशाएँ थीं और सरकार तथा उसके समर्थकोको उसी मात्रामें आशंका थी। उनको डर था कि यदि कहीं कांग्रेसने पद ग्रहण करने का निश्चय किया तो न जाने क्या उलट-फेर हो जायगा। इसलिए कांग्रेसी उम्मीदवारोका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हर प्रकारसे विरोध किया जा रहा था। यद्यपि कांग्रेसमे भी मुसलमान थे परन्तु मुसलिम लीगका दावा था कि वह सामान्यतः सभी मुसलमानोका प्रतिनिधित्व करती है। इस चुनावमे लीग और कांग्रेसका एक प्रकारका अलिखित समझौता था। एक-दूसरेके उम्मीदवारोका विरोध करनेंके बदले समर्थन किया जा रहा था। इससे दोनोको बल मिला।

उत्तरप्रदेशके जमीदारोंकी विचित्र कथा थी। जमींदार-तालुकेदार सरकारके लाडले थे। कुसमयमे उसके आड़े आते थे। उनका काम यह था कि किसानोको दबाकर रक्खें ताकि वह कांग्रेस या किसी अन्य क्रान्तिकारी संस्थाकी बातोमें आकर सरकारके विरुद्ध सिर न उठाये। उन बेचारोके साथ जो अनाचार होता था उसका बाहरवाले अनुमान भी नहीं कर सकते थे। कागजपर लगान कुछ लिखी होती थी, लिया कुछ और जाता था। कोई बड़भागी ही रसीद पाता था, एक-एक रकम

कई-कई बार वसूल की जाती थी। मनचले जमींदार मनमाना कर वसूल करते थे। यदि नयी मोटर मोल ली गयी तो 'मोटरावन'के नामसे उसका मूल्य किसानोंसे उगाहा जाता था। घरमे बच्चा हो तो 'पेटपिरावन' देना पडता था। घंटों एक पैरसे खडा रहना पडता, मुर्गा बनाकर बैठाया जाता, बात-बातमे लात-जूतेका प्रहार होता। सरकारको यह सब विदित था, पर जमींदारोंसे काम लेना था। इन बातोकी ओरसे ऑख बन्द कर ली जाती थी। जमींदार जानते थे प्रजा उनसे अप्रसन्न है, परन्तु डडेके बलपर वोट लेना चाहते थे। वह जानते थे कि सरकारी अफसरोंका वरद हाथ उनके सिरपर है, उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। जमींदार पार्टी कोई राजनीतिक दल नही था, हो भी नहीं सकता था—स्थिर स्वार्थोकी रक्षाके लिए कृतप्रतिज्ञ कुछ लोगोंका गुटमात्र था।

कांग्रेसकी गहिरी विजय हुई। वोट देते समय तो कोई सिरपर डडा लेकर नही खडा रहता। जमींदारोंकी उत्पीडित प्रजाने अपने अधिकारका सदुपयोग किया। जमींदार पार्टी बुरी तरह हारी। अब प्रश्न यह उठा कि कांग्रेस पद ग्रहण करे या न करे। अन्तिम निश्चय पद ग्रहण करनेके पक्षमे हुआ। यह स्मरण रहे कि गवर्नमेण्ट ऑव इण्डिया ऐक्ट (१९३५) का केवल वही भाग कार्यान्वित हुआ था जिसका सम्बन्ध प्रादेशिक शासनसे था। फलतः, प्रदेशोंमे तो लोकसम्मत सरकारें बन गयीं परन्तु केन्द्रीय शासन ज्योंका त्यो था। इसमे एक दिक्कत थी। केन्द्रमें राष्ट्रीय सरकार न होनेसे प्रादेशिक सरकारें पूरे बलके साथ काम नहीं कर सकतीं। मुसलिम लीगको यह आशा थी कि चुनावके समय जिस समझौतेसे काम हुआ था उसको ध्यानमे रखकर सरकारमें लीगका भी भाग होगा, अर्थात् मन्त्रिमण्डलमे लीगके भी कुछ मन्त्री होंगे। कांग्रेस इससे सहमत नहीं थी। इससे लीग रुष्ट हो गयी। उसका कहना था कि कांग्रेसने हमारे साथ विश्वासघात किया। आपसकी यह खाई गहिरी होती ही गयी। पाकिस्तान बननेके कारणोंमें इसका भी बडा स्थान था। उत्तरप्रदेशमे लीगके प्रमुख नेता चौधरी खलीकुज्जमॉ थे। वह आजकल पाकिस्तानमे रहते हैं।

काग्रेसने जुलाई १९३७ मे शासन सँभाला। इसके पहिले तीन महीनेतक गवर्नरके नामाकित मन्त्री काम कर रहे थे। इतना वह भी जानते थे कि हमको दो-तीन महीनेमे हट जाना है, किसी-न-किसी प्रकार समय काटना था। वस्तुतः शासन विभागीय सचिवो और विभागाध्यक्षोंके हाथमे था। कामचलाऊ आयव्ययक (वजट)को पारित करनेके सिवाय इसने शायद ही कोई दूसरा काम किया होगा। काग्रेसमे पदग्रहण करनेके निश्चयके होते ही इन मन्त्रियोने त्यागपत्र दे दिया। इनके जानेपर किसीने दो बूँद आँसू नहीं बहाये। सभी चाहते थे कि काग्रेसी शासनका प्रयोग शीघ्रसे शीघ्र आरम्भ हो। सभीको इसके लिए उत्सुकता थी।

हमारी व्यवस्थापिकाके दो सदन थे: विधानसभा और विधान-परिषद्। सभाके अध्यक्ष टण्डनजी चुने गये और परिषद्के डॉ० सीताराम। डॉक्टर साहब लिबरल दलके प्रतिष्ठित और विद्वान् सदस्य थे। टण्डन-जीने विधानसभाका अध्यक्षपद ग्रहण करके वस्तुतः उसके गौरवको बढाया। विपक्षी दलोको भी उनकी निष्पक्षतापर पूर्ण विश्वास था और सभी उनका आदर करते थे। उन्होंने आरम्भमे ही एक ऐसा काम किया जिससे सभाके कामका रूप ही बदल गया। भाषणोके सम्बन्धमे जो नियम था उसका साधारणत. यही अर्थ लगाया जाता था कि भाषण अग्रेजीमे होने चाहिये परन्तु यदि कोई सदस्य अग्रेजीमे न बोल सकता हो तो वह अध्यक्षकी अनुमतिसे हिन्दीमे बोल सकता है। टण्डनजीने इसके ठीक विपरीत व्याख्या की। उनके अनुसार भाषण हिन्दीमे ही होने चाहिये परन्तु जो हिन्दीमे बोलनेमे असमर्थ हो वह अग्रेजीमे बोल सकता है। बरसोकी पद्धति बदल गयी और बातकी बातमे हिन्दी विधानसभाकी भाषा बन गयी। सविधानके अनुसार कानूनके द्वारा राजभाषा बनने-की प्रतिष्ठा उसको पीछे प्राप्त हुई।

मन्त्रिमण्डलके छ सदस्य थे। इनमे दो, श्री रफी अहमद किदवाई और हाफिज मुहम्मद इब्राहीम, तो मुसलमान थे शेष चार, पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त, डॉ० कैलासनाथ काटजू, पण्डित प्यारेलाल शर्मा

और श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित, हिन्दू थे। चारों ब्राह्मण थे। इस बातकी काफी आलोचना हुई। लोग इसे ब्राह्मण मन्त्रिमण्डल कहते थे। किसीका ब्राह्मणोके साथ पक्षपात करनेका विचार नही था, कुछ ऐसा हो ही गया कि चार ब्राह्मण मन्त्री हो गये।

मैं चुनावमे बनारस शहरसे खडा हुआ था और जीत भी गया। मेरे विरुद्ध एक सज्जन हिन्दू महासभाकी ओरसे खडे हुए थे। तमाशेकी बात यह है कि पण्डित मदनमोहन मालवीयकी मेरे ऊपर कृपा रहा करती थी, भारतीय संस्कृतिके लिए मेरे मनमे जो आदर है उससे वह प्रभावित थे, फिर भी उन्होने मेरा विरोध करना उचित समझा। चुनावके कुछ ही दिन बाद मै कमल रोगसे पीडित हुआ। डॉक्टरी पद्धतिसे लाभ न हुआ। अन्तमे काशीकी विभूति वैद्यशिरोमणि पण्डित सत्यनारायणजीकी चिकित्सासे रोगसे मुक्ति हुई। इन्ही दिनो मुझे महात्माजीका एक पत्र मिला। उसका आशय यह था :

'इसका क्या करण है कि तुम समाजवादी लोगोका स्वास्थ्य इतना खराब रहता है? नरेन्द्रदेव दमेके पुराने रोगी हैं, मेहर अलीको हृद्रोग है, जयप्रकाश भी बीमार हैं और तुमने भी चारपाई पकड ली, यद्यपि तुम्हारा स्वास्थ्य सबसे अच्छा प्रतीत होता था। यह स्पष्ट है कि तुम लोग अपनी फिक्र आप नही कर सकते। वर्धा आकर मेरे साथ ठहरो। मैं वादा करता हूँ कि पूर्ण नीरोग करके लौटा दूँगा।'

पत्रकी भाषा हास्यकी है, समाजवादियोकी, विशेषकर मेरी, मीठी चुटकी ली गयी है परन्तु इसके पीछे वह सहानुभूति और स्नेह है जो हममेंसे कुछको उनसे बराबर मिलता रहा। यह हमारा परम सौभाग्य था। भले ही हमारा कुछ बातोमे उनसे गहिरा मतभेद रहा हो परन्तु इस स्नेहके आगे सिर झुकता ही था। उनके व्यक्तित्वके आकर्षणने हमको उनके चरणोका दास बना रखा था।

किसानोको कांग्रेसपर बडी आस्था थी। उनको विश्वास था कि कांग्रेसके हाथमे अधिकार आनेपर उनका कल्याण होगा। इसी भरोसेपर

जमींदारोंके क्रोध और धमकियोंकी परवाह न करके उन्होंने कांग्रेसजनको वोट दिया था। इसलिए स्वभावतः मन्त्रिमण्डलका ध्यान उनकी दशा सुधारनेकी ओर गया। अभी जमींदारी उन्मूलनकी बात तो नहीं सोची गयी परन्तु विधायिकाके समक्ष ऐसा कानून उपस्थित किया गया जिसने जमींदारोंकी शक्तिको बहुत-कुछ कम किया। अब बात-बातमें बेदखल करना उनके हाथसे निकल गया और भाँति-भाँतिके कर लेना भी बन्द हो गया। अब वह किसानोंको न तो पदे-पदे अपमानित कर सकते थे न मारपीट कर सकते थे। जमादार सदस्योंने बहुत अडचनें डाली, काफी देर लगायी परन्तु आखिर बहुमत तो कांग्रेसका था ही, कानून पारित हो गया।

हम कांग्रेसजनमें आरम्भसे ही एक दोष रहा है। हम एक-दूसरेकी निन्दा करने और पाँव पकडकर पीछे खींचनेमें सकोच नहीं करते। किसीको ऊपर उठाना कठिन होता है, नीचे गिराना सुकर है। सम्भवतः यह हमारे राष्ट्रीय चरित्रकी त्रुटि है। मन्त्रिमण्डल बननेके लगभग छ महीने बाद हरदुआगजमें प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन हुआ। पण्डित जवाहरलाल नेहरूने उस अवसरपर मन्त्रिमण्डलको तीव्र आलोचना की। उनके कथनके अनुसार मन्त्री लोग आरामकी जिन्दगी बिता रहे थे और जनतासे अपनेको पुजवा रहे थे। इस भाषणका खूब प्रचार हुआ और कांग्रेसके विरोधियोंने इसकी खूब प्रशसा की। मुझे यह भाषण बहुत अनुचित प्रतीत हुआ। पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त भी बहुत दुखी हुए। जिस निष्ठासे वह और उनके साथी काम कर रहे थे उसका अच्छा पुरस्कार मिला। मैंने अपने कानों लोगोंको यह कहते सुना था कि पन्तजी बहुत मोटे हो गये हैं। जवाहरलालजीने खूब डाँटा। कुछ पत्रोंमें भी ऐसी ही बातें छपीं।

इसके कुछ ही दिन बाद पण्डित प्यारेलाल शर्माने इस्तीफा दे दिया। उनके उत्तराधिकारीके सम्बन्धमें अटकलबाजी होने लगी। ऐसी बातोंमें देर नहीं लगनी चाहिये परन्तु पन्तजी जल्दी निश्चय न कर सके, बहुत दिनों-तक बहस छिडी रही। जिन लोगोंके नामकी चर्चा थी उनमें मैं भी था।

यह सोचकर हॅसी आती है कि कुछ लोग पन्तजीके पास यह कहनेके लिए गये कि आप सम्पूर्णानन्दको न लीजिये। यह समाजवादी है, गान्धीजीकी शिक्षा-नीतिका समर्थन न करेंगे। सबके नाम तो याद नही है परन्तु इन मित्रोंमें श्रीमती प्रकाशवती सूद और स्व० श्री मजर अली सोख्ता तो जरूर थे। काफी छीछालेदर हो चुकनेके बाद पन्तजीने अपनी राय स्थिर की। २ मार्च १९३८ को मै शिक्षामन्त्रीके रूपमे मन्त्रिमण्डलमे प्रविष्ट हुआ।

काग्रेसने अट्ठाइस महीनेतक शासन किया। इस कालका बहुत अच्छा वर्णन श्री गोपीनाथ श्रीवास्तवने अपनी पुस्तक 'व्हेन काग्रेस रूल्ड'मे दिया है। श्री श्रीवास्तव अच्छे पत्रकार और कार्यकर्ता थे। जेलोके सुधारकी ओर सबसे पहिले उनका ही ध्यान गया। उनकी असामयिक मृत्युसे प्रदेशके जनजीवनकी क्षति हुई। सार्वजनिक जीवनके सभी क्षेत्रोपर यथाशक्य दृष्टि डाली गयी। साधन कम थे, उन दिनो प्रदेशकी राजस्व आय तेरह करोडमात्र थी परन्तु रुपयेकी क्रयशक्ति अधिक थी। इसलिए उस तेरह करोडसे बहुत काम लिया जा सका। शिक्षा, स्वास्थ्य, हरिजनकल्याण, सिंचाई—सभी राष्ट्रनिर्मायक विभागोपर ध्यान दिया गया। उस समयतक श्रमिकोकी समस्याकी ओर ध्यान नहीं गया था। इसके लिए पृथक् विभाग खोला गया।

मन्दिरोके कुप्रबन्धकी शिकायत प्राय: सर्वत्र सुनी जाती है। उनकी आयसे सार्वजनिक हितके कामोका सञ्चालन तो दूर रहा, न तो यात्रियोकी सुख-सुविधाका कोई प्रबन्ध होता है, न शास्त्रीय विधिसे ठीक-ठीक पूजा ही होती है। पण्डे-पुजारियोंका जेब गरम होता है। उत्तरप्रदेशमे सबसे अधिक तीर्थस्थान हैं, अतः इस विषयकी ओर सबसे पहिले यहाँ ध्यान जाना चाहिये था, पर अनेक कारणोसे ऐसा न हो सका। बदरीनाथ मन्दिरकी सबसे अधिक शिकायत थी। शहरोसे सैकडो मील दूर पडता था, सडके भी नहीं थीं, पगडंडियोका सहारा था। चीजें बहुत मॅहगी मिलती थी, हैजे जैसे रोगोंका डर होता था, न तो शौचालय न

अस्पताल, न स्वच्छ जलका प्रबन्ध। सरकार थोडा-बहुत करती थी पर बहुत अपर्याप्त। मन्दिरमें बहुत रुपया आता था, पर क्या होता था इसका कोई देखनेवाला नही था। मन्दिरके सर्वोच्च अधिकारीको रावल कहते है। श्री शकराचार्यके समयसे ही ऐसी परम्परा चल पडी है कि रावल केरलके नामबूदिरी ब्राह्मण होते है। वहीसे चुनकर आते है। न कोई उनके चरित्रकी देख-रेख कर सकता था, न मन्दिरके प्रबन्धमें कोई हस्तक्षेप कर सकता था। एक और अडचन थी। मन्दिर था तो उत्तरप्रदेशके गढवाल जिलेमें, परन्तु उसके प्रबन्धमे महाराजा टिहरीका भी हाथ था। इसलिए उत्तरप्रदेशकी सरकार इच्छा रहनेपर भी कुछ कर नही सकी थी। धार्मिक सस्थाओंका विभाग मेरे पास था। मैंने बदरीनाथ मन्दिरके प्रश्नको उठाया और विधायिकामें इस सम्बन्धका विधान पेश किया। उसके पारित हो जानेपर मन्दिरका प्रबन्ध एक कमेटीके सुपुर्द हो गया और रावलको वेतन मिलने लगा। कुछ सालोके बाद श्री केदारनाथ मन्दिर भी इस कमेटीके अधीन ला दिया गया। इसमे कोई सन्देह नही कि अब बहुत सुधार हो गया है और यात्रियोकी सुख-सुविधाकी ओर काफी ध्यान दिया जाने लगा है।

शासनके सभी कामोंका विस्तृत वर्णन करना इस जगह अनावश्यक है। दो-तीन बातोका ही जिक्र करूँगा। महात्माजीने प्राथमिक शिक्षाकी उस नयी प्रणालीको अपना आशीर्वाद दिया था जिसे बुनियादी तालीम कहते हैं। डॉ० जाकिर हुसैन और श्री आर्यनायकम्‌की रिपोर्टमें इस पद्धतिकी रूप-रेखा दी हुई थी। इस रिपोर्टको वर्धा रिपोर्ट भी कहते हैं। मैंने मन्त्रिपद ग्रहण करनेके बाद ही आचार्य नरेन्द्रदेवकी अध्यक्षतामें एक कमेटी नियुक्त की। उसके सदस्योंमे डॉ० जाकिर हुसैन भी थे। उस कमेटीने बुनियादी तालीमके मूल सिद्धान्तोको तो स्वीकार कर लिया, परन्तु वर्धा-सम्मत पद्धतिसे दो-तीन बातोमें भिन्न सस्तुति दी :

(१) वर्धा कमेटीमे इतिहासको बहुत कम जगह दी गयी थी। नरेन्द्रदेव कमेटीने उसकी पढाईकी उचित व्यवस्था की।

(२) चित्रकारीका समावेश किया।

(३) वर्धा कमेटीने कहा था कि शिक्षाका कुछ व्यय बच्चोंकी बनायी हुई चीजोंकी बिक्रीसे निकलना चाहिये। इसको उत्तरप्रदेशमें बिलकुल अस्वीकार कर दिया गया। हम ऐसा मानते है कि बच्चोंकी शिक्षाका पूरा भार समाजको वहन करना चाहिये।

बुनियादी शिक्षाकी उपयोगिताके सम्बन्धमें शिक्षा-विशेषज्ञोंमे मतभेद है परन्तु यह तो निश्चित ही है कि यदि इसे सफल बनाना हो तो बहुत ऊँचे प्रशिक्षणके बाद ही अध्यापक इस कामको ले सकता है। ऐसे ऊँचे प्रशिक्षणके लिए बहुत समय चाहिये। मैं चाहता था कि जल्दीसे जल्दी इसका प्रदेशमें विस्तार हो जाय। कुछ और प्रदेशोंने इसका प्रयोग दो-चार जगहोंमे ही किया। मेरा यह खयाल था कि हमारा शासन स्थायी तो होगा नहीं, फिर हमको हटना होगा। यदि दो-चार जगह प्रयोगात्मक ढगसे काम होगा तो अंग्रेज सरकार खतम कर देगी परन्तु सारे प्रदेशमे उलट-फेर करना कठिन होगा। मेरा अनुमान ठीक ही निकला। कांग्रेस सरकारके हटनेपर भी शिक्षाका यह क्रम जारी रहा। शिक्षाविभागने इसको अपना लिया। इसीलिए मैंने इसे व्यापक बनानेका यत्न किया, यद्यपि इतने थोडे समयमे अध्यापकोंको पूर्ण प्रशिक्षण देना सम्भव नहीं था।

९ अगस्त १९३९ को सवेरे १० बजे इलाहाबादमे मुख्य मन्त्री पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्तकी अध्यक्षतामें एक उत्सव मनाया गया और उसी दिन प्रदेशमें १३०० प्रारम्भिक स्कूल नये ढगके स्कूलोंमे परिवर्तित हो गये। महात्माजीने कृपा करके अपना आशीर्वाद भेजा था। यह क्रम आगे भी जारी रहा। इस सम्बन्धमे हमको जिला बोर्डोंसे बडी सहायता मिली। सबसे अधिक श्रेय स्व० डॉ० इबादुर्रहमान खॉको है, जिनको मैंने विशेष रूपसे इस कामके लिए नियुक्त किया था।

इस सम्बन्धकी एक रोचक कहानी याद आती है। मन्त्रिमण्डलके इस्तीफेके बाद कांग्रेस वर्किंग कमेटीकी एक बैठक प्रयागमें हुई। वहाँ

हमारा प्रशिक्षण विद्यालय था। महात्माजी तथा कमेटीके कुछ सदस्य उसको देखने गये। मैं भी साथमे था। महात्माजी बहुत प्रसन्न हुए। श्री राजगोपालाचारी भी बहुत प्रभावित हुए। उन्होने डॉ० खाँसे पूछा कि आप थोडे दिनोके लिए मद्रास आकर बुनियादी तालीमके विषयमे हमारी सहायता न कर देगे? उन्होने उत्तर दिया कि यदि बाबूजी आज्ञा देगे तो निश्चय हाजिर हूँगा। फिर राजाजीने मुझसे अनुरोध किया कि मैं खाँ साहबको जानेकी अनुमति दे दूँ। मैने भी कहा कि मैं बडी प्रसन्नतसे ऐसा कर दूँगा। अपने उत्साहमे राजाजी भूल गये कि वह और मै दोनो इस्तीफा दे चुके थे: न वह डॉ० खाँको बुला सकते थे, न मै भेज सकता था। परन्तु इस बातकी याद दिलाकर उनको दुखी करना होता, इसलिए डॉ० खाँ और मै दोनो चुप रहे।

एक और कहानी याद आती है। डिस्ट्रिक्ट बोर्डके कुछ स्कूलोमे लडके लकडीकी बन्दूकोको लेकर कवायद करते थे। सरकारने इस चीजको इतना भयानक समझा कि बन्द कर दिया। शिक्षामन्त्री बननेपर मैने इस आज्ञाको रद कर दिया। फिर वैसी शिक्षा होने लगी। हमारे इस्तीफेके बाद हमारी आज्ञा रद हो गयी और लकडीकी बन्दूकें हटा दी गयी। १९४७ मे फिर अधिकारारूढ होनेपर हमने उस शिक्षाकी अनुमति दी।

उस जमानेमें कई कमेटियाँ बैठायी गयी थी जिनकी रिपोर्टें मन्त्रिमण्डलके इस्तीफेके बाद तैयार हुई। एक विश्वविद्यालयोके सुधारके सम्बन्धमे थी। उसका अध्यक्ष मै था। दूसरी कमेटीके अध्यक्ष लेफ्टिनेण्ट सुलतान आलम खाँ थे। उसके सुपुर्द शारीरिक शिक्षाका विषय था। शारीरिक शिक्षा कमेटीकी सस्तुतियोपर आंशिक काम हुआ क्योंकि गवर्नरने उसमे रस लिया, शेष ज्योकी त्यो पडी रही। एक बार मुझसे डॉक्टर पन्नालालसे भेट हुई जो शिक्षाके सम्बन्धमे गवर्नरके सलाहकार थे। मैने पूछा कि क्या आपने सब रिपोर्टोंको कूडाखानेमे डाल दिया? उन्होने उत्तर दिया 'जी नहीं, मैने उनको बर्फमें सुरक्षित करके रख दिया है।'

द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। काग्रेसका यह मत था कि भारत स्वतन्त्र होकर ही युद्धमे सम्मिलित हो सकता है, ब्रिटेनका दास बनकर नहीं। ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्रता देनेको तैयार नही थी, ऐसी दशामे काग्रेसके सामने असहयोगके सिवाय कोई दूसरा सम्मानपूर्ण मार्ग नहीं था। इस दिशामे पहिला कदम यह उठाया गया कि ४ नवम्बर १९३९ को काग्रेसी मन्त्रिमण्डलने त्यागपत्र दे दिया।



: १४ : चुभती सुइयाँ

कांग्रेसने जो नीति अपनायी उसका सारे राष्ट्रने स्वागत किया। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलोंने जो काम किया था उसको लोगोंने देखा था। उससे जनता सन्तुष्ट थी। उसको आशा बँध गयी थी कि कांग्रेस सरकारों-के हाथों देशका कल्याण होगा। उनके हट जानेका दुःख था। परन्तु यह भी स्पष्ट था कि जो परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी उसमें कोई दूसरा उपाय नहीं था। प्रथम महायुद्ध और उसके उत्तरकालकी बातें भूली नहीं थीं। भारतकी राय जाने बिना यह दूसरा युद्ध भी छेड़ा गया था और जब ब्रिटेनकी इच्छा होगी बन्द किया जायगा। दिखलानेको समय-समयपर कमेटियों और कमीशनोंमें भारतीय सदस्य भी रख दिये जायँगे और सन्धिवार्तामें भी दो-एक भारतीय सम्मिलित कर लिये जायँगे। पर यह सब दिखावामात्र होगा। देश अब ऐसे धोखेमें पड़नेवाला नहीं था। युद्ध चलता रहे, भारतीय सिपाही केवल रुपयेके लोभसे लड़ते और कटते रहें, रण और सन्धिकी नीतिपर भारतका कोई अधिकार न हो और फिर भी भारतीय मन्त्री शासन चलाते रहें और ब्रिटिश सरकारका बोझ हलका करते रहें, यह सर्वथा अमान्य था। राष्ट्रीय सम्मानका यही तकाजा था कि मन्त्रिगण त्यागपत्र देकर पृथक् हो जायँ।

मैंने अभी लिखा है कि देशने कांग्रेस नीतिका स्वागत किया पर इसमें एक अपवाद भी था। मुसलिम लीगने कांग्रेस सरकारके हटनेपर बहुत प्रसन्नता प्रकट की और बड़े धूम-धामसे यौमे नजात (मुक्तिदिवस) मनाया। चिरागाँ (दीपावली) किया गया, सभाएँ हुईं। इस करतूतसे

न तो लीगकी प्रतिष्ठा बढी न राजनीतिक समझदारीके लिए उसका सम्मान बढा। बहुत-से मुसलमानोने भी इस मूर्खताकी निन्दा की। अग्रेज सरकारने इस कारगुजारीके लिए लीगको साधुवाद तो कहा पर कोई पुरस्कार न दिया। वह जानती थी कि लीगकी सहायता शासन चलानेमे उसकी उपयोगी मदद नहीं कर सकती थी। विदेशोंमे भी लोगोंको यह बात लज्जाजनक लगी कि कोई भारतीय दल भारतीयोकी अपेक्षा विदेशियोका शासन पसन्द करे। काग्रेसजन भले ही बुरे रहे हो पर थे तो भारतीय। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि काग्रेसी मन्त्रियोमे मुसलमान भी थे।

यह काल मेरे लिए घरेलू चिन्ताओंके कारण बहुत बुरा बीता। १९३९ के अक्तूबरमे मेरे सबसे छोटे लडकेकी मृत्यु हुई और इसके लगभग १५ दिन बाद यक्ष्मामे मेरी पत्नीका स्वर्गवास हुआ। अगले बारह महीनोंमे मेरे एक और लडके और मेरी पुत्री मीनाक्षीकी इहलीला समाप्त हुई। मीनाक्षीकी रोगशय्याके पास बैठकर मैंने अपनी पुस्तक 'व्यक्ति और राज'को समाप्त किया। इसी साल मेरे गुरुदेव ब्रह्मलीन हुए।

हमने त्यागपत्र तो दे दिये थे पर यह पर्याप्त नही था। सब लोग इस बातकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि काग्रेस शीघ्र ही कोई सक्रिय कदम उठायेगी। इलाहाबादमे वर्किंग कमेटीकी एक बैठकमे मौलाना आजादने कहा कि यह हमारा अन्तिम और निर्णायक युद्ध होगा। इसमे सिवाय अहिंसाके और कोई शर्त न रहेगी। खादी पहिनने आदिका कोई बन्धन न रहेगा। यह बडी ही उत्साहजनक बात थी। हम सब शीघ्र ही सघर्षके छिडनेकी आशा कर रहे थे, परन्तु ऐसा लगता था कि वर्किंग कमेटीको कोई जल्दी नही है। उसकी बैठकें होतीं और जनतासे वीरता दिखाने और हर प्रकारकी बलि देनेके लिए तैयार रहनेकी अपील करके उठ जाती। यही नाटक प्रदेशोमे होता। एक बार मैंने उत्तरप्रदेश काग्रेस कार्यकारिणीमें यह आग्रह किया कि ऐसा प्रस्ताव न किया जाय। जनता तैयार है। यदि नेतागण तैयार नहीं है तो इसके लिए जनता दोषी नही है। पण्डित जवाहरलालजीने मेरी बातका समर्थन किया। अन्तमे जो

प्रस्ताव स्वीकृत हुआ उसमें यह विश्वास प्रकट किया गया कि समय आनेपर जनता पूर्णरूपेण वीरता और त्यागवृत्तिका परिचय देगी।

इस प्रकारकी देर लोगोंको अधीर कर रही थी। महात्माजीके नेतृत्व-में सबको विश्वास था। यह सब मानते थे कि आन्दोलन छेडनेके ठीक अवसरको पहिचाननेकी उनमें अद्भुत योग्यता थी, फिर भी बेसब्री बढ रही थी और क्षम्य भी थी। कई लोग काफी कष्टमें थे। मैं एक स्वयं-सेवककी बात जानता हूँ। उसकी परचूनकी छोटी-सी दूकान थी। पत्नी गर्भवती थी। लडाई जल्द छिडेगी, यह समझकर पत्नीको उसके पिताके घर भेज दिया, दूकान बन्द कर दी। ज्यों-ज्यों देर होती गयी उसकी आर्थिक अवस्था बिगडती गयी। ऐसे बहुत-से उदाहरण थे। आन्दोलन-कालमें मनुष्य सब-कुछ हँसकर सह लेता है परन्तु घर बैठे हाथपर हाथ रखकर कष्ट झेलना असह्य हो जाता है। जब यह प्रतीत होता है कि युद्ध केवल इसलिए नहीं छिड रहा है कि नेता लोग कुछ स्थिर नहीं कर पाते तो असन्तोष और भी बढता है।

इस बीचमें भी कुछ थोडा-सा राजनीतिक काम हो रहा था। एक ओर महात्माजी और वाइसरायमें, दूसरी ओर वाइसराय और श्री जिनामें पत्रव्यवहार चल रहा था। लिबरल नेताओंने भी इस आशयका वक्तव्य निकाला था कि ब्रिटिश सरकार जितनी ही देर भारतको स्वायत्त शासन देनेमें कर रही है उतना ही भारतीय जनता उससे विमुख होती जाती है। यह बात तो ठीक ही थी, परन्तु सरकारको अपनी शक्तिपर पूरा भरोसा था। वह न तो किसीका परामर्श माननेको प्रस्तुत थी, न किसी-की धमकीसे दबनेको तैयार थी।

महात्माजीने १५ अक्तूबर १९४० को एक बयान निकाला। इस बयानमें भावी संग्रामका स्वरूप बताया गया था। उसको पढकर लोग एक बार तो स्तब्ध रह गये। ऐसी योजना किसीकी कल्पनामें भी न थी। जो सहस्रों कार्यकर्ता युद्धके लिए उतावले हो रहे थे उनके उत्साह-पर पानी फिर गया। महात्माजीने स्वयं स्वीकार किया कि जब उन्होंने

इसे वर्किंग कमेटीके सामने रखा तो तीन दिनमें वाद-विवादके बाद भी वह कमसे कम दो सदस्योको राजी नहीं कर सके। सच तो यह है कि स्यात् ही किसीकी बुद्धिने उसे स्वीकार किया : महात्माजीके लिहाजसे भले ही अधिकतर सदस्य चुप हो गये हों।

युद्धकी इस शैलीका नाम व्यक्तिगत सत्याग्रह रखा गया। सबसे पहिले सारे देशमे महात्माजीका चुना हुआ एक व्यक्ति सत्याग्रह करेगा। उसको यह आदेश था कि किसी निर्दिष्ट स्थानपर अपनी इच्छाके अनुसार या तो युद्धमात्रके विरुद्ध भाषण दे या इस विषयपर कि वर्तमान युद्धमे भारतीयोंको नही सम्मिलित होना चाहिये। कोई श्रोता हो या न हो, सरकार लोगोको वहाँ जानेसे रोके या न रोके, उसको अपना भाषण समाप्त करना था। यदि वह गिरफ्तार हो जाय तो दूसरा सत्याग्रही उसकी जगह लेगा परन्तु यह उत्तरवर्ती सत्याग्रही भी महात्माजीका चुना हुआ होगा। सख्याका कोई महत्त्व नही था। सारा महत्त्व योग्यताका था। जो भी सत्याग्रही चुना जाय वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिये 'जिसको खादी और ग्रामोद्योगके कार्यक्रमपर पूर्ण निष्ठा हो, जिसने अपने हृदयसे अस्पृश्यताके भावको पूर्णतया निकाल दिया हो और जो सत्य और अहिंसाका पूर्ण व्रती हो।' यह स्पष्ट ही है कि साधारण काग्रेसजन इन बातोंका दावा नहीं कर सकता था और जानता था कि वह कभी भी इस ऊँचाईतक न पहुँच सकेगा।

महात्माजीने पहिला सत्याग्रही श्री विनोबा भावेको चुना। आज सारा देश उनको भूदानके प्रणेताके रूपमे जानता है। वह सर्वोदयके भी प्रमुख कर्णधार हैं। परन्तु १९४० मे सेवाग्रामके बाहर बहुत कम लोग उनको जानते थे। महात्माजीने अपने वक्तव्यमे उनके सद्गुणोंकी बडी लम्बी सूची दी थी। उनके गुणोंके बारेमें किसीको कुछ नही कहना था। वह सूची यथार्थ होगी, फिर भी यह बात अमान्य लगती थी कि सारे राष्ट्रके नामपर एक व्यक्ति, चाहे वह कैसा भी सर्वगुणसम्पन्न हो, सत्याग्रह करे। जब पहिले उनका नाम वर्किंग कमेटीके सामने आया तो

सभी सदस्योंने आश्चर्य और नापसन्दी जाहिर की। मुझे एक परम विश्वसनीय स्रोतसे ज्ञात हुआ था कि जब उनके पूर्ण ब्रह्मचारी होनेका चर्चा करते हुए महात्माजीने यह कहा कि 'इन्होंने आजतक स्त्रीके शरीरका स्पर्श नहीं किया है' तो कमेटीके एक सम्मानित सदस्य बोल उठे, 'मुझे इससे कोई मतलब नहीं है कि इन्होंने एक स्त्रीके शरीरका स्पर्श किया है या दस स्त्रियोंके शरीरोंका। इसका सत्याग्रहसे क्या सम्बन्ध है?'

आगे चलकर महात्माजी कहते हैं: 'अहिंसावादी कांग्रेस ब्रिटेनका बुरा नहीं चाहती। जब वह अपनी स्वाधीनताको शुद्ध अहिंसाके द्वारा प्राप्त करना चाहती है तो शस्त्रोंके द्वारा ब्रिटेनकी सहायता भी नहीं कर सकती।' 'इसलिए कांग्रेस सैनिक-बारिकों या शस्त्रास्त्र बनानेवाले कार-खानोंका घेरा नहीं डालना चाहती, न वह किसीको स्वेच्छासे काम करनेसे रोकना चाहती है। हम भारतवासियोंको यह बतलाना चाहते हैं कि यदि वह अहिंसात्मक साधनोंसे स्वराज लेना चाहते हैं तो वह युद्धमें ब्रिटेनको किसी प्रकारका सैनिक सहयोग नहीं दे सकते।'

वर्किंग कमेटीके सदस्योंके साथ उनको जो अनुभव हुआ था उसने महात्माजीको सावधान कर दिया था कि सामान्य जनतासे इस प्रकारके सत्याग्रहका औचित्य स्वीकार कराना प्रायः असम्भव होगा। इसलिए वह कहते हैं: 'सबके साथ प्रतीक्षा कीजिये। देखिये क्या होता है। आदेशोंका यथाशक्य पालन कीजिये। योजनामें किसी प्रकारकी बाधा न डालिये।'' एक व्यक्ति सत्याग्रह करे या बहुत-से करें, इसका कोई महत्त्व नहीं है, शेष लोगोंको अपनी शक्तिभर जो कुछ सहायता उनसे माँगी जाय वह देनी है।' महात्माजीके लिए सबके मनमें आदर था' परन्तु इस तर्कने किसीको भी प्रभावित नहीं किया। यह पुराना जमाना नहीं था जब दो सेनाएँ सामने-सामने खड़ी हो जाती थीं और दोनोंसे एक-एक योद्धा निकल आता था, दोनों लड़ते थे, जो जीत गया उसकी सेनाकी जीत मान ली जाती थी। राष्ट्रीय स्वाधीनताका संग्राम किसी एक व्यक्तिके सत्याग्रह करनेसे हारा-जीता नहीं जा सकता। गुणोंका बहुत मूल्य है,

निश्चय ही एक महापुरुष दस साधारण मनुष्योसे अधिक मूल्यवान् है पर अकेले सेनापति लड़ाइयाँ नही जीता करते : सिपाहियोकी भी आवश्यकता पडती है।

सरकारने महात्माजीके कार्यक्रमको चलने न दिया। विनोबाजी ऋषि-महर्षि कुछ भी रहे हों, परन्तु सरकार इस बातके लिए तैयार नही थी कि वह युद्धके विरुद्ध भाषण दे। वह गिरफ्तार हुए, उनके उत्तरवर्ती गिरफ्तार हुए। सत्याग्रहियोकी सख्या बढ चली और ज्यों-ज्यों सख्या बढी त्यो-त्यो उदात्त गुणोके आधारपर चयन करना कठिन होता गया। चुननेका काम महात्माजी अपने हाथोमे केन्द्रीभूत नही रख सके। उसे प्रदेशोपर छोडना पडा। उत्तरप्रदेशमे हम लोगोने सत्याग्रहियोका जो क्रम बनाया उसमे प्रथम स्थान भूतपूर्व मुख्यमन्त्री पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्तको दिया गया। सच बात यह है कि हममेसे कोई भी उस कसौटीपर नहीं उतर सकता था जो विनोबा भावेको चुनते समय बनायी गयी थी। पहिलेके आन्दोलनोके बराबर तो इस बार जेलमन्त्रियोंकी सख्या नहीं हुई परन्तु महात्माजीकी मूल योजनासे तो कहीं अधिक हो गयी।

कुछ दृष्टियोंसे ऐसे आन्दोलनकी प्रशसा की जा सकती है। यह निर्विवाद है कि एक महापुरुष हजार साधारण व्यक्तियोसे अधिक मूल्य रखता है और ऐसे व्यक्तिका सत्याग्रह सारे राष्ट्रका अतुष्टिका प्रतीक माना जा सकता है। परन्तु कोई भी राष्ट्र अपने युद्ध देवो या देवकल्प मनुष्योको नहीं सौंप सकता। साधारण मनुष्योको अपना खून और पसीना बहाना होगा। दूसरेकी त्यागवृत्तिकी प्रशसा करना एक बात है और स्वय त्याग करना दूसरी चीज है। दूसरेकी आत्मबलिसे स्फूर्ति भले ही मिलती हो परन्तु चरित्रका वह उन्नयन और चित्तकी वह शुद्धि नही होती जो स्वय अपनी बलि चढानेसे प्राप्त होती है। महात्माजीके आदेशो और अपनी कमियोंपर दृष्टि डालनेसे बहुतोका उत्साह कुण्ठित हो गया। आन्दोलन व्यर्थ-सा प्रतीत होने लगा और थोड़े दिनोमे निर्जीव हो गया। जेलसे बाहर आनेपर बहुत कम लोगोने दुबारा सत्याग्रह किया। सरकार भी

निश्चिन्त थी। उसको ज्ञात था कि ऐसा आन्दोलन उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

मुझे इस बार एक वर्षकी सजा मिली। फतहगढ सेण्ट्रल प्रिजनमे टण्डनजी, डॉक्टर काटजू और हाफिज मुहम्मद इब्राहीमके साथ मुझे भी रखा गया। मन्त्रिमण्डल तो हट चुका था पर विधानसभा भग नहीं हुई थी। टण्डनजीका आग्रह था कि मुझे विधानसभाने चुना है, अतः मैं अब भी अध्यक्ष हूँ। प्रति सप्ताह उनका निजी सहायक कुछ कागज उनके हस्ताक्षरके लिए लाता था। कुछ दिनोंके बाद सरकारकी समझमें आया कि यह बात ठीक नहीं है। सहायकका आना गवर्नरकी आज्ञासे बन्द कर दिया गया, फिर विधानसभा भी तोड दी गयी।

इस बार जेल-जीवन पिछली बारोकी अपेक्षा अधिक शान्त था। मुझको अपनी पुस्तक 'आर्योंका आदिदेश' समाप्त करनेका अवसर मिल गया। हममेसे कुछ लोग, जिनमें मैं भी था, थोडी देरतक चरखा चलाया करते थे। मेरा हाथ कुछ ऐसा निकम्मा है कि मुझसे बारीक सूत कातते बनता ही नहीं। एक बार मैंने सूरती रुईकी पिउनियाँ मँगवायी। उनको देखकर श्री पूर्णचन्द्र विद्यालकारने कहा कि इस रुईसे पचास नम्बरसे कमका सूत निकालना पाप है। मैने उत्तर दिया कि यदि कोई मेरे हाथसे तेरह नम्बरसे अधिकका सूत निकलवा दे तो मै उसको पुरस्कार दूँगा।

हम लोग तो 'ए' क्लासमे थे परन्तु उस जेलमे 'बी' क्लासके भी बहुत-से राज-नीतिक बन्दी थे। उनमेसे कुछ नवयुवकोंमे मैने आकाश-दर्शनकी रुचि उत्पन्न की थी। पता नही उनमेसे किसीमें अब भी यह शौक अवशिष्ट रह गया है या नहीं। जेल-जीवन शान्त होनेसे पढनेका भी बहुत अवसर मिला। और पुस्तकोके साथ मैं आल्हाकी सम्पूर्ण पुस्तक पढ़ गया। पढ़ने योग्य रचना है।

जेल-जीवनकी बहुत-सी घटनाएँ याद आती है। उनमेसे एकका ही जिक्र करता हूँ। चैत्रमे नीमके जो कोमल फूल झडते हैं उनको घीमे तल-कर और जरा-सा नमक डालकर खाया जाता है। कहते है कि स्वास्थ्यको

भी लाभ होता है। मुझे यह चीज पसन्द है। जेलमे भी बनवाया करता था। यकायक टण्डनजीके मनमे यह बात आयी कि जब नीमका फूल खाया जा सकता है तो निमकौडी (निमौरी) क्यो नही खायी जा सकती। उन्होंने तलवाना आरम्भ किया। मैने खानेसे इनकार कर दिया। टण्डनजी स्वय नित्य खाते थे। भगवान् जाने कैसा स्वाद लगता था। हमारे यहाँ 'बी' क्लासके जो साथी आते थे उनको भी बाँटते थे। मैने उनसे कई बार हँसीमे कहा कि आप इन लोगोका परलोक बिगाड रहे है। आपसे ले लेते है और यह बहाना करते है कि अपने बारिकमे जाकर खायेगे। आपसे प्रशसा भी कर देते है। परन्तु आपके सामनेसे हट कर सब फेक देते है। उनको इस बातका विश्वास नही होता था। एक बार उनको ज्वर आया। कानपुरके स्व० पण्डित खुबरदयाल भट्ट वैद्य भी 'बी' क्लासमे थे। उन्होने टण्डनजीसे कहा कि चरकने लिखा है कि यदि निमौरी खानी हो तो प्रचुर मात्रामे घी खाना चाहिये, नहीं तो ज्वर आ जाता है। टण्डनजी घी खानेको तैयार नही थे, इसलिए निमौरी खाना छोड दिया। पता नही चरकने ऐसा कहा है या नही, परन्तु हम सब भट्टजीके कृतज्ञ थे कि उन्होने इस बहाने निमौरीका पकना बन्द करा दिया।

इस अध्यायको समाप्त करनेके पहिले एक घटनाका उल्लेख करना आवश्यक है। देवलीमे नजरबन्दोके लिए कैम्पजेल खोला गया था। उसमे श्री जयप्रकाशनारायण भी थे। उन्होने एक बार तिकडमसे एक पत्र बाहर भेजना चाहा। उसमें हिंसाका समर्थन था। पत्र पकड लिया गया। सरकारने उसको प्रकाशित किया और इस घटनाको बडा महत्त्व दिया। यह सुझाव भी आया कि राजनीतिक बन्दियोकी और कडाईसे देख-रेख की जाय। महात्माजीने तो स्वय सत्याग्रह किया नही था। जेलके बाहर थे। इस अवसरपर उन्होने जो वक्तव्य निकाला वह कई दृष्टियोंसे अद्भुत था। वह सिद्ध करता है कि स्वय कट्टर अहिंसावादी होते हुए भी वह दूसरोंके दृष्टिकोणको समझ सकते थे। मैं इस वक्तव्यके कुछ अश उद्धृत करना उचित समझता हूँ। "धोखा देना, गुप्त उपायोसे काम लेना, यहाँ-

तक कि खून करनेका आयोजन करना—यह सभी काम सम्मानजनक माने जाते है। क्या क्लाइव और वारन हेस्टिंग्ज अग्रेजोमे आदरणीय वीर पुरुष नही माने जाते ? यदि जयप्रकाश कही अग्रेजी राजदूत होते और गुप्त कूट-नीतिके द्वारा कोई महत्त्वपूर्ण काम कर सकते तो उनका बड़ा सम्मान होता। ''उन्होने जिस उपायका समर्थन किया है वह काग्रेसकी सत्य और अहिंसाकी नीतिके सर्वथा विरुद्ध है। इसलिए वह कठोर भर्त्सनाके पात्र है। परन्तु सरकारको यह अधिकार नही है कि उनके बताये उपायकी निन्दा करे। सच बात तो यह है कि देशकी सारी राष्ट्रीय शक्तियॉ, चाहे वह किसी भी नामसे पुकारी जायॅ, इस समय सरकारसे युद्ध करनेमे सलग्न है। युद्धके नियमोके अनुसार जयप्रकाशका बताया हुआ साधन सर्वथा वैध है। ''इस बातको देखते हुए कि जयप्रकाश इस समय नजरबन्द है, सरकारने उनके पत्रपर जो टीका-टिप्पणी की है वह कमरके नीचे प्रहार करनेके समान है ''कुछ समाचारपत्रोमे यह सुझाव देखनेमे आया है कि राजनीतिक बन्दियोके साथ और कडाई की जाय। यह सुझाव अप्रासगिक है। पत्रका पकड लिया जाना सी० आई० डी० की तत्परताका प्रमाण है। परन्तु यदि प्रबन्धमे ढिलाई भी हो तब भी इन लोगोको खराब भोजन देना और अपने घरोसे इतनी दूर बन्द करना कि घरवाले भेट भी न कर सके, अक्षम्य है। 'युद्धबन्दियोके साथ राजाओ जैसा व्यवहार होता है यद्यपि राजनीतिक बन्दियोकी हैसियत युद्धबन्दियोसे कही ऊँची है।"

गलती करनेपर अपने अनुयायीका इससे अच्छा नैतिक समर्थन नही हो सकता। महात्माजीकी यही महत्ता थी : जिससे मतभेद हो उसके साथ भी अन्याय होना उनके लिए असह्य था।

व्यक्तिगत आन्दोलन सिसक-सिसककर समाप्त हो गया। नैतिक लाभकी बात तो भगवान् जाने परन्तु राजनीतिक लाभ कुछ भी न हुआ, दिलके हौसले दिलमे रह गये। राष्ट्रको ऐसा अनुभव हो रहा था जैसे उसके अग-प्रत्यगमे सुइयॉ चुभ रही हो।

● ● ●

: १५ : अन्तिम युद्धके ठीक पहिले

अपनी मीयादें पूरी करके हम लोग जेलसे बाहर आये। हमारे मस्तिष्क इच्छाभिघात, अशान्ति, निराशाके आकर बने हुए थे। अपनेसे, नेतृत्वसे, देशकी परिस्थितिसे घोर असन्तोष था। सम्भव है व्यक्तिगत सत्याग्रहसे आध्यात्मिक लाभ हुआ हो, पर हमको तो उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता था। और फिर हम तो स्वाधीनताके भूखे थे, कोरे आध्यात्मिक लाभके इच्छुक नहीं थे। हमारी स्थिति उस सेना जैसी थी जो बिना लड़े ही हार गयी हो।

युद्ध जारी था, सरकारके युद्धसम्बन्धी सारे काम अबाध गतिसे जारी थे। सत्याग्रह छेडते समय गान्धीजीने कहा था : 'कौन जानता है, स्यात् मैं न केवल ब्रिटेन और भारत वरन् सभी लडते हुए राष्ट्रोंमें शान्ति स्थापित करनेका उपकरण बन सकूँ'। इस इच्छाकी पूर्तिका कोई लक्षण नहीं देख पडता था। युद्धरत राष्ट्रोंमें शान्ति तो दूरकी बात थी, ब्रिटेन और भारतके बीचकी खाई अधिक चौडी और गहिरी होती जा रही थी।

मैं बतला चुका हूँ कि १९३५ में वर्किंग कमेटीने स्वाधीनताकी प्रतिज्ञाकी शब्दावलीमें कुछ हेर-फेर किया था। उस बातका विरोध भी हुआ था। १९४२ में फिर वही खेल खेला गया। २६ जनवरी आनेसे पहिले शब्दावलीमे फिर परिवर्तन किया गया। इस बारका उलटफेर पहिलेसे भी बुरा था। जितनी ही नयी प्रतिज्ञा हमारी दृष्टिसे सदोष हो गयी उतनी ही वह सरकारके दृष्टिकोणसे दोषरहित बन गयी। प्रथम अनुच्छेद तो रहने दिया गया। 'स्वतन्त्र होना भारतीय जनताका अविच्छेद्य

अधिकार है' यह अब भी मान लिया गया, परन्तु बहुत-सी नयी बातें जोड दी गयीं। रचनात्मक कार्यक्रमकी प्रगमामें पुल बाँध दिया गया। इतना ही नहीं, यह प्रतिज्ञा भी करनी थी कि 'हम नियमपूर्वक चरखा चलायेंगे और अपनी निजी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए केवल खादीका और यथासम्भव, केवल ग्रामोद्योगकी बनी वस्तुओंका व्यवहार करेंगे और इस बातका यत्न करेंगे कि दूसरे लोग भी ऐसा ही करें।' यह तो अन्धेर था। ऐसा कहीं देखा नहीं गया कि कोई सेनापति युद्धस्थलके बीचमें अपने सिपाहियोंको यह आज्ञा दे कि तुम अमुक प्रकारकी वर्दी पहिनो और वर्दीके लिए अपने हाथसे कपडा तैयार करो। बहुत लोग प्रतिज्ञाके इस विकृत रूपसे खिन्न हुए परन्तु खुलकर केवल श्री जयप्रकाशनारायण और मैंने ही विरोध किया। हम दोनोंके पृथक् बयान निकले। अपने-अपने ढंगसे दोनों बयानोंमें प्रतिज्ञाकी तीव्र आलोचना की गयी। जिस समय लोग स्वतन्त्रताके लिए युद्ध करनेकी बात सोच रहे हों उस समय उनका चित्त उधरसे हटाकर गौण बातोंकी ओर ले जाना सर्वथा अनुचित है। इन परिवर्तनोंको सामने लाना असामयिक है और अव्यावहारिक भी। भले ही लोग मुँहसे दुहरा दें परन्तु बहुत कम लोग प्रतिज्ञाको पालन करनेका उद्योग करेंगे। मैंने अपने बयानमें एक और बातपर जोर दिया था। स्वाधीनताकी प्रतिज्ञा पवित्र वस्तु होती है, साधारण प्रस्तावोंकी भाँति बदली नहीं जाती। अमेरिकामें वह कागज, जिसपर हस्ताक्षर करके स्वाधीनताकी प्रतिज्ञा की गयी थी, आजतक सुरक्षित है। हमारी आनेवाली पीढियाँ किस प्रतिज्ञापर गर्व करेंगी, दूसरोंसे कैसे कहेंगी कि हमारे पूर्वजोंने इन शब्दोंमें देशको स्वतन्त्र करनेका व्रत लिया था? जिस चीजका कई बार कायापलट हुआ हो उसके प्रति पूज्य बुद्धि नहीं लायी जा सकती।

महात्माजीने हमारे विरोधोंके उत्तरमें लम्बा बयान प्रकाशित किया। उसका एक वाक्य यह था: 'मैं इस बातसे बहुत चिन्तित हूँगा, यदि श्री जयप्रकाशनारायण और सम्पूर्णानन्दजी जैसे व्यक्तियोंको, जिनको

आन्दोलनका नेतृत्व निश्चय ही करना होगा, खादीमें विश्वास न हो।' इस वाक्यने मुझको असमञ्जसमे डाल दिया। महात्माजी बुजुर्ग थे, सर्वतः आदरणीय थे, देशके सर्वश्रेष्ठ नेता थे, मेरे ऊपर उनकी कृपा थी। उनसे बहस करना अच्छा नही लगता था। पर इसके साथ ही मै खादीके विषयमे अपनी स्पष्ट राय रखता था जिसे कोई तर्क बदल नही सका था। उसको छिपाकर महात्माजीके आन्दोलनमे शरीक होना उनको धोखा देना था। ऐसा अनैतिक काम मै कर नही सकता था। सोच-विचारके बाद मैने उनको निजी पत्र लिखा। उसका आशय यह था : "समाचार पत्रोके द्वारा आपसे वाद-विवाद करना अशिष्टता है परन्तु यह लिखकर कि मुझको आन्दोलनका नेतृत्व करना होगा आपने मेरे कन्धेपर दायित्वका बडा बोझ डाल दिया है। खादीके सम्बन्धमे अपनी स्थिति स्पष्ट कर देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। मै ऐसा नही मानता कि खादीसे स्वराज्य मिलेगा। अग्रेजोके आनेके पहिले सब लोग खादी पहिनते थे, दूसरा कपडा था ही नही। फिर भी हम अपनी स्वाधीनता खो बैठे। समाजवादी होनेके कारण मै बड़े कल-कारखानोका पक्षपाती हूँ। परन्तु भारतकी इतनी बडी आबादीका उद्धार केवल बडे उद्योगोसे नही हो सकता। ऐसे गौण व्यवसाय चाहिये जो लोगोकी आयमे कुछ थोडी-सी वृद्धि कर सकें। इस दृष्टिसे खादी सर्वोत्तम है। न तो कोई दूसरा व्यवसाय इतनी कम पूँजीमे हो सकता है, न किसी औरका इतना व्यापक उपयोग है। इसलिए मै हाथकी कताई-बुनाईका समर्थक हूँ। एक और बात है। १९२१ से खादी काग्रेसजनका पहिनावा रही है। उसका परित्याग नही होना चाहिये। इस विषयमे मेरा यह स्पष्ट मत है। यदि आप इससे सन्तुष्ट हो तो ठीक ही है, अन्यथा मै आपके चलाये आन्दोलनकी पवित्रताको कलुषित नहीं करूँगा। अलग हो जाऊँगा। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि युद्धसे हट जाऊँगा। अपनी बुद्धि और शक्तिके अनुसार कोई दूसरा मार्ग ढूढूँगा।" लौटती डाकसे महात्माजीका उत्तर आया। बहुत छोटा परन्तु मेरे लिए बहुत ही सारगर्भ। इतना ही लिखा था : "आपने जो

लिखा है वह मेरे लिए पर्याप्त है।" जिसको कट्टर लोग मेरी राजनीतिक नास्तिकता समझते उसको महात्माजीका आशीर्वाद मिल गया। मुझे और चाहिये ही क्या था। हमारी आपत्तियोंके उत्तर नहीं मिले, विवशता थी। पर मेरे पत्रका ऐसा उत्तर गान्धीजी जैसा उदार नेता और व्यवहारकुशल सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति ही दे सकता था।

चारो ओर नये ससार, नयी विश्वव्यवस्थाका चर्चा था। यह आशा दिलायी जा रही थी कि इस युद्धकी समाप्तिपर जो शान्ति होगी वह चिरस्थायिनी होगी। राष्ट्रसंघ तो मर चुका था परन्तु उसकी जगह दृढतर सर्वराष्ट्रीय संघटनकी रूपरेखा भरी जा रही थी। परन्तु यह भी स्पष्ट था कि जो परिवर्तन होने जा रहे थे उनसे भारत जैसे देशोका कोई कल्याण नहीं होनेवाला था। इग्लैण्डमें श्री चर्चिलके प्रधान मन्त्री होनेके बादसे बडी स्फूर्ति आ गयी थी। राष्ट्रकी सारी शक्ति जाग उठी थी परन्तु पद ग्रहण करनेके बाद ही उन्होने यह स्पष्ट कर दिया था कि 'मैने साम्राज्यका अन्त करनेके लिए पद नहीं सँभाला है'। इन सब बातोको ध्यानमे रख-कर मैने नैशनल हेरल्डके १० नवम्बर १९४० के अकमे एक लेख लिखा था। उसका आशय इस प्रकार है :

"सभी लोग कहते है कि वर्तमान युद्धके समाप्त होते ही नया ससार बसाया जायगा। विश्वकी नयी व्यवस्था होगी। युद्धकी भीषणताके बाद जो नयी व्यवस्था होगी उसका स्वरूप क्या होगा, यह कोई नहीं बताता। हमसे कहा जाता है कि सब्र करो, काम करते जाओ, श्रद्धाके साथ आत्मबलि दो और आवश्यकता पडनेपर श्रद्धापूर्वक प्राणोकी आहुति दे दो। अन्तर इतना ही है कि कुछ लोगोको हिटलर और मुसोलिनीमें श्रद्धा रखनी होगी, दूसरोको चर्चिल और उनके मित्रोमे।

"जापानने पुरानी पद्धतिको अपनाया है और तलवारकी धारपर एकके बाद दूसरे देशको 'मुक्त' कर रहा है। इटलीने ऐसा ही यज्ञ अबिसीनियामें किया और अब जर्मनी इसी पुण्यकार्यमे लगा है। हम इससे अनुमान कर सकते है कि अधिनायक शासनमे रहनेवाले राज्य

किस प्रकारकी विश्वव्यवस्थाका स्वप्न देख रहे है।

"और इग्लैण्ड और उसके मित्रोके विजयसे क्या आशा की जाय? इस समय कई देशोकी सरकारे अपने देशोसे भागकर इग्लैण्ड आ गयी है। ब्रिटिश सरकारने इनको मान्यता प्रदान कर दी है पर यह नीति यूरोपियन राज्योके लिए ही है। बेल्जियम, नार्वे, जेकोस्लोवाकिया और डेनमार्ककी सरकारोको यह सौभाग्य प्राप्त हो गया। परन्तु पार्लियामेण्टमे बार-बार पूछे जानेपर भी ब्रिटिश सरकारने अबिसीनियाकी सरकारको मान्यता देना स्वीकार नही किया। इग्लैण्डने कभी इस बातको स्वीकार नही किया कि भारतको स्वतन्त्र होनेका अधिकार है। देशसे स्वाधीनता और लोकतन्त्रके नामपर त्याग करनेको कहा जा रहा है पर इन दोनो सिद्धान्तोंका उसके जीवनमे न आज कोई स्थान है, न आगे होनेवाला है। युद्धके अन्तमे उसको उतना अधिकार भी प्राप्त न होगा जितना कनाडा आदिको है। भारत सचिवने स्पष्ट कहा है कि हैसियत और अधिकारमे अन्तर होता है। भारतको डोमिनियन—कनाडा, आस्ट्रेलिया जैसी—हैसियत मिल जायगी परन्तु अधिकार नही। सच बात यह है कि युद्धके बाद भी आज जैसी ही अवस्था रहेगी। राष्ट्र गुलाम बनाये जायॅगे, उनका शोषण होगा, वह और भी दृढतासे जकड दिये जायॅगे।

"यही वह नयी विश्वव्यवस्था है जिसका उभयपक्षसे सर्जन किया जा रहा है। वह दूसरी व्यवस्था कर भी नहीं सकते। पर क्या पृथ्वीकी दीन-दुखी जनता इसी व्यवस्थाके लिए तरस रही है? यदि अब भी साम्राज्य-शाही और शोषणको रहना है, यदि अब भी शक्तिसन्तुलनके लिए आये-दिन युद्ध होते है, तो शान्ति और नयी व्यवस्थाका नाम लेना व्यर्थ है। यदि लोग सचमुच पुरानी व्यवस्थासे ऊब गये हैं और स्थायी शान्ति चाहते है तो उनको अपना काम आप सॅभालना होगा। शासकवर्ग पहिले भी विश्वासघात कर चुका है, फिर भी धोखा देगा।"

मै गर्मियोमे दो महीनेके लिए कश्मीर चला गया। कश्मीर सरकार-ने पाठ्यपुस्तकोकी भाषा निश्चित करनेके लिए एक कमेटी नियुक्त की

थी। मैं भी उसका सदस्य था। एक ओर तो यह आग्रह था कि भाषा शुद्ध उर्दू रक्खी जाय, दूसरा पक्ष कश्मीरीपर जोर देता था। कश्मीरी साहित्यकी भाषा नहीं थी। कुछ लोग हिन्दीका नाम लेते थे। कमेटीने काफी उपयोगी काम किया। कश्मीरकी राजभाषा तो उर्दू थी परन्तु पाठ्यपुस्तकोंमें कश्मीरीके बहुत-से शब्द समाविष्ट किये गये। नयी शब्दावली प्रायः सबको ही पसन्द आयी। दो महीने बैठकर कमेटी उठ गयी। यह निश्चय हुआ कि अगली बैठक सितम्बरमें हो। उस समय मैं जेल पहुँच गया था।

युद्ध चल रहा था और उसकी प्रखरता बढ़ती जा रही थी। उधर भारतीय जनताकी बेसब्री भी बढ़ती जा रही थी। अशान्ति और आन्दोलनके बादल मँडलाने लगे थे। एक ओर सरकार अपने युद्ध-सम्बन्धी कामोंमें किसी प्रकारकी बाधा सहन करनेको तैयार नहीं थी, दूसरी ओर भारतीय जनताकी यह धारणा हो गयी थी कि जो सरकार भारतीय भावनाओंको इस बेदर्दीसे ठुकराती है उससे सहयोग करना सम्भव नहीं है। दोनों ओरसे तनाव था। व्यक्तिगत आन्दोलनके बाद जो सुस्ती आ गयी थी वह दूर हो चुकी थी और यह विश्वास हो गया था कि वर्षके मध्यतक किसी-न-किसी प्रकार संघर्ष छिड़ ही जायगा।



: १६ : १९४२

गर्मियोकी कठिन प्रतीक्षाके बाद वर्षा आती है। गगनमण्डलकी स्तब्धता दूर होती है। घनघोर आसार प्रकृतिके रूपको बदल देता है। राजनीतिक क्षेत्रमे भी वही बात हुई। १९४२ का अगस्त महीना आया। राजनीतिक आकाश फट पडा। जो पर्यावरण चार दिन पहिले शान्त प्रतीत होता था उसने यकायक नया चोला पहिना। चारो ओर ज्वालामुखी फूट पडा।

अखिल-भारतीय काग्रेस कमेटीकी बैठक ७ अगस्तको बम्बईमें होनेवाली थी। सबकी ऑखें उधर ही लगी थी। वहॉ क्या होगा, क्या निश्चय किये जायेगे, यह कोई नही जानता था परन्तु ऐसा विश्वास था कि कोई-न-कोई निर्णयात्मक कदम उठाया जायगा जिसका आधार यह होगा कि साम्राज्यशाहीसे किसी प्रकारका समझौता नही हो सकता। काग्रेसजन और सरकार दोनोको यह विश्वास था कि अब सघर्ष टल नही सकता। उसका स्वरूप क्या होगा यह कहना असम्भव था, क्योंकि गान्धीजीकी बुद्धि किस समय किधर झुकेगी यह कोई सोच नही सकता था। परन्तु यह निश्चित था कि युद्ध कठोर होगा, न काग्रेस झुकेगी, न सरकार अपनी जगहसे टससे मस होगी। जबतक नेतृत्व गान्धीजीके हाथमे था तबतक अहिंसाके सम्बन्धमे कोई ढिलाई नही हो सकती थी परन्तु इसके सिवाय और कोई शर्त न लगायी जायगी। लोगोको अपनी सूझ-बूझके अनुसार काम करनेकी पूरी छूट होगी। सरकार भी अपनी ओरसे सतर्क थी। उसकी दृष्टि भी बम्बईपर लगी थी। ज्योही काग्रेसकी

ओरसे युद्धकी घोषणाके रूपका कोई प्रस्ताव स्वीकृत होगा, सारे देशमें प्रमुख कांग्रेसजन गिरफ्तार कर लिये जायँगे। सरकारका विश्वास था कि इस प्रकार कांग्रेस सेनापतिविहीन सैनिकोंकी भीड़ बन जायगी। उसकी शक्ति क्षीण हो जायगी और जो कुछ नाममात्रका आन्दोलन होगा वह चार दिनमें कुचल दिया जायगा।

यों ब्रिटिश सरकारको युद्धके बीचमें ऐसा उपद्रव पसन्द नहीं था। जापानी सेना बढ़ती आ रही थी। आन्दोलन दबा तो दिया जायगा परन्तु ऐसे समयमें उसका छिड़ना अच्छा नहीं था। कुछ तो बुरा प्रभाव होगा ही, युद्धकार्यमें कुछ बाधा पड़ेगी ही। सरकार इसको बचाना चाहती थी।

१२ मार्च १९४२ को श्री चर्चिलने यह घोषणा की कि भावी शासन-सुधारके सम्बन्धमें भारतके प्रतिनिधियोंसे बात करनेके लिए सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत जायँगे। क्रिप्स भारतके हितू माने जाते थे और पण्डित जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य भारतीय नेताओंसे उनका निजी सम्बन्ध बहुत अच्छा था। परन्तु उनका आना बेकार हुआ। इसमें उनका दोष नहीं था, उनको बात करनेका जो अधिकार दिया गया था उसका क्षेत्र बहुत सीमित था। उन्होंने जो प्रस्ताव रखे उनका सारांश यह था :

(१) युद्धकी समाप्तिके बाद संविधान बनानेके लिए परिषद् नियुक्त हो जिसकी संस्तुतियोंको ब्रिटिश सरकार मान ले।

(२) ब्रिटिश सरकार और इस परिषद्के बीचमें सन्धिपत्र लिखा जाय।

युद्धकालमें शासनका पूरा दायित्व ब्रिटिश सरकारका होगा परन्तु वह इस काममें भारतीय नेताओंसे सहायता लेगी। रक्षाके सम्बन्धमें सरकार जिम्मेदारी बँटानेको तैयार नहीं थी परन्तु रक्षामन्त्रीके पदपर किसी भारतीयकी नियुक्ति हो सकती थी। उसके जिम्मे 'कैण्टीन' जैसे विषय होंगे। कैण्टीनकी देख-भालका अर्थ स्यात् सब लोग न समझते होंगे। सिपाहियोंके लिए उनके बारिकोंमें नियमित रूपसे भोजन तो

बनता ही है, ऐसी भी जगहें होती है जहाँ जलपानकी सामग्री, चाय आदि चीजे मिल सकती है। कभी-कभी रेलवे स्टेशनोपर भी ऐसी दूकाने खोल दी जाती है। इन स्थानोंको कैण्टीन कहते है। भारतीय रक्षा-मन्त्रीको यही काम सौंपा जानेवाला था।

अब वह समय चला गया था जब भारतको ऐसी बातोमे भुलावेमे डाला जा सकता था। देश स्वाधीनता चाहता था, इस प्रकारका खिलवाड नहीं। स्वाधीनताके बिना अग्रेजोसे सहयोग करना सम्भव नहीं था। महात्माजी तथा दूसरे नेताओने यह स्पष्ट कर दिया था कि स्वाधीनताका यह अर्थ नहीं है कि अग्रेजो और उनके मित्रोकी सेनाएँ तुरन्त भारत छोड़कर चली जायँ। वह ब्रिटिश सरकारकी इच्छासे यहाँ नही रह सकतीं परन्तु स्वतन्त्र भारतकी सरकार उनको युद्धकालतक ठहरनेकी अनुमति दे सकती है। सर स्टैफर्ड क्रिप्सके प्रस्तावो और भारतकी माँगोमे सामञ्जस्य स्थापित न हो सका और वर्किंग कमेटीने उनको अस्वीकार कर दिया। तत्सम्बन्धी प्रस्तावका यह वाक्य अस्वीकृतिके कारणोंको स्पष्ट कर देता है : "वर्तमान समयमें भारतीय जनता जिम्मेदारी ले सके उसके लिए मौलिक और अनिवार्य शर्त है कि उसको इस बातकी प्रतीति हो कि वह स्वतन्त्र है और अपनी स्वाधीनताकी रक्षाका भार उसके ऊपर है। वर्तमान भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारें अक्षम है और जनताके प्रतिनिधियो-का बोझ नहीं उठा सकती। यह तभी हो सकता है जब देश स्वतन्त्र हो और लोकप्रतिनिधियोंके ऊपर पूरा दायित्व हो। कमेटी इन प्रस्तावोको स्वीकार नहीं कर सकती।"

वर्किंग कमेटीके इस निश्चयका देशमे अभिनन्दन हुआ। ब्रिटिश सरकारके प्रस्ताव राष्ट्रका खुला अपमान करते थे। उनको स्वीकार करना उस अपमानपर अपनी छाप लगाना होता। राष्ट्रकी आत्मा क्या कहती थी इसका सकेत उस प्रस्तावसे मिलता है जो वर्किंग कमेटीकी १४ जुलाई-की बैठकमे पारित किया गया। उसमें कहा गया कि "आये दिन जो घटनाएँ हो रही हैं और भारतवासी जैसे अनुभवोका सामना कर रहे

है उन्होंने कांग्रेसजनके इस मतको पुष्ट कर दिया है कि भारतमें अंग्रेजी शासनका अविलम्ब अन्त होना चाहिये। इसका यह कारण तो है ही कि विदेशी राज स्वतः बुरा होता है। इसके सिवाय, परतन्त्र भारत न तो अपनी रक्षा कर सकता है, न युद्धपर कोई प्रभाव डाल सकता है जो मानवजातिका विध्वंस कर रहा है। भारतकी स्वाधीनता केवल भारतके लिए आवश्यक नहीं है वरन् सारी पृथ्वीकी रक्षाके लिए आवश्यक है। उसके बिना साम्राज्यवादके फासिस्टवाद, नात्सीवाद आदि विभिन्न रूपोंका और एक देशपर दूसरेके आक्रमणका अन्त नहीं हो सकता? ब्रिटिश शासनके हट जानेके प्रस्तावको उपस्थित करनेमें कांग्रेसका यह उद्देश्य नहीं है कि ब्रिटेन या उसके मित्रोंको युद्धसंचालनमें अड़चन हो। कांग्रेसको यह मंजूर है कि युद्धकालमें इनकी सेनाएँ भारतमें रहें, ताकि जापानी आक्रमण रोका जा सके और चीनकी सहायता की जा सके।

"स्वाधीनता और राजनीतिक स्वत्वोंकी रक्षाके लिए कांग्रेसको विवश होकर उस सारी अहिंसात्मक शक्तिको संचालित करना होगा जिसका उसने १९२० से संचय किया है, जब उसने अहिंसाको अपनी नीतिका अंग बनाया था।"

जुलाईके बाद अगस्त आया। घटनाचक्र तेजीसे घूम रहा था, लोगोंमें उद्वेग और आवेग इससे भी अधिक तेजीसे बढ़ रहा था। उभय पक्ष सन्नद्ध थे, संघर्षमें देर नहीं थी।

अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटीकी बैठक ७ अगस्तको हुई। ऐसा महत्त्वपूर्ण अधिवेशन कभी नहीं हुआ था। जो लोग उपस्थित हुए थे वह तो कांग्रेसजन ही थे, परन्तु कांग्रेसकी आवाज भारतकी आवाज थी। महात्माजीने ठीक ही कहा था कि अपने जन्मसे ही कांग्रेस सारी भारतीय जनताका प्रतिनिधित्व करती आयी है। एक ही विचारणीय विषय था, एक ही प्रस्ताव था, जो 'भारत छोड़ो' प्रस्तावके नामसे प्रसिद्ध है। उसको पण्डित जवाहरलाल नेहरूने पेश किया था। अनुमोदन करते हुए, सरदार वल्लभभाई पटेलने कहा था : "यदि अमेरिका और इंग्लैण्ड आज

भी ऐसा समझते है कि चालीस करोड भारतीयोके सहयोगके बिना ही वह भारतमे बैठकर अपने शत्रुओसे लड़ सकते है, तो वह मूर्खता कर रहे है।" विवादका उत्तर देते हुए पण्डित जवाहरलालने कहा : "यह प्रस्ताव धमकी नही है। यह निमन्त्रण है, स्पष्टीकरण है, हम सहयोग करनेको तैयार है। परन्तु इसके पीछे इस बातका स्पष्ट सकेत है कि यदि कुछ बाते न की गयी तो फिर कुछ परिणाम अवश्य होगे। स्वतन्त्र भारत सहयोग-दान करता है। किसी दूसरी शर्तपर सहयोग नही हो सकता, उसकी जगह युद्ध और सघर्ष होगा।" दूसरे दिन प्रस्तावपर राय ली गयी। बारह सदस्योको छोडकर सबने पक्षमे वोट दिया। प्रस्ताव लम्बा है परन्तु उसमेसे कुछ अवतरण देना परमावश्यक है :

"कमेटी वर्किंग कमेटीके १४ जुलाईके प्रस्तावकी पुष्टि करती है और उसकी यह राय है कि उसके बादकी घटनाओंने उसके औचित्यको पूरी तरह सिद्ध कर दिया है और यह प्रमाणित कर दिया है कि ब्रिटिश शासनका तत्काल समाप्त होना भारतके तथा मित्रराष्ट्रोकी विजयके लिए नितान्त आवश्यक है। उसका जारी रहना चरित्रको गिराता है, भारतको दुर्बल बना रहा है और अपनी रक्षा करने तथा विश्व स्वातन्त्र्य-की सहायता करनेके लिए बराबर निकम्मा बनाता जा रहा है।

"इस देशमे ब्रिटिश राजकी समाप्ति तात्कालिक महत्त्वका प्रश्न है जिसपर युद्धका भविष्य और स्वाधीनता तथा लोकतन्त्रकी सफलता निर्भर है। भारतके स्वातन्त्र्यसे यह सफलता निश्चित हो जायगी क्योंकि स्वतन्त्र भारत अपनी सारी शक्ति स्वाधीनताके पक्षमे तथा नात्सीशाही, फासिस्ट-शाही और साम्राज्यशाहीके विरुद्ध लगा देगा।"

"अखिल-भारतीय काग्रेस कमेटी इस अन्तिम क्षणमें भी विश्वस्वातन्त्र्य-के नामपर ब्रिटेन और मित्रराष्ट्रोंसे अपील करना चाहती है, परन्तु उसको ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रको उस साम्राज्यशाही और तानाशाही सरकारके विरुद्ध, जो उसको दबाये हुए है और अपने तथा मानवजातिके हितमें कार्यशील होनेसे रोक रही है, प्रयत्न करनेसे रोकना उसके लिए

अनुचित होगा।...

"इसलिए कमेटी यह निश्चय करती है कि भारतका स्वतन्त्र होनेका जो अविच्छेद्य स्वत्व है उसकी रक्षाके लिए व्यापक अहिंसात्मक जनान्दोलन छेड़ा जाय, ताकि देश उस सारे अहिंसात्मक बलका उपयोग कर सके जिसका उसने पिछले बाइस वर्षोंमें संचय किया है। ऐसा संघर्ष गान्धीजीके नेतृत्वमें ही चलाया जा सकता है, इसलिए कमेटी उनसे अनुरोध करती है कि नेतृत्व सँभालें और देशका मार्गदर्शन करें।

"कमेटी भारतकी जनतासे अपील करती है कि जो कठिनाइयाँ और खतरे उसके सामने आयें उनका धैर्य और साहसके साथ मुकाबला करे और गान्धीजीके नेतृत्वमें कन्धेसे कन्धा मिलाकर संयमी सिपाहियोंकी भाँति उनके आदेशोंका पालन करे। यह स्मरण रखना चाहिये कि अहिंसा इस आन्दोलनका आधार है। ऐसा समय आ सकता है जब न तो कोई आदेश दिया जा सकेगा, न लोगोंके पासतक पहुँच सकेगा। कांग्रेस कमेटियाँ भी काम न कर रही होंगी। ऐसा अवसर आनेपर आन्दोलनमें भाग लेनेवाले प्रत्येक स्त्री और पुरुषको अपनी बुद्धिके सहारे काम करना होगा। इतनी ही शर्त है कि जो आदेश आरम्भमें दिये गये हों उनका अतिक्रमण न हो। प्रत्येक भारतीय, जो स्वातन्त्र्य चाहता है और उसके लिए यत्न करना चाहता है, अपना स्वयं मार्गदर्शक होगा और अपनी अन्तःप्रेरणासे उस कठिन मार्गपर चलेगा जिसपर ठहरनेकी जगह नहीं होती और जो अन्तमें भारतकी स्वाधीनता और मुक्तितक पहुँचायेगा।

.. अन्तमें अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि जनान्दोलन चलानेमें उसका यह उद्देश्य नहीं है कि कांग्रेसके हाथमें अधिकार आये। जब अधिकार प्राप्त होगा तो वह सारे देशकी सम्पत्ति होगा।"

महात्माजी हिन्दी और अंग्रेजीमें दो घण्टे बोले। ऐसा ओजस्वी भाषण उन्होंने शायद ही कभी और किया होगा। उसमें अहिंसाकी व्याख्या थी, ब्रिटिश राजके नग्न रूपका कठोर चित्रण था, चीन, रूस तथा अन्य

दलित राष्ट्रोके लिए सहानुभूति और मैत्रीका सन्देश था, पृथ्वीके उन सब लोगोंके लिए प्रोत्साहन था जो जाति और राष्ट्रके संकीर्ण बन्धनोको तोडकर मानवताके हितमे विश्वास रखते है और भारतकी सुषुप्त आत्माके लिए उद्बोधनका आह्वान था। उनके अन्तिम शब्द यह थे: "मैंने कांग्रेसका साथ देनेका वचन दिया है। कांग्रेस या तो काम करेगी या मर जायगी"। इन्ही शब्दोसे आन्दोलनको उसका प्रसिद्ध नारा मिला: "करो या मरो"।

महात्माजीने यह भी बतला दिया कि उनका विचार तत्काल आन्दोलन छेडनेका नही है। वह एक बार वाइसरायसे मिलने और, यदि यह न हो सका तो, उनको पत्र भेजनेका यत्न करेंगे और आन्दोलन आरम्भ करनेके पहिले उनके उत्तरकी प्रतीक्षा करेंगे, चाहे इसमें दो-तीन सप्ताह लग जायँ।

परन्तु वाइसरायसे सम्पर्क स्थापित करनेका अवसर ही नहीं आया। सरकार इस बातके लिए तैयार नही थी कि विद्रोही सेनानायक अपनी सेनाका सघटन करे और देशके कोने-कोनेमें अपने आदेश भेज सके। ९ अगस्तका सवेरा होते-होते न केवल वर्किंग कमेटीके सदस्य परन्तु चुन-चुनकर प्राय: सभी प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिये गये। जो लोग बम्बईसे चल चुके थे वह मार्गमे पकडे गये, शेष अपने घरोंपर। मै पुलिसको घरपर ही मिला। दूसरे दिनतक इन गिरफ्तारियोंका समाचार देश-विदेशमे सर्वत्र फैल गया।

सरकारका जाल बडी बुद्धिमानीसे बिछाया गया था, किसीका उसमेसे निकल जाना प्राय. असम्भव था। बहुत लोग तो बिना परिश्रमके बम्बईमे ही मिल गये। किसी प्रकारके आदेश नीचेकी कमेटियोतक पहुँच नही पाये थे। कुछ लोग अपनी बुद्धिके अनुसार भले ही थोडा-बहुत प्रयत्न करे परन्तु ऐसी असघटित कारखाइयोंसे सरकारको कोई चिन्ता नहीं थी। जिस तत्परतासे सारा काम हुआ था उसके लिए सरकार अपने कर्मचारियोको बधाई दे सकती थी।' आन्दोलनका जल्द ही कुचल दिया

जाना निश्चित था।

सरकारसे एक छोटी-सी भूल हो गयी। गिरफ्तारीके समय पुलिसको जो कागजात मिले उनसे सरकारको ज्ञात हो गया कि गान्धीजी आन्दोलन-को किस प्रकार चलाना चाहते थे। श्री ऐमरीने पार्लियामेण्टमें इन बातों-का विस्तारसे चर्चा किया। भारत सचिवका भाषण था, रोका नहीं जा सकता था, सभी समाचारपत्रोंमें छप गया। परिणाम यह हुआ कि जो आदेश कांग्रेस नेता नहीं भेज सके थे उनको सरकारने कृपा करके स्वयं घर-घर पहुँचा दिया। हमको इस राजनीतिक भूलके लिए श्री ऐमरीकी स्वर्गस्थ आत्माके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये।

आन्दोलन छिडा। शतरंजके इस खेलमे पहिली चाल सरकारकी थी। गिरफ्तारियोंके बाद सरकारने समझा था कि दो-तीन चालोंमें कांग्रेस-की बाजी मात हो जायगी। परन्तु जो कुछ हुआ उसने उसको अचम्भेमें डाल दिया। उसको स्वप्नमें भी ऐसी कल्पना नहीं हो सकती थी। वह कांग्रेसके आन्दोलनका अर्थ यही जानती थी कि लोग जेल जानेका यत्न करेंगे। इस वारकी काट उसके पास थी। कांग्रेसके नामपर कुछ और भी हो सकता है इसे वह सोच न सकी। सच तो यह है कि आन्दोलन-की गतिविधिसे कांग्रेसके नेताओंको कम अचम्भा नहीं हुआ। व्यापक अहिंसात्मक जनान्दोलन छेड़नेका निश्चय करके प्रत्येक पुरुष और स्त्री-को अपनी बुद्धिके अनुसार काम करनेकी छूट देते समय उनको यह अनुमान भी नहीं था कि इस अनुमतिका किस प्रकार उपयोग किया जायगा।

अहिंसाके आदेशका पालन हुआ कमसे कम कर्मणा। किसी अंग्रेज-को आघात नहीं पहुँचाया गया, किसीकी सम्पत्ति नहीं लूटी गयी, किसी अंग्रेज महिलाके साथ अनाचार नहीं हुआ। परन्तु अहिंसा व्यक्तियोंतक ही सीमित थी। सरकारी सम्पत्तिको लूटने या नष्ट-भ्रष्ट करनेमें किसीको संकोच नहीं था। यदि कहीं सरकारी आदमियोंने विरोध किया तो उनके साथ निर्मम कड़ाई बरतनेमें भी लोगोंको हिचक नहीं थी।

चुपचाप जेल चले जानेकी नीतिमे तो लोगोको स्वारस्य नहीं रहा था परन्तु कौन-सी नयी नीति अपनायी जाय, इसका कोई प्रामाणिक निश्चय नहीं हुआ था। लोकबुद्धिने इस प्रश्नको स्वय सुलझा लिया। पुराने काग्रेसजनके लिए नयी रणनीति सचमुच नयी थी। जेलमे आनेवाले नये योद्धाओसे उसका परिचय मिला, उसकी सफलताके समाचार तिकडमसे आनेवाले समाचारपत्रोंसे मिलते थे। एक बार तो समझनेमे दिक्कत हुई। पर हम उसकी निन्दा नहीं कर सकते थे। सरकारने जैसी परिस्थिति उपन्न कर दी थी उसमे जनान्दोलनका ऐसा ही रूप हो सकता था। रेलकी लाइनोको बेकार कर दिया जाता था। काशीके पास तो कही-कही मीरजापुरकी पत्थरकी खानोसे लेकर डाइनेमाइटको भी इस काममे लाया गया। परन्तु रेलयात्रियोकी रक्षाका बराबर ध्यान रक्खा गया। पहिलेसे सूचना दे दी जाती थी कि इस लाइनपर गाडी न लायी जाय। कही-कही एजिनपर काग्रेसका झडा लगाकर ट्रेन अगले स्टेशनतक पहुँचा दी जाती थी। कई रेलवे स्टेशन जला दिये गये, कई गिरा दिये गये। तारके खम्भोको गिरा दिया गया, तार काट दिये गये। पुलिसकी चौकियों और थानोपर काग्रेसके झडे चढा दिये गये। कई जगहोमे थोडी देरके लिए अग्रेजी राज उठ-सा गया। इसका सबसे बडा उदाहरण बलिया जिलेमें देखनेमे आया। एक सप्ताहतक अग्रेजी शासन रहा ही नही। सरकारी अधिकारियोने कन्धे डाल दिये। जेल खोल कर राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिये गये। बलियामे शासन उन दिनो स्वर्गीय पण्डित चित्तू पाण्डेयके इशारेपर चलता था। कहीं-कही उत्साहमे गलत काम भी हुए। मेरी समझमे डाकखानोके काममे बाधा डालना और लेटर बक्सोको जलाना उचित नहीं था।

यह सब हो रहा था पर देशमें अराजकता नही थी। लोगोंके जीवन-क्रममे बाधा नही पडी। आश्चर्य, कुतूहल था, उल्लास था, परन्तु डर नही था, चिन्ता नहीं थी। ऐसे काम काग्रेसके मुट्ठीभर सघटित स्वयसेवक नही कर सकते थे। खुला निमन्त्रण था, जो चाहे बहती गगामे हाथ धो ले।

अराजकता न होनेका सबसे बडा प्रमाण यह था कि अपराधोमें वृद्धि होनेके स्थानपर कमी हो गयी। राष्ट्रीय युद्धने ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया कि कुछ कालके लिए चोर-डाकू भी अपने व्यापारसे विरत हो गये। कहीं साम्प्रदायिक उपद्रव भी नही हुआ। मुसलिम लीग भी चुप बैठी थी। लिबरल नेता कभी तो काग्रेसकी आलोचना कर देते, कभी सरकारकी ज्यादतियोकी भर्त्सनामे चार शब्द बोल देते। यही उनकी इतिकर्तव्यता थी।

सरकारने इस आन्दोलनको दबानेमे कोई बात उठा नही रखी। यह स्वाभाविक ही था। उसके लिए जीवन-मरणका प्रश्न था। महायुद्ध हँसी-खेलकी चीज न था। ऐसी स्थितिमे सरकारका कठोर दमननीति अपनाना अप्रतीक्षित नहीं था। जिन लोगोने आन्दोलनमे भाग लिया था वह हथेलीपर प्राण रखकर काम कर रहे थे। वह जानते थे कि इस बार सरकार किसी प्रकारकी रियायत नहीं करेगी। हुआ भी यही, सरकार भारतीयोको अपनी प्रजा कहती थी, पर जहाँ-जहाँ आन्दोलनने जोर पकडा वहाँ-वहाँ जनताके साथ जैसा बर्बर वर्ताव हुआ वैसा शत्रु देशके निवासियो-के साथ भी नही होता। मुकदमे भी चलते थे, कडी सजाएँ दी जाती थी और अपीलका अवसर देनेके पहिले ही कार्यान्वित कर दी जाती थी। खुले मैदानमे बेत लगाना कानूनमे मना है परन्तु न जाने कितनी जगह ऐसा किया गया। बस्तियोपर सामूहिक जुरमाने हुए, गोलियाँ चलीं। आज आसाममें महीनोसे नागोका उपद्रव जारी है पर उनपर ऊपरसे बम नही फेंके गये। ब्रिटिश सरकारने कई बार यह भी किया। इन बातोका चर्चा कुछ विस्तारसे अगले अध्यायमें होगा।

यो तो हर व्यक्तिको अपनी बुद्धिके अनुसार काम करनेका अधिकार दे दिया गया था, फिर भी कुछ संघटित चेष्टाकी आवश्यकता तो थी ही। इसके सिवाय यह भी आवश्यकता थी कि एक जगहका समाचार दूसरी जगह पहुँचता रहे। सरकार बहुत-सी बातोको छिपाती थी, छपने नही देती थी। कहाँ क्या हो रहा है इसको जाननेसे प्रोत्साहन मिलता था।

कार्यकर्ताओंने इन सब बातोका भी प्रबन्ध कर लिया। कई स्थानोसे 'रणभेरी', 'दुन्दुभी' ऐसे नाम देकर एक-एक दो दो पेजके पत्र निकलने लगे कहाँ छपते थे कोई नहीं जानता। बाजारमे खूब बिकते थे। पुलिसको उनका पता नही चलता था, जनता भी उसकी इस असफलताका मजा लेती थी। डाकखानेमे उन सब लोगोके पत्र खोल लिये जाते थे जिनके ऊपर आन्दोलनसे सम्बद्ध होनेका सन्देह होता था। पढकर फिर बन्द कर दिये जाते थे पर यह काम इतनी लापरवाहीसे होता था कि दूसरी बार फाड़कर खराब किये बिना पत्र निकलता ही न था। इस समयकी एक रोचक कहानी याद आती है। डाकखानेकी लापरवाहीसे ऊब कर श्री रफी अहमद किदवाईने एक युक्ति निकाली। अपने नाम एक लिफाफा डाला। यह निश्चय तो था ही कि वह खोल लिया जायगा। भीतरका पत्र 'प्रिय श्री सेंसर'के नाम था। सेंसर उस अधिकारीको कहते है जो पत्र खोलकर पढा करते हैं। उनको लिखा गया था कि 'मै जानता हूँ कि यह पत्र आपके हाथमें जायगा। आप हमारे खत पढे इसमे मुझे कोई आपत्ति नहीं है। यदि कोई गोपनीय चीज भेजनी होगी तो इसके लिए हमारे पास दूसरे साधन हैं। आपका यह उद्देश्य नही हो सकता कि हमारे पत्र कामके ही न रह जायँ। आप कृपया उनको इस प्रकार चिपकाया करें कि उनको खोलने और पढनेमे अनावश्यक असुविधा न हो।' इसका एक तो प्रत्यक्ष फल हुआ। श्री किदवाईके पत्र अच्छी दशामे आने लगे।

डाकसे पत्र मिलनेके लिए प्रायः हर शहरमे कई 'कवर' थे। यह ऐसे लोग थे जिनका राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नही था। इनमे कुछ तो सरकारके भी कृपापात्र थे। इनपर पुलिसको भी सन्देह नही हो सकता था। इनके पतेसे पत्र मँगाये जाते थे। एक 'कवर'को दूसरेका पता नही होता था, इसलिए यदि किसी प्रकार एकका भेद खुल भी जाय तो दूसरो-पर आँच नही आ सकती थी। इसके अतिरिक्त हमारे चलते-फिरते डाकखाने भी थे। कुछ कार्यकर्ता बराबर घूमते रहते थे। इनको भेष भी बदलना पडता था। कुछ तो कोट-पतलून पहिनकर शुद्ध अंग्रेजी ठाटमे निकलते

थे। यह लोग समाचार और सन्देश वहन करते थे, स्थानीय कार्यकर्ताओंको ऊपरके आदेश पहुँचाते थे। आन्दोलनके सञ्चालनमे परामर्श देते थे। सरकार इनमेसे कुछ लोगोकी गतिविधिसे परिचित थी पर इनको पकड न पाती थी। सच तो यह है कि इस आन्दोलनकी सफलताका बहुत बडा श्रेय जनताकी सक्रिय सहानुभूतिको है। इतना बडा जनान्दोलन छिपकर नहीं चल सकता था। बहुत-से लोग हमारे गुप्त स्थानोको जानते थे, हमारे कार्यकर्ताओंको पहिचानते थे। परन्तु कोई मुँह नहीं खोलता था। इतना ही नहीं, यदि हमारे काममे कोई त्रुटि देख पडती तो लोग चुपकेसे बता जाते।

उस शानदार आन्दोलनका इतिहास अधूरा ही रह जायगा यदि कम्युनिस्ट पार्टीकी काली करतूतका चर्चा न किया जाय। ऐसा लगता है जैसे अपने जन्मसे ही इसने भारतके हितोंको क्षति पहुँचानेका बीडा उठा लिया है। १९३२ मे पार्टीकी अवस्था सद्योजात शिशु जैसी थी। फिर भी उसने पर तौले और बम्बईके श्रमिकोपर उसका जो प्रभाव था उसका उपयोग उस समयके आन्दोलनमे बाधा डालनेमे किया। १९४२ मे उसकी शक्ति बढ गयी थी। इस बार वह खुल खेली। युद्धके पहिलेतक ब्रिटेनको गाली दी जा रही थी। उसकी साम्राज्यशाही नीतिकी निन्दामे जो कुछ कहा जाय थोडा था। युद्ध छिडते ही हवा बदल गयी। ब्रिटेन रूसका मित्र हो गया। फिर क्या था। उसके विरुद्ध जो कुछ शिकायत थी सब भुला दी गयी। उसकी प्रशसाके पुल बाँध दिये गये। भले ही चर्चिलने कहा हो कि युद्धके बाद भी साम्राज्य ज्योका त्यो रहेगा, भले ही भारतीय जनताको किसी प्रकारका अधिकार देनेसे इनकार कर दिया गया हो, भले ही पदे-पदे उसका अपमान किया जा रहा हो, परन्तु कम्युनिस्ट पार्टी ब्रिटिश सरकारका सबसे बडा समर्थक बन गयी। युद्ध साम्राज्यशाही युद्धसे लोकयुद्ध, जनताका युद्ध, में बदल गया। जनतासे अपील की जाने लगी कि इस युद्धमे आँख बन्द करके सरकारका साथ देना उसका परम कर्तव्य है। कांग्रेसी नेता जेलमें थे,

कोई दूसरा दल कार्यक्षेत्रमे था नहीं, कम्युनिस्ट पार्टीने श्रमिकोके असन्तोषको दबाया ताकि कही हडताल न हो जाय और सरकारके काममे बाधा न पडे। 'करो या मरो' आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। पार्टीने उसका खुलकर विरोध किया। जेलमे पडे बडेसे बडे नेताओको देशद्रोही-की उपाधि दी गयी। कम्युनिस्ट पार्टीकी सरकारपरस्ती यहॉतक पहुँची कि गुप्त रूपसे काम करनेवाला काग्रेसजन पुलिसकी ओरसे जितना सशक नहीं रहता था उतना कम्युनिस्टसे घबराता था। पार्टीने विभीषणकी कथा पूर्णतया चरितार्थ कर दी। इसमे कोई सन्देह नही कि हमारे बीचमे इस दलके अस्तित्वसे ब्रिटिश सरकारको बडी सहायता मिली। जो लोग पराये देशके हितके लिए अपने देशके हित और सम्मानको धूलमे मिलाने-के लिए तैयार हो उनका आदर शत्रु भी नहीं करता। सरकार कम्यु-निस्टोके रग-रगसे परिचित थी, उनकी अविश्वसनीयताको खूब पहिचानती थी परन्तु उनसे काम लेती थी। ऐसा न करना उसकी मूर्खता होती।

हम देखते हैं कि आज कम्युनिस्ट पार्टी देशकी हितैषिताका दम भरती है और उन लोगोकी हॅसी उडाती है जिन्होने देशकी स्वाधीनताके लिए अपना सर्वस्व होम कर दिया है। परन्तु ऊपरी खालभर बदली है, भीतर उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ है। आज भी उसकी दृष्टिमे भारतका स्थान गौण है. विदेशी कम्युनिस्ट उसको अधिक प्रिय हैं। चीनने भारतकी भूमिका कई हजार मीलका टुकडा दबा लिया है। सारा देश इससे रुष्ट है। प्रत्येक आत्मसम्मानी भारतीय कहता है कि अब चीन-का विश्वास नही किया जा सकता, हमको अपनी भूमि वापस लेनी है, परन्तु कम्युनिस्ट पार्टी चीनको आक्रमणकारी नही मानती। उसका सुझाव है कि भूमिकी समस्या बातचीत करके सुलझायी जाय। हमारी सम्पत्ति कोई उठा ले जाय और हम डाका डालनेवालेसे समझौता करे, ऐसा परामर्श वही दे सकता है जिसको न देशसे प्रेम है, न इसके गौरवका खयाल है। पार्टी भले ही लोकतन्त्रके नामकी दुहाई दे परन्तु उसका वास्तविक झुकाव किधर है, इसका अन्दाज तो उस अल्पकालमे ही लग गया जब केरलका

शासन उसके हाथमे था।

१९४२ का आन्दोलन हमारे इतिहासका उज्ज्वल अध्याय है। लोगोने जिस त्याग, जिस धैर्य, जिस सूझ-बूझका परिचय दिया उसकी न हमको आशा थी, न सरकारको आशंका। बूढ़े, जवान और बालक, गृहस्थ और विद्यार्थी, दुधमुँहे बच्चोंको गोदमे लिये नारियाँ वीरताके जिस शिखरपर पहुँची उसकी इसके पहिले किसीको कल्पना भी नही थी। अन्त्यजको समाजमे आदरका स्थान नही है, अपने भगवान्‌के सामने मन्दिरमे जानेका अधिकार नही है, पर देशकी वेदीपर उसने भी अपना सिर रख दिया। यदि हिंसात्मक लडाई होती तो गॉव-गॉवमे स्मारक बन जाते, उनकी तलवारें पीढियोतक उनके घरोमे पूजी जातीं। हमारे शहीद और सैनिक तो कोई संस्मारक नही छोड गये, हम उनके नामतक भूल गये।

आन्दोलन अनन्त कालतक नहीं चल सकता था। जहॉ वर्षामे जलसे उन्मत्त उत्ताल तरगे देख पडती थीं वहॉ पानी रुक-रुककर बहने लगा, धीरे-धीरे गति बन्द हो गयी। यह अनिवार्य था। हमारे कार्यकर्ता वेतनभोगी सैनिक नही थे। उनको अपनी घर-गृहस्थी भी चलानी थी। लोग माफी मॉगकर घर नही आये, परन्तु जेलसे बाहर आकर फिर नही गये। सरकारकी चिन्ता दूर हुई। आन्दोलन दब गया परन्तु देशके हृदयपर क्रोध, असन्तोष और इच्छाभिघातकी जो गहिरी लकीर खिच गयी उसे मिटाना तलवारके बसकी बात नही थी। स्त्रियोके माथेका सिन्दूर पुँछ गया था, गोदे सूनी हो गयी थीं, घरोके दीपक बुझ गये थे—यह ज्वाला आकाशतक पहुँच रही थी और विदेशी शासनके विरुद्ध रौद्री शक्तिके चरणोंमे अपील कर रही थी।

इस बारके जेल-जीवनमे विशेष प्रकारकी गम्भीरता थी। पुराने-पुराने कार्यकर्ताओकी ऑखे एक जेलसे दूसरे जेल जाते समय डबडबा उठती थी। यह निश्चय नही था कि फिर भेंट होगी या नहीं। काशी जेलमें मुझको समाजवादपर कई व्याख्यान देनेका अवसर मिला। जो

लोग इस व्याख्यानमालामे उत्साहसे सम्मिलत हुए थे उनमे श्री राजनारायणसिह भी थे। आजकल तो शायद उन्होने अपने नाममेसे 'सिह' निकाल रखा है। तुलसीकृत रामायणके वडे भक्त थे। आन्दोलनमे वडे जोशमे काम किया था। आज भी वडी लगन और मेहनतसे काम करते है। उनमे एक वडा गुण यह है कि चेहरेपर जल्दी क्रोधके लक्षण नही देख पडते। इन सव वातोको देखकर मुझे उनकी वर्तमान गतिविधिपर दु:ख होता है। डॉ० लोहियाके पट्टशिष्य है, समाजवादी दलके प्रमुख स्तम्भ है। परन्तु किसी रचनात्मक कामके पास नही जाते। सारा समय परछिद्रान्वेषण और परदोषदर्शनमे जाता है। इसीमे सारी योग्यताका अपव्यय होता है। यह ठीक है कि काम करना कठिन होता है, आलोचनामे कुछ लगता नही। ऐसे लोगोको कवीरके इस दोहेपर मनन करना चाहिये :

बुरा जो ढूँढन मै चला, बुरा न दीखा कोय।
जो ढूँढा दिल आपना, मुझसे बुरा न होय॥

काशीसे मै वरेली वदल दिया गया। जेलका अधिकाश समय यही वीता। मेरे साथियोंमें श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन और स्वर्गीय श्री रफी अहमद किदवाई थे। श्री किदवाईके सम्वन्धमे दो शब्द कहना अप्रासगिक न होगा। मेरा वहुत-सी वातोमे उनसे मतभेद रहता था परन्तु आपसी सम्वन्धमें कभी अन्तर नही आने पाया। अपनी मृत्युके एक दिन पहिले उन्होंने मेरे साथ चाय पी। मेरे यहॉसे ही उठकर स्टेशन गये। दूसरे दिन हृदयगति रुक जानेसे देहान्त हो गया। साम्प्रदायिकता उनमें छूतक नही गयी थी और दूसरोंकी सहायता करनेके लिए उनका हाथ सदा खुला रहता था। शत्रु हो या मित्र, उनके यहॉसे रिक्तहस्त नहीं लौट सकता था। अपने पास पैसा न हो—और ऐसा वहुधा होता था—परन्तु कहीं-न-कहींसे दिला देते थे। उनके विचार भी वहुत उदार थे। कुछ कारणोसे कांग्रेस समाजवादी दलके विरुद्ध थे परन्तु समाजवादी कार्यक्रमकी प्रायः सभी वातोंका समर्थन करते थे। उनके ग्राम मसौलीमें उनका

बहुत सुन्दर मकबरा बन गया है।

जेलके साथियोमे डॉ० ब्रह्मानन्द अग्निहोत्री भी थे। यह प्रेम महाविद्यालयमे मेरे विद्यार्थी थे। बी० एस-सी० की डिग्री लेकर यूरोप चले गये। जर्मनीमे पी-एच० डी० हुए और जर्मनी, आस्ट्रिया तथा जेको-स्लोवाकियामे ही लगभग बीस वर्ष बिताये। युद्ध छिडनेपर भारत लौट आये क्योकि ब्रिटिश प्रजातन्त्र होनेके कारण जर्मनीमे कैद कर लिये जानेका डर था। परन्तु जर्मनीमे बीस साल रहे थे, इसलिए ब्रिटिश सरकारको भी इनपर सन्देह था। इसलिए यहाँ गिरफ्तार कर लिये गये। यह दुःख है कि इनके ज्ञान और अनुभवसे समुचित लाभ न उठाया जा सका।

इस बार भी मेरा समय पढने-लिखनेमे ही कटता था। बरेली जेलमें ही मैंने अपनी दर्शनकी पुस्तक 'चिद्विलास' समाप्त की। साथियोमे टण्डनजी और रफी साहबको शतरजका बहुत शौक था। घण्टो खेला करते। मै तो थोडी देर देखनेके बाद ऊब जाता था। जेलमे ही मुझे गठिया हुई। बहुत-सा उपचार करके हार गया हूँ। अब तो यह समझता हूँ कि इस जीवनमे इस रोगसे छुटकारा नही पाना है।

बरेलीमे तो नही परन्तु काशीमे मेरे साथ बहुत-से नवयुवक थे। इनमेसे अधिकाश विश्वविद्यालयके छात्र थे या रह चुके थे। यह देखकर आश्चर्य और दु:ख होता था कि इनमेसे स्यात् ही किसीको स्वाध्यायका शौक रहा होगा। कई तो समाचारपत्रतक नही पढते थे। मै इन लोगोको बराबर पढनेके लिए प्रेरित करता रहता था। यह प्रसन्नताकी बात है कि प्रायः सबने ही मेरा कहना मान लिया। कुछने मुझसे बतलाया कि कालेज छोडे आठ-दस साल हो गये। इतने दिनोके बाद अब पुस्तकमे हाथ लगाया है। यह हमारी शिक्षापद्धतिका बडा दोष है कि वह ज्ञान-पिपासा नही जगाती। लोग किसी प्रकार परीक्षामे उत्तीर्ण हो जाते है, फिर पुस्तकमे हाथ नही लगाते। जगत्के ज्ञानभण्डारमे नित्य वृद्धि हो रही है परन्तु पढ़ाई समाप्त करनेके बाद हमारा स्नातक उसकी ओर आँख उठाकर नही देखता। यह दुःखका विषय है। ● ● ●

: १७ : श्रद्धाञ्जलि

इस अध्यायमे मै कुछ जिक्र उन उपायोका करना चाहता हूँ जिनके द्वारा सरकारने आन्दोलनको कुचलनेकी और राष्ट्रको हतोत्साह करनेकी चेष्टा की। दमन तो होना ही था पर उस दमनके स्वरूपको ऑखके सामने रखना चाहिये। इन बातोका चर्चा करनेमे मुझे कोई खास मजा नही आता, न मैं अग्रेजोके विरुद्ध क्रोध और प्रतिशोधकी भावना जगाना चाहता हूँ। अग्रेज चले गये, उनके प्रति दुर्भावना रखना भूल है। परन्तु उस सघर्षकालकी विस्मृति भी न होनी चाहिये। यदि हमने सशस्त्र विद्रोह किया होता तो इतिहास इस बातकी साक्षी देता कि कहॉ-कहॉ लडाइयॉ हुईं, कितने हताहत हुए, कौन-कौन सेनापति थे। हमारी लडाई विलक्षण थी। निहत्था राष्ट्र बलशाली सरकारसे लड रहा था। एक विभीषणने लकाके राजाको उच्छिन्न कर दिया, यहॉ न जाने कितने विभीषण थे। सेना और पुलिसमे भारतीय भरे थे। मजिस्ट्रेट बहुधा भारतीय थे, गुप्तचर भारतीय थे, भारतीय जनता ही सरकारकी कोषपूर्ति करती थी। इतिहासके पृष्ठोपर महात्माजी तथा कुछ अन्य बडे नेताओके नाम अकित होगे, उन छोटे आदमियो, उन स्वयसेवको, उन सहस्रो पुरुषो और स्त्रियोका कहॉ चर्चा होगा जिन्होने अपने सर्वस्वकी बाजी लगाकर गॉव-गॉवमे मोर्चा लिया था? उनके ही त्याग और शौर्यने देशको स्वतन्त्र किया। परन्तु न कोई उनका नाम जानता है, न उनकी कीर्तिसे परिचित है। उनका काम कितना कठिन है। शस्त्रधारी सिपाही हार भी जाय तो उसको यह सन्तोष रहता है कि मैने शत्रुसे कुछ तो लोहा लिया,

कुछ तो प्रतिघात किया, परन्तु अहिंसक योद्धाको यह तोष भी नहीं मिलता। उसने अपनी प्रतिज्ञासे स्वयं अपनेको बाँध लिया है। वर्षाके वर्णनमें तुलसीदासजीने लिखा है :

वुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे। खलके वचन सन्त सह जैसे ॥

अहिंसक सिपाही वचन ही नहीं, आर्थिक और शारीरिक आघात भी सहता है पर उफ् नहीं करता।

आजकी नयी पीढ़ीको हमारी राजनीतिक दासताके स्वरूपका अन्दाज नहीं हो सकता, उसको यह नहीं विदित है कि वह जिस स्वाधीनताका उपभोग कर रही है उसके लिए क्या मूल्य देना पड़ा था। यह बातें जाननी चाहिये, तभी इस स्वतन्त्रताकी रक्षा हो सकेगी। कमसे कम अन्तिम युद्धका वृत्त तो जानना ही चाहिये, यद्यपि हमारा सारा संघर्ष त्याग, तपस्या और वीरताकी कहानी है।

सरकारी दमनका प्रश्न केन्द्रीय असेम्बलीमें उठाया गया और उसपर चार दिनतक वाद-विवाद हुआ। किस तरह युवकोंको थप्पड़ों, घूँसों और लातोंसे पीटा गया, उनके पाँवके तलवोंपर बेत लगाये गये, किस प्रकार पुलिस और सेनाने लूटपाट किया और सम्पत्ति नष्ट की, गाँवके गाँव जला दिये, लोगोंसे जबरदस्ती रुपया लिया, भीड़ोंपर हवाई जहाजसे मशीनगन चलायी गयी—इन सब बातोंका चर्चा हुआ। सदस्योंके पास इस प्रकारकी बहुत-सी रिपोर्टें थीं। सरकारकी ओरसे गृह-सचिव, सर रेजिनल्ड मैक्सवेलने लम्बी स्पीच दी। उसका वर्णन सरदार सन्तसिंहने यों किया : 'अर्धसत्य, अयथार्थ और बहुधा झूठसे भरी कहानी'।

मध्यप्रदेशके चिमूर गाँवका काफी चर्चा सुननेमें आता था। पुलिस गिरफ्तारीके लिए गयी थी। गाँववालोंसे झगड़ा हो गया, चार सरकारी आदमी मारे गये। यह बुरी बात थी, कांग्रेसके सिद्धान्तके विरुद्ध थी, सभीने इसकी निन्दा की। परन्तु अधिकारियोंने जिस प्रकार बदला लिया उसने सभी सीमाओंका अतिक्रमण कर दिया। पुलिसको खुली छूट

दे दी गयी कि वह जो चाहे सो करे। और बाते तो हुई ही, कई स्त्रियो-के साथ बलात्कार किया गया। न कोई जॉच हुई, न किसीको दण्ड दिया गया। इसपर प्रोफेसर भसालीने आमरण अनशन किया। सरकारने समाचारपत्रोको आज्ञा दी कि प्रोफेसर भसाली या उनके अनशनका कोई समाचार न छापा जाय। इसपर पत्र-सम्पादकोने यह निश्चय किया कि हम सरकारी परिपत्र, ब्रिटिश मन्त्रियो और भारतके केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासकोके भाषण और नववर्षमे दी गयी उपाधियोंकी सूची न छापेगे। प्रोफेसर भसालीके साठ दिनके अनशनके बाद मध्यप्रदेश सरकारने बलात्कारके मामलोकी जॉच करनेका निश्चय किया। प्रेसपरसे रोक उठा ली गयी। इसपर प्रोफेसर भसालीने अनशन तोड दिया।

बहुत दबाव डालनेपर दमनकालके सरकारी ऑकडे निकले। इनके अनुसार, १९४२ मे अगस्तसे लेकर दिसम्बरतकका ब्यौरा इस प्रकार है :

गिरफ्तारी	६०,२२९
नजरबन्द	१८,०००
पुलिस और सेनाके हाथो मरे	९४०

(लोगोंका खयाल था कि यह सख्या ५००० तक जाती है।)

आहत	१,६३०

सेनासे ६० बार काम लिया गया और पुलिसने ५३८ बार गोली चलायी। निःशस्त्र भीडोंपर पॉच बार मशीनगन चलायी गयी।

किसीने इन ऑकडोंपर विश्वास नही किया।

सरकारी अत्याचारोने ऐसे लोगोको भी क्षुब्ध कर दिया जिनका कांग्रेससे कोई सम्बन्ध नहीं था। सिन्धके प्रधान मन्त्री श्री अल्लाह बख्शने सरकारसे प्राप्त सारी उपाधियॉ लौटा दी। इसपर वह यह कहकर पदच्युत कर दिये गये कि सरकारका उनके ऊपर विश्वास नहीं रहा। बंगालके वित्तमन्त्री डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जीने पदत्याग कर दिया।

सरकारी ऑकडे गलत ही सही, परन्तु उनसे भी उस समयकी परिस्थिति और सरकारी दमनके स्वरूप और उसकी मात्राका अनुमान तो हो ही जाता है। फिर भी मैं अपने जिले, बनारसके सम्बन्धमे अधिक विस्तारसे बताना चाहता हूँ। इससे सरकारी बयानोका झूठापन सिद्ध हो जायगा और इस बातका भी पता चलेगा कि लोगोको क्या कुछ सहना पडा। काशीमे आन्दोलनका बहुत जोर था परन्तु दूसरी जगहोमें, विशेषतः पूर्वी उत्तरप्रदेश और पश्चिमी बिहारमे, न्यूनाधिक सर्वत्र ऐसा ही रहा।

१९४५ मे बनारसकी जिला और शहर कांग्रेस कमेटियोने सरकारी दमनकी जॉच करनेके लिए एक कमेटी नियुक्त की। उसके सदस्य निम्नलिखित थे :

श्री अब्दुल अलीम बी० ए०, एल-एल० बी०, ऐडवोकेट—अध्यक्ष

श्री राजनारायण सिंह } सदस्य
श्री सीताराम जौहरी }

श्री रघुनाथसिह एम० ए०, एल-एल० बी०, ऐडवोकेट, सदस्य और मन्त्री।

कमेटीने सितम्बरमे अपनी रिपोर्ट दी। उसने जितनी सावधानीसे काम किया था उसका अनुमान रिपोर्टकी प्रस्तावनाके इस अवतरणसे मिलता है : "कमेटीने १२७ साक्षियोके बयान लिये है, २१७ व्यक्तियोसे रिपोर्टें प्राप्त की है, ५७ मुकदमोके फैसले पढे हैं, किंग एडवर्ड और हिन्दू विश्वविद्यालयके अस्पतालोसे मृतो और घायलोके नामोको मिलाया गया है। हमने मौकोका मुआइना किया है और छ डिक्टेटरो अर्थात् सर्वश्री दामोदरदास साह, सत्येन्द्रकुमार वसु, शिवदत्त वैद्य, हरिफलसिह, सियाराम और शीतलप्रसाद श्रीवास्तवसे समय-समयपर पूछताछ की है। हमने सरकारी अफसरोसे भी सूचना प्राप्त की है।"

इस अध्यायमे सारी रिपोर्ट नहीं दी जा सकती, कमेटीने एक-एक बात सप्रमाण लिखी है, जिस-जिस घटनाका जिक्र किया है उससे सम्बद्ध व्यक्तियोके पूरे नाम और पते दिये हैं। उस पूरे ब्योरेका भी यहाँ समावेश

नहीं किया जा सकता है। परन्तु ऑकडे पर्याप्त है। यह अंक उस समयकी अमर कहानी पुकार-पुकार कर सुना रहे है :

१. लाठी-चार्ज—		१४ जगह
२. पुलिसकी गोली—		
(क) स्थान		२३
(ख) मृत		१८
(ग) आहत		१७८
(घ) मुठभेडमें पुलिसवाले मृत		३
(ङ) ,, ,, आहत		३
३. पुलिसकी मारसे मृत—		३
४. पीटे गये व्यक्ति—	(बहुधा पेडोसे बॉधकर)	७३
५. स्त्रियोके साथ बलात्कार—(कमसे-कम) ५।	एक जगह रेलवेके वेटिंग रूममे मॉ और बेटीके साथ एक साथ बलात्कार किया गया।	
६. स्त्रियोके साथ दुर्व्यवहार—	सख्या नही दी जा सकती। एक जगह एक स्त्री प्रसवके समय घरसे निकाल दी गयी। खेतमे ही बच्चा हो गया। यमुना दुबेके घरपर धावा हुआ। वह घरपर नहीं थे। पुलिसने एक बच्चेको जलती आगपर उठा लिया और उसको भून डालनेकी धमकी दी। उसकी मॉने गलेमेसे सोनेका गहना निकाल कर दिया तब बच्चेकी जान बची।	

७. खुले आम बेत लगाना—	संख्या नहीं दी जा सकती। कानूनके अनुसार ऐसा नहीं किया जा सकता। कभी-कभी पन्द्रह-पन्द्रह आदमियोंको एक साथ बाँधकर बेंत लगाये गये।
८. मकान ढहाये गये—	(कमसे कम) ४
९. मकानमें आग लगाना—	(कमसे कम) ८
१०. व्यक्तियोंपर तथा गाँवोंपर सामूहिक जुरमाना—	१,८६,८१९
११. जिलेके बाहर निकाले गये—	११७
१२. नजरबन्द	३०६
१३. जेलकी सजा	५५० से ऊपर
१४. कालापानी	१४
१५. फाँसीकी सजा	३

यह तो एक जिलेके आँकडे हैं। इनसे यह अनुमान हो सकता है कि सारे देशके आँकड़े क्या रहे होंगे। इससे बढकर यह बात जानी जा सकती है कि सरकारकी ओरसे कितने झूठे बयान दिये जा रहे थे।

परन्तु आँकडे आँकडे ही हैं। कागजपर खिंची यह जड रेखाएँ हृदय-की वेदनाको, भावनाओंको, भला कहाँ व्यक्त कर सकती हैं। जिस स्त्रीका अमूल्य रत्न, उसका सतीत्व लूट लिया गया उसकी पीडाको दिखानेकी शक्ति किसमें है? जिस कुलवधूका सिन्दूर पुँछ गया उसको कौन सान्त्वना दे सकता है? जिस माँको यह समाचार मिला कि अपने साथियोंके साथ विश्वासघात न करनेके लिए उसके जवान बेटेको गोली मार दी गयी उसकी आँखोंके छलकते आँसुओंको कौन पोंछ सकता है? जिस स्त्रीको (बलात्) नंगी होकर अपने पतिको बेत लगते देखना पडा उसके अपमानका क्या कोई मूल्यांकन हो सकता है? और यह उत्कृष्ट चरित्रबल समाजके नीचेसे नीचे वर्गोंने दिखलाया, ऐसे लोग जिनको समाज छोटा और

अस्पृश्य समझता है। बड़े ही नहीं, बचोंतकने इस परीक्षाकी घड़ीमें मॉके दूधकी लाज रक्खी। शान्तिके साथ पाशव व्यवहारको बर्दाश्त किया परन्तु सिर न झुकाया।

लड़ाई तो समाप्त हो गयी परन्तु इन वीरो और हुतात्माओकी गाथा हमारी अक्षय्य निधि है। इन्होंने भारतकी सुप्त आत्माको जगाया और उसको पुनः उस आध्यात्मिक सम्पत्ति, उस दैवी सम्पत्, उस लोकसंग्रह भावना, का दायाद बनाया जो उसको अपने पूर्वजोसे मिली है। इन्होंने अपनेको धूलिमें मिला दिया परन्तु राष्ट्रध्वजको झुकने न दिया।

हमको एक सबक और सीखना है। जो जुल्म-ज्यादती हुई वह भारतीयोंके हाथो हुई। मुखबिर भारतीय थे, खुफिया पुलिसमे भारतीय थे, गिरफ्तार करने और सजा देनेवाले भारतीय थे, लूटने और आग लगानेवाले भारतीय थे, स्त्रियोकी इज्जत उतारनेवाले भारतीय थे, गद्य और पद्यमें ब्रिटिश राजकी महिमा गानेवाले भारतीय थे। अंग्रेज कुत्तोके सामने टुकड़े फेंककर अपने घरकी रखवाली कराता था। गन्दे काम भारतीय हाथोसे कराता था, स्वयं दूरसे बैठा-बैठा तमाशा देखता था। हमने उनके इन भारतीय पिट्ठुओको देखा है। उनसे क्रोध करके क्या होगा? उनके नाम लेकर भी क्या होगा? मैं उनका चर्चा तो इसलिए कर रहा हूँ कि उनसे सबक लेना चाहिये। विदेशी शासन शासितोके चरित्रको गिरा देता है। जिसका सम्पर्क सरकारसे जितना ही निकटका होता है उसका उतना ही पतन होता है। विदेशी सरकार जिससे काम लेती है उसको निर्लज्ज और स्वदेशवासियोसे पराङ्मुख बना देती है। उस समयके सरकारी अफसरोंमे विश्वविद्यालयोसे ऊँचीसे ऊँची शिक्षा पाये हुए लोग थे परन्तु जिम्मेदारीके पदोतक पहुँचते-पहुँचते वह सारा चरित्र खो बैठे थे। स्वाधीनता, नागरिक अधिकार, क्रान्ति, इन विषयोपर बहुत-सी पोथियाँ पढ़ी थीं, घण्टो व्याख्यान दे सकते थे, परन्तु यह सब सिद्धान्त अपने देशके लिए नहीं थे, यों यह लोग भी अपनेको देशभक्त कहते थे। गुलाम अपने स्वामियोके ठोकर खाता रहता है: दूसरोको अपमानित करनेमे ही उसके चित्तको

कुछ शान्ति मिलती है। मैं जानता हूँ कि कुछ सरकारी आदमियोंके लिए उस परिस्थितिमें काम करना असम्भव हो गया। वह अपने राष्ट्रीय आत्मसम्मानको कुचलनेमें असमर्थ रहे और अपने भाइयोंपर अत्याचार करनेमें ग्लानिका अनुभव करने लगे। उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। वह हमारे आदरके पात्र हैं।

हमारा कर्तव्य है कि अपने वीर कार्यकर्ताओंके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करें और प्राणपनसे उस स्वाधीनताकी रक्षा करें जो हमको उनके प्रसादके रूपमें मिली है। इसका बहुत मूल्य देना पड़ा है, कहीं प्रमादसे हम इसे खो न बैठें। परतन्त्रता, विदेशी शासन,के भयावह परिणामोंको भी सतत सामने रखना है। यह देश महान् है। इसका बोझ उन्हीं लोगोंके कन्धे वहन कर सकते हैं जिनका चरित्र महान् है। ● ● ●

: १८ : आइ० एन० ए०—भारतीय राष्ट्रीय सेना

आइ० एन० ए० के नामसे विख्यात इण्डियन नैशनल आर्मी, भारतीय राष्ट्रीय सेनाका इतिहास १९४२ के इतिहासका अग है परन्तु उसको पृथक् अध्याय देना उचित प्रतीत होता है।

अंग्रेज साम्राज्यके अन्तर्गत होनेके बाद भारतका अन्ताराष्ट्रीय अस्तित्व मिट गया। कुछ बडे राज्योसे अग्रेजोकी जो सन्धियाँ हुई थी वह वैसी ही थीं जैसी कि बराबरके स्वतन्त्र देशोमे होती है पर वह कागज पुराने हो गये थे। अग्रेज देशके अधिपति हो गये थे। बराबरीका नाम लेना बेकार था, भारत सरकारने घोषित कर दिया था कि इन राज्यो और अधिपतिके बीचमे जो सम्बन्ध था उसमे अन्ताराष्ट्रीय विधानके सिद्धान्त नही लागू होते। किसी राजा-नवाबको आपत्ति करनेका साहस न हुआ।

एक बार एक प्रश्न उठा था जो अन्ताराष्ट्रीय विधानकी परिधिमे आ सकता था। १९०७ मे सावरकर इग्लैण्डसे गिरफ्तार करके भारत लाये जा रहे थे। जब जहाज मार्सेल्ज पहुँचा तो वह समुद्रमे कूद पडे और तैर कर किनारे आ गये। फ्रेंच भूमिपर पाँव रखते ही वह मुक्त हो गये और राजनीतिक आश्रयके अधिकारी हो गये। यदि ब्रिटिश सरकार उनको चाहती थी तो उसे फ्रासकी गवर्नमेण्टको लिखना पडता, मामला फ्रेंच मजिस्ट्रेटके सामने पेश होता और यदि वह आज्ञा देता तो सावरकरका प्रत्यर्पण होता। यह सब कुछ न हुआ। जहाजके कप्तानके कहनेपर एक पुलिसवालेने सावरकरको पकडकर हवाले कर दिया। अन्ताराष्ट्रीय

व्यवहारकी इस अवहेलनाका काफी चर्चा रहा, परन्तु एक यूरोपियन राष्ट्रके रंगीन नागरिकके लिए फ्रेंच सरकारको अधिक चिन्ता नहीं थी। उसने बात आगे नहीं बढ़ायी।

प्रथम महायुद्धके बाद जो सन्धिपत्र लिखा गया उसपर भारतीय हस्ताक्षर भी मिलेंगे। राष्ट्रसघके संस्थापकोंमें भी भारतीय थे। पर वह भारतके प्रतिनिधि नहीं थे, भारत सरकारने इनको अपनी ओरसे नियुक्त कर रक्खा था। इससे किन्हीं भारतीयोका जी भले ही खुश हो गया हो परन्तु भारतको राष्ट्रोंके बीचमें कोई स्थान नहीं मिला।

आइ० एन० ए० की बदौलत भारतके राजनीतिक जीवनमें अन्ताराष्ट्रीय सिद्धान्तोका पहिली बार प्रवेश हुआ। इस सेनाके जन्मदाता श्री सुभाषचन्द्र बोस थे। उनको सुभाष बाबू कहा करते थे। पीछेसे नेताजीके नामसे ख्याति हुई। यह दुर्भाग्यकी बात है कि सुभाष बाबू और कांग्रेसके बडे नेताओंमें बराबर तीव्र मतभेद रहा। जवाहरलालजीपर महात्माजीको जितना विश्वास था उतना और किसीपर नहीं था, परन्तु ऐसे भी लोग थे जो ऐसा मानते थे कि जवाहरलालसे सुभाष अधिक योग्य थे। कभी-कभी उनके बयान नेताओंको दिक्कतमें डाल देते थे।

१९३९ में वह कांग्रेस अध्यक्षपदके लिए खडे हुए। उनके प्रतियोगी डा० पट्टाभि सीतारामैयाको महात्माजीका समर्थन प्राप्त था। महात्माजीने स्पष्ट कह दिया कि सुभाषको वोट देना मुझमें अविश्वास प्रकट करना है। यह गम्भीर बात थी। महात्माजीपर सबको विश्वास था, परन्तु यह भी साफ प्रतीत होता था कि सुभाष बाबूके साथ अन्याय हो रहा है। यह हमको अच्छा नहीं लगा। मैं स्वयं उनका समर्थक था। वह चुनावमें जीत गये। परन्तु उनके साथ फिर भी उदारताका व्यवहार नहीं हुआ। महात्माजी और दूसरे बडे नेताओंने उनसे असहयोग कर दिया। उन लोगोंने कहा कि हमारा इनसे मतभेद है, इसलिए हम इनके साथ काम करनेका दायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकते। सुभाषको तेज ज्वर आ रहा था, परन्तु यहाँतक कहा गया कि वह बहाना कर रहे हैं। इस

वातावरणमे उनके लिए काम करना असम्भव हो गया। वर्किंग कमेटी न बन सकी। सिवाय अलग हो जानेके और कोई उपाय नही था। उनकी जगह राजेन्द्र बाबू स्थानापन्न अध्यक्ष चुने गये। इस प्रकार जिस व्यक्तिको बहुसख्यक काग्रेसजनने अपना विश्वासपात्र घोषित किया था और अध्यक्ष चुना था उसको काम करनेका अवसर नही दिया गया। इस घटनासे लोकमतपर अच्छा प्रभाव नहीं पडा।

मई १९३९ मे उन्होने 'फारवर्ड ब्लॉक' बनाया। इसके कुछ ही दिन बाद उनके विरुद्ध अनुशासनभंगकी कारखाई की गयी। आरोप यह था कि उन्होने स्थानापन्न अध्यक्षकी कुछ आज्ञाओका उल्लंघन किया था। वह बगाल प्रादेशिक काग्रेस कमेटीके अध्यक्षपदसे पृथक् कर दिये गये और यह भी आज्ञा हो गयी कि तीन सालतक काग्रेसमे किसी पदपर न रह सके। इस दण्डकी प्रतिक्रिया भी अच्छी नही हुई। लोगोंको ऐसा लगा कि बदलेकी भावनासे ऐसा किया गया। उनकी प्रतिष्ठामे और चारचॉद लग गये। इसके बाद ही उन्होने सारे देशका दौरा किया। दौरा बहुत ही सफल रहा। सर्वत्र उनका आदर हुआ। लखनऊमे वह तीन दिनतक मेरे साथ ठहरे थे।

२ जुलाई १९३९ को वह गिरफ्तार किये गये। २५ नवम्बर सन् १९४० को उन्होने अनशन आरम्भ किया। इस सम्बन्धमें उन्होने गवर्नमेण्टको जो पत्र लिखा था उसका यह वाक्य स्मर्तव्य है : "जीवनमें इससे बढकर और क्या बात हो सकती है कि मनुष्य अपने लक्ष्यकी वेदीपर अपनी बलि दे दे? यह आत्माकी प्रक्रिया है। व्यक्तिको अपने प्राण देने होगे ताकि राष्ट्रको स्वतन्त्रता और विभुति प्राप्त हो।" जब उनका स्वास्थ बिगडने लगा तो ५ नवम्बरको उनको छोड़ दिया गया। जेलसे आनेके बाद उन्होंने अपनेको सारे सार्वजनिक कामोंसे अलग कर लिया। बराबर अपने कमरेमे ही रहते थे। यह बात प्रसिद्ध हो गयी कि वह इन दिनों किसी कठोर साधनामे लगे हुए है। कुछ मित्र उनसे १६ जनवरी १९४१ को मिले थे। इसके बाद किसीसे भेंट नही हुई। २९ जनवरीको पता

चला कि वह लापता है।

भारतके वर्तमान इतिहासमे सुभाष बाबूके इसके बादके जीवनके इतिवृत्तके जोडकी दूसरी कहानी नही मिल सकती। उसको पढकर उस जमानेकी स्मृति जाग उठती है जब शिवाजी औरंगजेबकी कैदसे निकलकर अनेक साहसिक चेष्टाओके बाद स्वदेश पहुँचे थे।

ज्यो ही उनके गायब होनेका पता चला, देशमे सभी रेलवे स्टेशनो और पुलिस चौकियोको सतर्क कर दिया गया, पर वह इस जालमेसे निकल ही गये। १८ जनवरीको पेशावर पहुँचकर उन्होने पठानके वेशमे अफगानिस्तानमे प्रवेश किया। छ सप्ताहतक काबुलमे रहनेके बाद वह रूस गये। २७ मार्चको मॉस्को पहुँचे और दूसरे ही दिन हवाई जहाजसे बर्लिन आ गये। यहाँ जर्मनीमे वह लगभग दो साल रहे। यही राष्ट्रीय सेनाकी नीव पडी। जर्मनीमे जो भारतीय युद्धवन्दी थे उनके सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि आप लोग राष्ट्रीय सेनामें भरती होकर जर्मनीकी सहायता कीजिये, फिर युद्ध समाप्त होनेपर जर्मनी भारतको स्वतन्त्र करनेमे आपकी सहायता करेगा। ऐसा ही प्रस्ताव जापानमे भारतीय युद्धवन्दियोसे किया गया। काफी लोग इस बातके लिए तैयार हो गये। भारतीय सैनिक अपनी अवस्थासे प्रसन्न नही थे। वह जिस स्वतन्त्रताके नामपर लड़ाये जा रहे थे वह उनके देशको नहीं मिलने वाली थी। दूसरे देशोके सिपाहियोसे यह लोग ऑख नही मिला सकते थे। वह लोग अपने-अपने देशके लिए लड रहे थे, भारतीय केवल पैसेके लिए।

राष्ट्रीय सेनामे भरती होनेके आह्वानने इन लोगोको अपनी ग्लानि दूर करनेका अच्छा अवसर प्रदान किया। इन्होने अपने सैनिक अनुभवको अपने देशको अर्पित करनेका निश्चय किया। सेनाके सघटनके प्रबन्धके लिए जापानमे इण्डेपेण्डेस लीग—स्वाधीनतासघ—स्थापित किया गया। यह लोग जिस कदमको उठाने जा रहे थे उसकी गम्भीरताको खूब समझते थे। शस्त्रास्त्र जापानसे ही मिलने थे। इस सहायताका वह अनुचित

लाभ न उठा सके, इस बातका निरन्तर ध्यान रखना था। यह भी स्पष्ट था कि अंग्रेज यह प्रचार करेंगे कि यह नमकहराम सिपाही तो है ही, भारतमें जापानी राज कायम कराना चाहते हैं। २८ से ३० मार्चतक तोकियोमें एक कान्फरेंस हुई। इसके सभापति प्रसिद्ध क्रान्तिकारी रास-बिहारी बोस थे, जो कई सालोंसे जापानमें ही रहते थे। उसमें यह घोषित किया गया कि इस आन्दोलनका उद्देश्य 'बिना किसी दूसरे राष्ट्रके आधिपत्य, हस्तक्षेप या नियन्त्रणके, पूर्ण स्वाधीनता' है। यह भी निश्चय किया गया कि भारतके विरुद्ध जो भी सैनिक काररवाई की जाय उसे भारतीय अफसरोंके अधीन भारतीय राष्ट्रीय सेना ही करे। स्वाधीनता-सघकी कार्यसमितिकी विशेष अभ्यर्थनापर जापानी स्थल, जल या वायु-सेना इस काममें सहायता दे सकती है। स्यामकी राजधानी बंकाकमें जून १९४२ में एक कान्फरेंस हुई। उसमें निश्चय हुआ कि जापान सरकारसे अनुरोध किया जाय कि इस अभियान तथा भारतके प्रति उसकी जो नीति हो उसका स्पष्टीकरण कर दे। स्वाधीनतासघका बराबर यह प्रयत्न रहा कि जापान सरकार उसको अपने राज्यविस्तारका साधन न बना ले। उसने सेनाको बर्मा भेजनेसे इनकार कर दिया, जब-तक कि जापान सरकार अपनी नीतिका स्पष्टीकरण न कर दे। इस बातसे रुष्ट होकर जापानियोंने दो प्रमुख भारतीय नेताओ, जनरल मोहन-सिंह और कर्नल गिलको कैद करके तनहाईमें बन्द कर दिया। उन्होने सघका बल क्षीण करनेको एक दूसरी भारतीय सस्था भी खडी करनी चाही। परन्तु उनके प्रयास विफल हुए। अन्तमें उन्होने जर्मन सरकारसे अनुरोध किया कि सुभाष बोसको एशिया आनेकी अनुमति दी जाय। वह २ जुलाई सन् १९४२ को सिंगापुर पहुँचे और ४ जुलाईको स्वाधीनता-सघके अध्यक्ष चुने गये।

उनके आते ही काम जोरोंसे चल पडा। आन्दोलनको सुसघटित किया गया और सेनाका प्रशिक्षण आरम्भ हुआ। २२ अगस्त १९४३ को डॉ० लक्ष्मीके अधीन 'झाँसीकी रानी' नामसे स्त्रियोकी पलटन खडी की

गयी। इसने बहुत अच्छा काम किया। सैनिकोंकी शुश्रूषाका काम इसके सुपुर्द था। १९४५ में इसे तोड दिया गया।

आइ० एन० ए० का प्रसिद्ध नारा था 'दिल्ली चलो'। सेनाको सम्बोधन करते हुए सुभाषने एक अवसरपर कहा था : "मुझे विश्वास है कि मैं तुम्हारे साथ अँधेरेमें और उजालेमें, सुखमें और दुखमें, कष्टमें और विजयमें बराबर रहूँगा। इस समय तो मैं तुमको भूख, प्यास, कष्ट और मृत्युके अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकता। भारतको स्वतन्त्र देखनेके लिए हममेंसे कौन जीता रहेगा, इसका कोई महत्त्व नहीं है। इतना ही पर्याप्त है कि भारत स्वतन्त्र होगा और उसको स्वतन्त्र करनेके लिए हम अपना सर्वस्व न्योछावर कर देंगे। ईश्वर हमारी सेनाको आशीर्वाद और विजय प्रदान करे। आनेवाले युद्धके अन्तमें हमारी ही विजय होगी। हमारा काम तबतक समाप्त न होगा जबतक हममेंसे जो लोग बच रहेंगे वह ब्रिटिश साम्राज्यके श्मशान, दिल्लीके लाल किलेमें जाकर परेड न कर लेंगे।"

आजाद हिन्दकी अस्थायी सरकार २१ अक्तूबर १९४३ को स्थापित हुई। उसके प्रमुखके नाते नेताजीने सबसे पहिले भारतके प्रति इन शब्दोंमें निष्ठाकी शपथ ली : "ईश्वरके नामपर मैं यह पवित्र शपथ लेता हूँ कि भारतको मुक्त करनेके लिए मैं अपनी अन्तिम साँसतक स्वाधीनताके इस पवित्र युद्धको जारी रखूँगा।" नयी सरकारको जर्मनी और जापानने तत्काल स्वीकृति दे दी और जापानकी सरकारने बंगालकी खाड़ीके अण्डमान और निकोबार टापू इनको हस्तान्तरित कर दिये। इनको 'शहीद द्वीप' और 'स्वराज द्वीप' नाम दिये गये। इस सरकारकी स्थापनासे प्रसन्नताकी जो लहर उठी उसका अनुमान इसी एक बातसे हो सकता है कि दक्षिणपूर्व एशियामें रहनेवाले भारतीयोंने चन्दा करके ८ करोड रुपया इसको भेंट किया।

इस सेनाने क्या-क्या काम किया, इसका ब्योरा देनेकी आवश्यकता नहीं है। वह भारतकी सीमातक पहुँची, पर इसके आगे न बढ सकी।

जापानसे शस्त्रास्त्रके रूपमें जिस सहायताकी आशा थी वह पूरी न हुई। जर्मनी हार चुका था, हिरोशिमापर परमाणु बम गिरनेके बाद जापानने भी हथियार डाल दिये। आइ० एन० ए० को भी अगत्या हथियार रख देने पड़े। नेताजीकी मृत्यु वायुयामदुर्घटनासे बतायी जाती है, परन्तु उनके भक्तोंमें अब भी ऐसे लोग हैं जिनका यह विश्वास है कि वह अभी जीवित हैं और एक दिन भारतका फिरसे नेतृत्व करेंगे।

हमारे इतिहासके इस महत्त्वपूर्ण अध्यायकी इस प्रकार समाप्ति हो गयी। अध्याय छोटा परन्तु शानदार था। राष्ट्रीय सेनाकी हार हुई, परन्तु यह हार बहुत-सी जीतोंसे अधिक गौरवपूर्ण थी।

यह बड़े दुःखकी बात है कि नेताजी कभी भी महात्माजीके कृपापात्र न बन सके। गान्धीजीने 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' आन्दोलनके आरम्भके कुछ ही पहिले 'हरिजन'में एक लेखमें लिखा था : "मैं नहीं चाहता कि किसी राष्ट्रकी इसलिए खुशामद करूँ कि वह भारतको विदेशी शासनसे मुक्त होनेमें सहायता करे। मैं नहीं चाहता कि अंग्रेजोंकी जगह किसी दूसरेका राज्य हो जाय। जिस शत्रुको मैं नहीं जानता उससे वही शत्रु अच्छा है जिसे मैं जानता हूँ। इसलिए यह प्रश्न ही नहीं उठता कि मैं सुभाषकी नीतिका समर्थन करूँ। वह भ्रान्त हैं और उनके तरीकोंसे भारतका कभी उद्धार नहीं हो सकता।" परन्तु यह हर्षकी बात है कि सुभाषने अपने मनमें महात्माजीके लिए कभी दुर्भाव नहीं रखा। ४ जुलाई १९४४ को उन्होंने रेडियोपर महात्माजीके लिए यह सन्देश प्रेरित किया : "अपनी योग्यताके अनुसार देशकी इतने दिनोंतक सेवा करनेके बाद, मेरी यह इच्छा नहीं हो सकती कि किसीको मुझे देशद्रोही कहनेका अवसर मिले। अपने देशवासियोंकी उदारता और स्नेहसे मुझे वह आदर मिला जिससे बड़ा आदर भारतमें किसी कार्यकर्ताको नहीं मिल सकता। यदि मुझे रत्तीभर भी ऐसी आशा होती कि विदेशी सहायताके बिना हमको स्वराज मिल जायगा तो मैं ऐसे संकटके समय भारतको न छोड़ता। मैंने अपने जीवन

और भविष्यको खतरेमे डाला है। राष्ट्रपिता, स्वाधीनताकी इस पवित्र लडाईमे हम आपका आशीर्वाद और सद्भाव चाहते है।" पर यह नही होना था। सारा देश उनकी और उनके साथियोंकी वीरता और देश-भक्तिकी सराहना कर रहा था। उनकी मृत्युके समाचार आनेपर जो नेता लोग उनको सदा दूर रखते थे उनकी प्रशसा करनेपर विवश हुए, पर उनके जीवनकालमे उनको उधरसे सहानुभूति न मिल सकी।

राष्ट्रीय सेनाका अस्तित्व तो समाप्त हो गया, परन्तु पटाक्षेप होनेके पहिले उसके जीवननाट्यका अन्तिम दृश्य अभी शेष था। सभी लोग इन वीरोके लिए चिन्तित थे। ब्रिटिश सरकार तो इनको युद्धसे भाग जानेवाले मानती थी और इनपर राजद्रोहका मुकदमा चलाना चाहती थी। सारा देश इससे क्षुब्ध और क्रुद्ध था। अग्रेजोका उद्देश्य तो यह था कि भारतीय सैनिकोको ऐसा सबक पढाया जाय कि भविष्यमे किसी ऐसी परिस्थितिके उत्पन्न होनेपर वह ऐसा काम न करे। जनता हाथपर हाथ रखकर बैठनेको तैयार नही थी। जनमतके दबावसे काग्रेस नेताओ-को भी इस ओर ध्यान देना पडा। चन्दा करके रुपया जमा हुआ और इनके बचावके लिए पूरी तैयारी की गयी।

बचावपक्षके प्रमुख वकील श्री भूलाभाई देसाई थे। उन्होने मुकदमेको जो स्वरूप दिया उसके लिए सरकार स्यात् ही तैयार रही होगी। मुकदमा भारतीय दण्डविधानकी परिधिसे निकलकर अन्ताराष्ट्रीय विधानकी परिधिमे आ गया। उनके तर्कका आधार यह सर्वमान्य सिद्धान्त था कि प्रत्येक राष्ट्रको स्वतन्त्र रहनेका जन्मसिद्ध अधिकार है और यदि किसी राष्ट्रपर विदेशी शासन हो तो वह स्वतन्त्र होनेके लिए सभी वैध साधनोसे काम ले सकता है। वैध साधनोमे शस्त्रप्रयोग परि-गणित है। परन्तु शस्त्रोका प्रयोग कुछ विशेष शर्तोके अधीन ही किया जा सकता है :

१. जो लोग शस्त्र चलाते है उनको किसी निश्चित अधिकारयुक्त

सस्थाकी आज्ञामे काम करना चाहिये।

२. उनके शरीरपर कोई निश्चित वर्दी या अन्य चिह्न होना चाहिये जिससे वह पहिचाने जा सके और उनको सैनिकोकी भाँति रहना चाहिये, अर्थात् बराबर सैनिक नियन्त्रणमे रहना चाहिये, यह नही कि कभी चुपके-से हथियार चला ले और फिर दूसरे कामोमे लग जायँ।

३. जेनीवा और दूसरे अन्ताराष्ट्रीय सम्मेलनोंमे जो युद्धके नियम स्वीकृत है उनका पालन करना चाहिये।

सरकार यह सिद्ध करना चाहती थी कि आइ० एन० ए० पर यह शर्ते लागू नही होती। श्री देसाईने यह प्रमाणित कर दिया कि सरकारी पक्षका कथन गलत है। प्रथम शर्तको लीजिये। यह लोग अस्थायी सरकारकी आज्ञासे काम करते थे। उस सरकारको जर्मनी और जापानने, जिनके स्वतन्त्र राज होनेमे कोई सन्देह नही था, अङ्गीकार कर लिया था और अण्डमान-निकोबारपर उसका असन्दिग्ध शासन था। इसलिए युद्धकालके लिए अन्ताराष्ट्रीय नियमोंके अनुसार वह अधिकारयुक्त सस्था थी। दूसरी और तीसरी शर्ते भी पूरी होती थी। यह लोग पूरे सैनिक थे, कोई दूसरा काम नही करते थे और युद्धके अन्ताराष्ट्रीय नियमोका अनुसरण करते थे। इसलिए यह साधारण अपराधी नही वरन् युद्धबन्दी थे जिनको युद्धके बाद छोडना ही होगा।

श्री देसाई मुकदमा जीत गये। सरकार इन लोगोको छोड देनेके लिए विवश हो गयी। इस समाचारसे सारे देशमे हर्ष और उल्लासकी लहर दौड गयी। यह प्रमाणित हो गया कि यह फौजदारी कानूनके अपराधी नही प्रत्युत स्वाधीनताके वीर सैनिक है। तीनो प्रमुख नेता, ढिल्लन, सहगल और शाहनवाजका यश घर-घर फैल गया। बादमे यह लोग कृषि और दूसरे व्यवसायोमे लग गये। 'झाँसीकी रानी' पल्टनकी नेत्री युद्धके अपने पुराने साथी श्री सहगलकी पत्नी है।

जिस समय श्री भूलाभाई देसाईने इस मुकदमेको लिया था, उनका

स्वास्थ्य बहुत खराब था। मुकदमेमे जो अथक परिश्रम करना पडा उसने उसे और बिगाड दिया। जिस कामका उन्होने बीडा उठाया था उसको तो उन्होने पूरा कर दिया, परन्तु फिर स्वास्थ्यलाभ न कर सके, थोडे दिन बाद ही उनका देहान्त हो गया।

भारतीय राष्ट्रीय सेनाका कार्यक्षेत्र भारतके बाहर था, परन्तु उसके इतिहासपर ध्यान दिये बिना १९४२ के आन्दोलनका इतिहास अपूर्ण रह जाता है।



: १९ : अगले दो साल

जो आन्दोलन इतने उत्साहसे आरम्भ हुआ था, वह ठण्डा पड गया। जिस लक्ष्यके नामपर इतनी बहुमूल्य आहुतियाँ अर्पित की गयी थीं वह अब भी अदृश्य था। अहिंसात्मक युद्ध और हिंसात्मक युद्ध, दोनो प्रयोग हुए परन्तु भारत अब भी परतन्त्र था। अंग्रेजोकी विजय हुई। उनको प्रसन्न होना चाहिये था। पर ऐसा था नहीं। वह चिन्तित थे। उनको ज्ञात था कि जनतामे घोर अशान्ति और क्रोध है। यह शासनको चैनसे न बैठने देगा। जब किसी राष्ट्रमे स्वाधीन होनेकी उत्कण्ठा जागती है तो उसे सदाके लिए दबाकर नहीं रखा जा सकता। सरकारको एक और चिन्ता थी। युद्धकालमे लाखों सैनिक भरती किये गये थे। अब इनको छुट्टी दे दी गयी। सेनामे वेतन बहुत अच्छा मिलता था। अब वह आय जाती रही। इससे इनमे बडी अशान्ति थी। देशमे यह लाखो व्यक्ति फैले हुए थे जो हथियार चलाना जानते थे और संघटित रूपसे काम करनेके अभ्यस्त थे। यह लोग यूरोप और अफ्रीकामे लड आये थे। स्वाधीनता और लोकतन्त्रके नामपर इनको युद्धाग्निमे झोका गया था, परन्तु स्वयं इनके देशको न स्वाधीनता मिलनी थी, न लोकायत्त शासन। यदि यह लोग किसी राष्ट्रीय आन्दोलनमे सम्मिलित हो गये तो बडी कठिनाई होगी। इनका असन्तोष तो शस्त्रप्रहारके रूपमे व्यक्त होगा।

स्वास्थ्य खराब होनेके कारण गान्धीजी ६ मई १९४४ को छोड दिये गये। छूटनेके बाद ही उन्होंने वाइसरायसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की और इस बातकी अनुमति माँगी कि वर्किंग कमेटीके सदस्योसे जेलमे

जाकर मिल सके और उनको इस बातपर राजी करे कि आन्दोलन वापस ले लिया जाय, परन्तु शर्त यह होगी कि भारतकी स्वाधीनताकी घोषणा कर दी जाय और तत्काल ऐसी सरकार स्थापित कर दी जाय जो केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाके प्रति दायी हो। लार्ड वैवेलने गान्धीजीसे मिलनेसे इनकार कर दिया और उनकी बतायी शर्तोंको अस्वीकार कर दिया। तब गान्धीजीने श्री जिनासे बात चलायी कि कांग्रेस और मुसलिम लीग मिलकर गवर्नमेण्टके सामने देशहितके लिए माँग पेश करें। लगभग तीन सप्ताहतक बातचीत चली, पर कुछ परिणाम न निकला।

लार्ड वैवेलने भले ही महात्माजीसे मिलनेसे इनकार कर दिया हो परन्तु इंग्लैण्डमें उनके स्वामी राजनीतिक परिस्थितियोंको उनसे अच्छा समझते थे। वह हाथपर हाथ रखकर बैठनेको तैयार नहीं थे। उन्होंने वाइसरायको इस विषयमें परामर्श करनेके लिए बुलाया कि भारतमें किस प्रकारका शासनसुधार किया जाय। वहाँसे लौटकर उन्होंने पहिले वर्किंग कमेटी, फिर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीके सब सदस्योंको छोड़ दिया और रेडियोमें इन प्रस्तावोंको प्रसारित किया :

(क) भारतीय नेताओंसे परामर्श करके वाइसरायकी कार्यकारिणी समितिका पुनर्गठन हो जाय और वाइसराय तथा प्रधान सेनापतिको छोड़कर उसके सब सदस्य भारतीय हों।

(ख) परराष्ट्रमन्त्रीके पदपर भी भारतीय रहे।

(ग) जिस प्रकार कनाडा, आस्ट्रेलिया आदिमें ब्रिटिश सरकारके प्रतिनिधिके रूपमें हाईकमिश्नर रहता है वैसे ही भारतमें भी हो।

इन प्रस्तावों तथा अन्य प्रासंगिक विषयोंपर विचार करनेके लिए उन्होंने सभी दलोंके नेताओंकी एक कान्फरेंस शिमलामें बुलायी। उसकी बैठक २५ जून १९४५ को आरम्भ हुई और १६ जुलाईको उठ गयी। कोई समझौता न हो सका। इसके लिए वह और ब्रिटिश सरकार दायी थी। उन्होंने बातचीतको राजनीतिक स्तरसे साम्प्रदायिक स्तरपर ला गिराया। समझौतेका आधार हिन्दू-मुसलिम-प्रतिनिधित्वकी समानताको

वना दिया। ऐसी अवस्थामे कान्फरेसका असफल होना अवश्यम्भावी था। १९४६ की जनवरीमे पार्लियामेण्टके दस सदस्य भारत आये। यह विभिन्न दलोके नेताओसे मिले। इनको भारतीय परिस्थितिकी जानकारी तो हो गयी होगी परन्तु इनके आनेका कोई विशेष राजनीतिक प्रभाव नही पडा।

इन लोगोके लौटनेके थोडे ही दिन बाद प्रधानमन्त्री, श्री ऐट्लीने घोषणा की कि मन्त्रिमण्डलके तीन सदस्य, लार्ड पेथिक लॉरेंस, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और श्री अलेग्जैण्डर भारत जायँगे और भारतके शीघ्र स्वातन्त्र्य-लाभके उपायोंके सम्बन्धमें विचारविनिमय करेंगे। यह लोग २४ मार्च १९४६ को दिल्ली पहुँचे।

इसके बादकी घटनाओका सविस्तर वर्णन करना अनावश्यक है। मेरी कोई विशेष जानकारी नही है। बहुत-से लोगोको यह बाते स्वय याद होगी और अधिक जानकारीकी सामग्री सुगमतासे उपलब्ध है। कांग्रेस और लीगके योगसे दिल्लीमें अन्तरिम सरकार बनी। पण्डित जवाहर-लाल, सरदार पटेल और राजेन्द्र बाबू जैसे नेता उसके सदस्य थे परन्तु उसका काम सुचारु रूपसे नहीं चला। लीगने जी खोलकर सहयोग नही दिया, अपनी पार्टीके दृष्टिकोणसे ही काम किया। हिन्दू-मुसलमान तनावने भयानक दगेका रूप धारण किया। ऐसा लगा कि समूचा उत्तरभारत खूनखराबेमें डूब जायगा। उस समय उत्तरप्रदेश शासनकी दृढताने देशको बचा लिया। फिर देशका बँटवारा हुआ। पाकिस्तानका जन्म हुआ। बिना किसी प्रकारके त्याग और प्रयत्नके मुसलिम लीगको एक स्वतन्त्र देशका शासन मिल गया। यह बाते पुरानी हो गयीं पर इनमेंसे कुछके सम्बन्धमे पहिले भी मतभेद था, अब भी है। देशका बँटवारा ऐसा ही विवादास्पद प्रश्न है। बहुत-से लोगोंका विश्वास है कि पाकिस्तान बनाकर लार्ड वैवेलने जाते-जाते भारतको गहिरी ठोकर लगायी, एक ऐसे शूलकी सृष्टि कर गये जो भारतके शरीरमें बराबर चुभता रहेगा। यदि लोकमत जाननेका प्रयत्न किया जाता तो बँटवारा कदापि स्वीकार

न होता। अब आलोचना-प्रत्यालोचना करना व्यर्थ है। भले ही मुसलमान पाकिस्तानको अपना देश समझें, परन्तु मुसलिम संस्कृति और सभ्यताके सारे स्मारक भारतमें हैं। भारत ही पाकिस्तानकी राष्ट्रभाषा उर्दूका उद्गमस्थान है। कोई हिन्दू सप्तसिन्धिवको, सिन्धु और सरस्वतीके अन्तर्वेदको, भूल नहीं सकता। यदि भारतको विभाजित रहना ही है, तो दोनों खण्डोंके सौहार्द और सहयोगमें दोनोंका कल्याण है।

गान्धीजी बँटवारेके विरुद्ध थे। उन्होंने वर्किंग कमेटीके सदस्योंको बहुत समझाया कि देशके इस मर्मच्छेदको स्वीकार न करें। परन्तु उनकी बात न मानी गयी। नाव जब किनारेके पास पहुँची तो केवटको हटा दिया गया। महात्माजीका हृदय विदीर्ण हो गया। वह क्या जानते थे कि यावज्जीवनकी कर्मनिष्ठाके बाद यह दिन देखना होगा। मुसलिम लीगका कहना था कि हिन्दू और मुसलमान दो विभिन्न राष्ट्र हैं। कांग्रेसने इस बातको कभी स्वीकार नहीं किया था। कोई भी हिन्दू मुसलमान बन सकता है परन्तु धर्मपरिवर्तनसे राष्ट्रपरिवर्तन कैसे हो सकता है? परन्तु पाकिस्तानकी सत्ताको स्वीकार करके कांग्रेस उसी दो-राष्ट्रवाली बात मानने जा रही थी।

कांग्रेस वर्किंग कमेटीके लिए भी यह सुखद बात नहीं थी। उसने श्री जिनाको राजी करनेका बहुत प्रयत्न किया परन्तु वह अविभाजित भारतमें किसी शर्तपर रहनेको तैयार नहीं थे। अब यदि विभाजन स्वीकार न किया जाता तो स्वराजमें देर होती। एक ओर ब्रिटिश सरकारसे संघर्ष करना पड़ता, दूसरी ओर मुसलमानोंसे। ऐसा विश्वास होता है कि थोड़ी देर तो होती पर अन्तमें विजय होती, मुसलमान भाई भी अपने हितको पहिचान लेते और देश अविभक्त रह जाता। महात्माजीकी यही राय थी। वह पिछले पचीस वर्षोंसे कांग्रेसके सर्वमान्य नेता रहे थे, कांग्रेसके दूसरे बड़ेसे बड़े नेताको उन्होंने ही ऊपर उठाया था, राष्ट्रके असपत्न कर्णधार थे। उनकी बात न माननेमें वेदना होती थी परन्तु वर्किंग कमेटीने इसीमें देशका हित समझा। विभाजन स्वीकार कर लिया गया।

: २० : १९४६ से १९६०

मेरी समझमें पिछले पन्द्रह वर्षोंका सविस्तर वर्णन करना अनावश्यक है। हालकी बातें हैं, वर्तमान पीढ़ीकी आँखोंके सामनेकी घटनाएँ हैं। इस अवधिमें सारे देशमें कांग्रेसके हाथमें शासन रहा है। थोड़े दिनोंके लिए केरलमें कम्युनिस्टोंके हाथमें अधिकार आ गया था। उन्होंने इस प्रकारका अन्धेर मचाया, राजनीतिक विरोधियोंको इस सीमातक उत्पीडित किया कि केरल ही नहीं, सारा देश ऊब उठा। लोगोंको कम्युनिस्ट शासनकी रूपरेखा ज्ञात हो गयी। अब यदि कोई उस दलका समर्थन करता है तो जान-बूझकर देशपर क्रूरता और नृशंसताको लादना चाहता है।

चुनावमें कांग्रेसकी पूरी विजय हुई। पार्लिमेण्ट और राज्य विधान-सभाओंकी अधिकांश जगहें कांग्रेस अभ्यर्थियोंको मिलीं और १५ अगस्त, १९४७ को कांग्रेस केन्द्र और प्रदेशोंमें सत्तारूढ़ हुई। इस दिनको 'स्वाधीनता दिवस' कहते हैं। इस समय 'गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया ऐक्ट, १९३५' के अनुसार काम हो रहा था। वह विधान इस आधारपर बना था कि अंग्रेज भारतमें रहेंगे। उनके चले जानेके कारण नयी परिस्थिति उत्पन्न हुई। कानूनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर लिया गया। श्री राजगोपालाचारी गवर्नर-जनरल नियुक्त हुए। वह प्रथम भारतीय थे जो इस पदपर आरूढ़ हुए। उनके बाद वह पद तोड़ दिया गया। स्वतन्त्र भारतमें ब्रिटिश नरेश द्वारा नियुक्त किये गये गवर्नर-जनरलके लिए जगह नहीं हो सकती थी। नये राष्ट्रके संविधानको तैयार करनेके

हमारा संविधान अमेरिकन संविधानसे मिलता-जुलता है। परन्तु अन्य सभी बातोंमें उसका आधार ब्रिटिश संवैधानिक परिक्रिया है। परन्तु एक ऐसी चीज है जो हमारे संविधानको अन्य सभी गणतान्त्रिक संविधानोंसे भिन्न बना देती है। भारत उस राज्यसंघका सदस्य है जिसके शीर्षस्थानपर ब्रिटिश नरेश है। किसी पूर्णप्रभु गणतन्त्रका ऐसे राज्य-परिवारका अंग होना, जिसका प्रमुख नरेश हो, अन्ताराष्ट्रीय विधानके लिए नयी बात थी। अब तो भारतका अनुकरण लंका या पाकिस्तान जैसा कोई अन्य देश भी कर सकता है।

हमारे संविधानमें कई दोष हैं। न तो उसका आधार भारतीय समाजका जीवन है, न उसपर भारतीय विचारकोंके निष्कर्षोंका कोई प्रभाव पड़ा है। जिन लोगोंको उसके बनानेका मुख्य रूपसे श्रेय है वह अच्छे वकील तो थे, परन्तु भारतीय होते हुए भी जनतासे बहुत दूर थे। उसके हृदयस्पन्दोंका उनको पता नहीं था। स्वातन्त्र्यसंग्रामसे वह दूर रहे थे और राष्ट्रपर सर्वस्व होम करनेवाले कर्ताओंका उनको कभी सम्पर्क नहीं हुआ। गान्धीजी उनके लिए पहेली थे। उनकी बातें इन विद्वानोंकी रायमें अव्यावहारिक थीं। अतः विभिन्न देशोंके संविधानोंमें उनको जो अच्छा लगा, काट-छाँटकर एकत्र कर दिया। इसमें ब्योरेकी इतनी बातें भरी हैं कि काममें बाधा पड़ती है। अबतक कई संशोधन हो चुके हैं। मेरी रायमें उसे एक बार रद्द करके पूराका पूरा बदलना होगा।

पिछले पन्द्रह वर्षोंका इतिहास कांग्रेस सरकारोंके शासनका इतिहास है। मैं स्वयं आरम्भसे ही मन्त्री रहा हूँ। यों तो लोग दोष लगाया ही करते हैं और मैं यह दावा करता भी नहीं कि हम लोगोंसे भूलें नहीं हुईं, परन्तु मेरा यह दृढ़ मत है कि पिछले सौ वर्षोंमें उतनी उन्नति नहीं हुई थी जितनी कांग्रेस शासनके दस वर्षोंमें हुई। निर्धन देश, धनका अभाव, प्रशिक्षित काम करनेवालोंकी कमी—फिर भी बहुत काम हुआ। यह भी स्मरण रहे कि काममें बाधा डालनेवाली कई राजनीतिक पार्टियाँ कार्य-क्षेत्रमें सक्रिय रूपसे उपस्थित थीं। पंजाबके विस्थापितोंका पुनर्वासन ही

एक ऐसा काम था जो किसी भी सरकारकी क्षमताकी कसौटी माना जा सकता था। प्रथम महायुद्धके बादकी विस्थापितसमस्याको यूरोपके सर्वसाधनसम्पन्न राष्ट्र दस सालमे भी ठीक-ठीक नही सुलझा पाये।

उत्तरप्रदेशमे इस बार भी पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त मुख्य मन्त्री हुए। मुझे स्वय कई विभागोके कामको देखनेका अवसर मिला। शिक्षा, वित्त, श्रम, गृह, धर्मादाय—इन सभी कामोको देखा। बम्बईके मुख्य मन्त्री, स्व० श्री खेर, ने एक बार मजाकमे कहा था, 'यह आधी उत्तर-प्रदेश सरकार है।'

देशके इतिहासके अध्येताका ध्यान निश्चय ही पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्तके व्यक्तित्वकी ओर आकृष्ट होगा। प्रायः सभी लोग उनको पन्तजी कहते थे। ससदीय प्रक्रियाके प्रकाण्ड पण्डित, कुशल वक्ता, योग्य शासक—वह अपनी अमिट छाप छोड गये है। उनके शीलसे विरोधीका भी मुँह बन्द हो जाता था। सगीतके जानकार और प्रेमी थे। स्वास्थ्य खराब होते हुए भी वह जिस प्रकार अपने गुरु कार्यभारको सँभाल रहे थे वह दूसरोको स्फूर्ति देता था। मै उनके पक्षाघातके प्रहारके दो दिन पहिले उनसे मिलकर आया था और उनके देहान्तके अन्तिम पाँच दिन भी वही था। ७ मार्च १९६१ को उन्होने शरीर छोडा। हमारा पैंतीस वर्षो-का साथ था और राजनीतिक सहकारिताकी सीमाका अतिक्रमण कर चुका था। एक प्रकारका भाइयो जैसा सम्बन्ध था। कुछ महीने पहिलेकी घटनाओने हममे कुछ गलतफहमी पैदा कर दी थी। मेरे त्यागपत्र-सम्बन्धी वार्तासे उनका कुछ ऐसा सम्बन्ध हो गया था जिससे हम दोनो-को कष्ट हो गया था। अपनी अन्तिम बेहोशीके पहिले भी उन्होने अस्फुट शब्दोमे कुछ इसका चर्चा किया। मुझे दुःख है कि मै अन्तिम घडियोमे उनकी चिन्ताका कारण बन गया। परन्तु मैं बेबस था।

जब वह केन्द्रीय गृहमन्त्री बनकर दिल्ली गये तो उत्तरप्रदेशके मुख्य मन्त्रीका काम मैंने सँभाला। मैं इसमे कहाँतक सफल रहा, यह मैं नही कह सकता। मेरे लिए इतना ही बहुत है कि उत्तरप्रदेश जैसे

भूभागकी किञ्चित् सेवा करनेका अवसर मुझको मिला। इस बीचमें काशीकी जनताने मेरे प्रति जो स्नेह दिखलाया और सरकारी गैर-सरकारी सभी वर्गोंसे मुझको जो सहयोग मिला उसके लिए मैं आभारी हूँ।

मेरा त्यागपत्र जिस प्रकार हुआ उसकी भी बड़ी रोचक कहानी है। अभी तो मैंने अपने होठोंपर ताला लगा रखा है। कभी खोलनेका समय आ सकता है। देशके कुछ महारथियोंको ऐसा लगा कि मेरे हट जानेसे सर्वतोमुख कल्याण होगा और उन्होंने मेरे उत्तराधिकारीके चुनावमें अपने व्यक्तित्वका पूरा प्रभाव डाला। कहाँतक कल्याण हुआ और लोकतन्त्रकी पुष्टि हुई, मैं नहीं कह सकता। यह आशा करनी चाहिये कि अपनी सफलतापर देशके नेतृवृन्दको आत्मतुष्टि हुई होगी।

शुक्रवार, ३० मार्च १९४८, को भारतपर वज्रपात हुआ। उस दिन महात्मा गान्धीकी हत्या हुई। उस समय उनका वय ७८ वर्षका था। हत्यारेका नाम नाथूराम गोडसे था। उसकी ऐसी धारणा थी कि महात्माजीके द्वारा मुसलमानोंको अत्यधिक प्रश्रय दिया जा रहा था। बिड़ला भवनसे अपने प्रार्थनास्थलपर जाते समय उनपर प्रहार हुआ। एक बार मुँहसे 'हे राम' निकला और बस—जीवनदीपका निर्वाण हो गया! देशमें जो हाहाकार मचा, लोगोंने जिस मार्मिक वेदनाका अनुभव किया, उसका चित्र कागजपर नहीं खींचा जा सकता। बहुत लोग इस प्रकार फूट-फूट कर रोये जैसे कि अपने निकटतम सम्बन्धीके लिए भी न रोते। हत्याका समाचार आते ही एक बार तो यह खयाल हुआ कि यह किसी मुसलमानका काम है। यदि शीघ्र ही यह बात न विदित हो जाती कि हत्यारा नृशंस हिन्दू है तो कई हजार मुसलमान अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठते। बाहरी देशोंमें भी गहिरा शोक छा गया। उनके प्रति जो श्रद्धा थी उसका एक नमूना मेरे सामने अपनी अमरीकी यात्रामें आया। १९४९ की बात है। कुछ मित्रोंके साथ मैं सनफ्रांसिस्कोके पास शहरसे लगभग १०० मील दूर घूमने निकल गया था। एक जगह रुककर एक स्त्रीसे कुछ फल मोल लिये। उसने पूछा: 'आप लोग कहाँके रहनेवाले

है ?' हमने कहा : 'भारतके।' उसने फिर पूछा : 'गान्धीके देशके ?' हमने कहा, 'हाँ'। इसपर वह बोली : 'दुनिया कैसी बुरी जगह है। लोग अपने महापुरुषोसे ऐसा ही बर्ताव करते है। पहिले, ईसाको सलेबपर चढाकर मार दिया, अब गान्धीको मार डाला।' एक अशिक्षित फल-तरकारी बेचनेवाली ईसाई स्त्री गान्धीजीकी ईसासे तुलना करे, यह बहुत बडी बात थी। खेद इस बातका है कि भारत सरकारकी सारी सुरक्षा-व्यवस्था गान्धीजीकी रक्षामे असफल रही। भारतमे बहुत-से विद्वान्, विचारक, राजपुरुष हो गये है और आगे भी होगे। परन्तु महात्मा गान्धी जैसे व्यक्ति सहस्रो वर्षोंमे कहीं जन्म लेते है। उनका शरीर तो किसी एक देश और किसी एक कालसे सम्बद्ध होता है परन्तु वस्तुतः वह देश और कालसे अनवच्छिन्न होते है : वह सब देशोके, सब युगोके, मनुष्यमात्रके, अपने होते है।

यह दुर्भाग्यकी बात है कि महात्माजीके अन्तिम दिन सुखसे नहीं बीते। यह प्रकृतिका नियम-सा प्रतीत होता है कि महापुरुषोके जीवनकी कहानी दुःखान्त हो। बुद्धदेव ही अपवाद देख पडते है। रामने साम्राज्यको उजडते देखा, सीताके साथ जो व्यवहार किया गया उसकी कसक कहाँ मिट सकती थी ? लक्ष्मणने आत्महत्या की, स्वय भी प्राण देना पडा। श्रीकृष्णका भी ससार उजड गया। पाण्डव व्यथित हृदय लेकर केदारखण्ड प्राण देने चले गये, द्वारका यादवीयका शिकार हुई, कृष्णको व्याधाने मारा। महात्माजीकी कथाका अन्तिम अध्याय भी ऐसा ही रहा। ऐसा लगता है कि जिस प्रासादको इन लोगोने खडा किया वह इनके सामने ही गिर गया : अपने उद्देश्यकी असफलता और तज्जनित निराशाकी टीस साथ लेकर गये।

नोआखाली और बिहारमें भयकर साम्प्रदायिक उपद्रव हुए। ईश्वरके नामपर ईश्वरके सहस्रो जीते-जागते मन्दिर गिरा दिये गये। सहस्रो नर-नारी मौतके घाट उतार दिये गये। निरकुशताका नग्न नृत्य हो रहा था। उत्पीडितोको कोई सान्त्वना देनेवाला नहीं था। महात्माजीके लिए

यह असह्य था। उनका शरीर स्वस्थ नहीं था परन्तु उत्साह तो दुर्दम था और दुखियोके लिए करुणा असीम थी। गाँव-गाँव घूमे। क्रूर-कर्मियोको लज्जा दिलायी, भग्नहृदयोको सान्त्वना दी, हतप्रभोको उत्साहका पाठ पढाया। जो लोग अपने धर्म और अपनी स्त्रियोकी रक्षाकी आशा खो बैठे थे, उनमे फिरसे साहसका सचार हुआ, परन्तु इन बातोसे उनके हृदयको गहिरी चोट लगी। यावज्जीवन उन्होने साम्प्रदायिक एकताके लिए प्रयत्न किया था, ऐसा प्रतीत होता था कि सफलता भी हुई, परन्तु जरा-सा झोकेमे सारी एकता बालूकी भीतकी भाँति गिर गयी।

उनकी चिन्ताके और भी कारण थे। उनके और वर्किंग कमेटीके सदस्योमे गहिरे मतभेद उत्पन्न हो गये थे। मतभेद तो पहिले भी होते थे। जो गान्धीजी मेरे जैसे छोटे आदमियोकी सम्मतिकी भी कदर करते थे वह कार्यसमितिके सदस्योकी बातोको सदा आदरसे सुनते थे। उन्होने ही इन लोगोको बढाया था। परन्तु अब उनके यह प्रमुख अनुयायी उनकी ही बात सुननेको तैयार नही थे। गान्धीजी चाहते थे कि सविधान भी उन सिद्धान्तोपर बने जिनका प्रतिपादन भीष्मने शान्ति-पर्वमे और शुक्रने शुक्रनीतिमे किया है, उनकी अभिलाषा थी कि उसके द्वारा रामराज्य, धर्मराज्य,का स्थापित होना सम्भव हो। परन्तु सविधानमे इन चीजोकी झलक भी नही देख पडती, भारतीय विचारोंकी परछायी भी नही पडने पायी है। देशका विभाजन भी उनके लिए बडी ही दुःखद अनुभूति थी। उन्होने उसका तीव्र विरोध किया परन्तु उनकी बात न मानी गयी।

उनके मानस सन्तापके और भी प्रबल कारण थे। उनके निकटतम अनुयायियोमे जो फूट-सी पड गयी थी वह उनको व्यथित कर रही थी। उन्होने १९४७ की जनवरीमे सरदार पटेलको एक पत्र भेजा था जिसको श्री प्यारेलालने 'महात्मा गान्धी—दि लास्ट फेज'मे उद्धृत किया है। उससे परिस्थितिपर प्रकाश पडता है। यह स्मरण रहे कि उन दिनो अन्तरिम

सरकार चल रही थी। महात्माजीने लिखा था : "मैंने तुम्हारे विरुद्ध कई शिकायतें सुनीं। "यह कहा जाता है कि तुम पदमें चिपके रहनेकी बात कहते हो ' यदि हम लोग सीधे मार्गसे जरा भी विचलित हुए तो हम समाप्त हो जायेंगे। वर्किंग कमेटीमें वह एका नहीं है जो होना चाहिये।"

सरदार पटेलका उत्तर स्थितिको और भी स्पष्ट करता है। वह कहते हैं : "यह आरोप कि मैं पदसे चिपका रहना चाहता हूँ सरासर झूठ है, पर जवाहरलाल जो रोज अन्तरिम सरकारसे इस्तीफा देनेकी झूठी धमकियाँ दिया करते हैं, मैं इसके विरुद्ध हूँ। इससे कांग्रेसकी अप्रतिष्ठा होती है और सरकारी कर्मचारियोंपर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि इस्तीफा देना है तो हमको बैठकर पहिले ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये। झूठी धमकियोंके कारण हम वाइसरायकी दृष्टिमें गिर गये हैं। अब वह हमारे इस्तीफेकी बातको बन्दरघुड़कीमात्र समझते हैं। यदि वर्किंग कमेटीमें फूट है तो यह आजकी बात नहीं है। इस समय तो पहिलेकी अपेक्षा अधिक मतैक्य है। यदि आपसे किसीने मेरी शिकायत की है तो मैं जानना चाहूँगा।"

प्यारेलालजी बराबर गान्धीजीके साथ थे। वह कहते हैं कि इन बातोंसे गान्धीजी बहुत चिन्तित रहते थे। वह कहा करते : अहिंसा क्यों काम नहीं करती ? ऐसा तो नहीं हो सकता कि वह अपने सन्निधिमें असफल हो और दूरपर सफल हो। इन शंकाओंका जो उत्तर वह अपनेको देते थे वह उन्हींके अनुरूप था। दूसरा कोई होता तो अन्य प्रकारसे समाधान करता। ऊहापोहके बाद महात्माजीने यह निष्कर्ष निकाला कि दोष मुझमें ही है। कहीं-न-कहीं मुझमें कोई त्रुटि है जिसका मुझे पता नहीं चल रहा है। नहीं कह सकता, मैं कहाँ पथभ्रष्ट हो गया। यह नम्रता और उदारता महात्माजीका भूषण थी। वही दूसरोंकी कमियोंका दायित्व अपने ऊपर ले सकते थे।

उनके निधनसे हमारे सार्वजनिक जीवनके आकाशका श्रेष्ठतम नक्षत्र सदाके लिए अस्त हो गया। धर्म और राजनीतिमें जो सम्बन्धसूत्र जुड़ रहा था, फिर विच्छिन्न हो गया। देश और विदेशमें उनकी सैकड़ों

मूर्तियाँ है, सैकडो स्मारक है। उनकी रचनाओ और वक्तृताओके आधार-पर विपुल वाङ्मयका सर्जन हो गया है, गान्धीवाद नामकी नयी दार्शनिक विचारधारा चल पडी है। देखना यह है कि कहाँतक मनुष्य अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवनमे उनके उपदेशोको अवतरित करता है।

देशने धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और गणतान्त्रिक व्यवस्थाको राष्ट्रीय जीवनके आधारस्तम्भके रूपमे स्वीकार किया है। काग्रेसने इस सम्बन्धमे कई निश्चय किये हैं और केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारोने इन निश्चयोको कार्यान्वित करनेके लिए कई विधान बनाये हैं और उपयुक्त आज्ञाएँ निकाली है। इस स्थलपर मै इन बातोके सम्बन्धमे कुछ नही लिखना चाहता। अगले अध्यायोमे आधारभूत सिद्धान्तोपर कुछ विचार करूँगा।

परन्तु कुछ घटनाओका थोडा-सा चर्चा करना ही होगा। पहिली महत्त्वपूर्ण घटना राज्योका विलीनीकरण है। यो तो छ-सात सौ ऐसे भूखण्ड थे जो किसी-न-किसी अर्थमे राज्य कहे जा सकते थे, परन्तु एक सौसे कुछ ऊपर सलामीवाले राज्य थे। इनके नरेशोको ९ से २१ तोपो-तककी सलामी थी।

११ और अधिक सलामीवालोके नामके पहिले तत्रभवान् (हिज हाइनेस) जोडा जाता था। त्रावणकोर और जोधपुरने विलीनीकरणमे कुछ आनाकानी की, परन्तु उनके विरोधने कुछ जोर नही पकडा। हैदराबादने विशेष हैकडी दिखलायी। उसके कलेवरकी वृद्धि देशद्रोह और अग्रेजोकी कृपासे हुई थी। कभी लडकर उसने विजय नही पायी। मैसूर और मराठोकी लडाइयोमे अग्रेजोका साथ दिया, इसलिए पुरस्कारमे कुछ-न-कुछ भूमि पाता गया। उसके विलीनीकरणमे कुछ देर होनेका यह बुरा प्रभाव पडा कि कुछ अदूरदर्शी मुसलमान यह समझने लगे कि भारत सरकार डर गयी और स्यात् सारे भारतपर पाकिस्तानका राज्य हो जाय। अन्तमे फौज भेजी गयी परन्तु तीन दिन भी लडाई न चली। हथियार डाल दिये। विलीनीकरणका एकमात्र श्रेय सरदार पटेलकी दृढता और दूरदर्शिताको है। उनको लोग भारतका 'लौह पुरुष' कहा करते थे। इस

नामको उन्होने सार्थक कर दिया।

पाकिस्तान द्वारा कश्मीरपर आक्रमण इस कालकी दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना है। महाराजा कश्मीरने भारतसे मिलनेमे देर की। वह सम्भवतः पूर्ण स्वतन्त्रताका स्वप्न देख रहे थे। उनको सम्भवतः यह भ्रम था कि कश्मीर भारत, पाकिस्तान, चीन और रूससे घिरा हुआ है, अतः इनमेसे कोई भी उसपर आक्रमण करनेका साहस न करेगा। पाकिस्तानने उनकी इस भूलसे लाभ उठाया। पहिले तो उसने पठान कबीलेवालोको लूटकी लालच देकर उधर भेज दिया, फिर पाकिस्तानी सेना कश्मीरमे घुसी। भला कश्मीरमे इतनी शक्ति कहाँ थी कि रक्षा कर सकता। भारतकी शरण आना पडा। परन्तु देर होनेमे भारतीय सेनाको बडी कठिनाइयोका सामना करना पडा। कही-कहीं १८,००० फुटकी ऊँचाईपर लडना पडा। पाकिस्तानी सेना पीछे हटी। ठीक इसी अवसरपर भारत सरकारने एक ऐसा कदम उठाया जिसकी आलोचना आजतक सुननेमे आती है। उसने सारा विषय 'सयुक्त राष्ट्र सघटन'के सामने उपस्थित कर दिया। लोगोका कहना है कि सेना जिस प्रकार बढ रही थी उसने थोडे दिनोमे कश्मीरसे पाकिस्तानियोंको निकाल भगाया होता। निर्णयके लिए कोई समस्या शेष रह ही नही जाती। अब परिस्थिति यह है कि कश्मीरके लगभग आधेपर पाकिस्तानका कब्जा है। सयुक्त राष्ट्र कोई निर्णय नही कर पा रहा है। ऐसा लगता है कि भारतका यह अग सदाके लिए हमसे पृथक् हो गया।

चीन और भारतके बीचका बिगडता सम्बन्ध भी इस अवधिके भीतरकी महत्त्वपूर्ण घटना है। कुछ ही साल पूर्व चीनी प्रधान मन्त्री चाउ-एन-लाइने श्री नेहरूके साथ मिलकर पञ्चशीलकी घोषणा की थी, पर अब चीन उसे भूल गया। जब चीनका रूसके सिवाय कोई भी मित्र नहीं था तब भारतने उसका साथ दिया था, 'चीनी-हिन्दी भाई-भाई'के नारेसे आकाश-का भेदन हुआ था। आज चीन भारतका कई हजार वर्गमील भूखण्ड दबाये बैठा है और अभी और लेना चाहता है। यो तो चीन अपनेको

तिब्बतका अधिपति कहा करता था परन्तु तिब्बतके स्वतन्त्र देश होनेमे कोई सन्देह नही है। १९५२ मे चीनने तिब्बतपर आक्रमण किया। बहाना यह था कि उसका उद्धार करना है। तिब्बतके लोग लडे, कुछ लोग आजतक लड रहे है। परन्तु चीन बलवान् था। उसकी विजय तो होनी ही थी। तिब्बतके शासक और ससारभरके महायान बौद्धोके धर्मगुरु दलाई लामा भारतमे शरणार्थी रूपसे रह रहे हैं। और कई सहस्र तिब्बती अपना देश छोडकर आ गये है। इस सम्बन्धमे भारत सरकारकी नीतिसे बहुत लोगोको असन्तोष है। एक तो यह खयाल है कि यदि भारतने दृढतासे विरोध किया होता तो चीन स्यात् तिब्बतपर आक्रमण ही न करता। दूसरी शिकायत इससे भी गम्भीर है। १९५४ मे भारतने चीनसे सन्धि करके यह स्वीकार कर लिया कि तिब्बत चीनका अग है। लोगो-का कहना है कि यह इतिहासके विरुद्ध है। तिब्बत कभी भी चीनका अग नहीं था। अगके पहिले 'स्वायत्त शासनाधिकारी' विशेषण लगा है। यह निरर्थक है। तिब्बतवालोको भारतसे बडी आशा थी, पर इस देशने उसकी स्वाधीनताको बातकी बातमे समाप्त कर दिया। चीन तो हमसे प्रसन्न होनेवाला था ही नही, तिब्बत भी नाराज हुआ।

भारतके बाद एशिया और अफ्रीकाके कई देश स्वतन्त्र हुए। इन सबने ही लोकतान्त्रिक शासनपद्धतिको अपनाया, परन्तु इस काममे कहाँ-तक सफलता मिली यह कहना कठिन है। प्रत्यक्ष या प्रच्छन्नरूपसे अधिनायकशाही ही चलती देख पडती है।

भारत स्वतन्त्र हो गया है पर अभी हमारी भूमिके कुछ टुकडे विदेशियोके पास है। फ्रासके पास जो जगहे थी वह तो लौट आयी, परन्तु पुर्तगाल अभी अडा हुआ है। वह जानता है कि सैनिक-बलमे भारत उससे बढा हुआ है, पर अबतक उसे यह विश्वास रहा है कि भारत अहिंसाका परित्याग न करेगा। परन्तु असन्तोष बहुत है। यह प्रश्न भी शीघ्र सुलझ कर ही रहेगा।

● ● ●

: २१ : कुछ स्वगत विरोध

हमारे राजनीतिक सघटनमे जो असाधारण बाते है उनमसे कुछका चर्चा मै कर चुका हूँ। हमारे सविधानमे कुछ स्वगत विरोध है उनका ही यह परिणाम है। हमारा राष्ट्र गणतन्त्र है पर वह ऐसे राज्यपरिवारका अग है जिसका स्थायी अध्यक्ष एक देशविशेषका नरेश है। इस परिवार-की सदस्यतासे कई लाभ है इसमे सन्देह नही, परन्तु यह दो विरोधी तत्त्वोके समन्वय करनेका प्रयत्न है, यह तो स्पष्ट ही है।

जैसा कि मै पहिले सकेत कर चुका हूँ, हमारे सविधानमे कुछ बातें अमेरिकासे, शेष ब्रिटेनसे ली गयी है। भारतीय सघके अगभूत प्रदेशोको राज्य कहते है। यही नाम अमेरिका—सयुक्तराज—के अगोंका भी है। केन्द्रो और राज्योके अधिकार विभाजित है, उनकी अनुसूचियाँ सविधान-मे दी हुई है। परन्तु एक अन्तर है। अमेरिकामे अवशिष्ट अधिकार राज्योंके पास है, भारतमें केन्द्रके। इसका अर्थ यह है कि यदि कभी यह प्रश्न उठे कि अमुक काम करनेका अधिकार किसको है, जब कि उसका उल्लेख किसी अनुसूचीमे नही मिलता, तो यह मानना चाहिये कि वह अधिकार केन्द्रके पास है। यह अच्छा है। भारत जैसे देशमे केन्द्र शक्ति-शाली होना ही चाहिये, परन्तु सारी शक्ति एक जगह केन्द्रीभूत होना अच्छा नही है। प्रदेश-प्रदेशकी समस्याएँ भिन्न है। पृथक् शासकीय प्रयोगोके लिए पर्याप्त अवकाश है। सिद्धान्तरूपेण यह बात मानी भी जाती है। विकेन्द्रीकरणकी महिमा सब गाते है परन्तु केन्द्रीकरणका

प्रयास भी जारी है। जिन लोगोको शासनकी भीतरी बातोका ज्ञान है वह जानते है कि केन्द्रीय सरकारके अनेक मन्त्रालय इसी प्रयत्नमे रहते है कि प्रादेशिक सरकारोंको अपना गुमाश्ता-सा बना ले। जबसे नियोजनका काम चला है तबसे उनको और मौका मिल गया है। पञ्चवार्षिक योजनाओके लिए जो रुपया नियोजन आयोग स्वीकृत करता है उसमेसे कुछ तो प्रादेशिक सरकारोके कोषसे आता है, कुछ केन्द्रके। यह केन्द्रकी भिक्षा नही है, प्रादेशिक सरकारपर उसकी कृपा नही है, प्रदेशका हक है। यदि बीचमे प्रादेशिक सरकार न हो तो शिक्षा, सडक, अदालत, चिकित्सा आदिका सारा काम केन्द्रीय सरकारको करना पड जाय। परन्तु केन्द्रीय सरकारकी ओरसे रुपया देनेके अधिकारसे अनुचित लाभ उठानेका प्रयत्न होता रहता है। कभी-कभी ऐसी शर्तें लगायी जाती है जो प्रादेशिक सरकारके हाथ-पाँव बाँध देती है। यह बाते जनताके सामने नही आने पाती, परन्तु सरकारी स्तरपर झकझक होती रहती है। प्रादेशिक सरकारे अपनी शासनस्वतन्त्रताको अक्षुण्ण रखना चाहती है और केन्द्रीय हस्तक्षेप उनको बुरा लगता है। यदि कही कोई काम सन्तोषजनक ढगसे नही होता तो केन्द्रीय मन्त्री पार्लिमेण्टमे खडे होकर प्रादेशिक सरकारको दोषी ठहरा देते है। प्रादेशिक मन्त्री भी उत्तर दे सकते है, देते भी है, परन्तु केन्द्रका अधिक प्रभाव पडता है, केन्द्रीय विज्ञप्तियोका अधिक प्रचार होता है और प्रदेश नाहक दोषी ठहरा दिया जाता है।

कुछ दिन हुए, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विवादास्पद प्रश्न सामने आया था। उसका चर्चा इस समय दब गया है परन्तु प्रश्नकी महत्ता तो है ही। प्रश्न यह था कि हमारे राष्ट्रपतिके अधिकार किस प्रकारके है? दो उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि उनकी स्थिति ब्रिटेनके नरेश जैसी है। वह स्वतन्त्र रूपसे कुछ नहीं कर सकते, मन्त्रियोके परामर्शसे ही कुछ कर सकते है, उनके नामपर मन्त्रिमण्डल शासन करता है, वह सर्वाधिकारसम्पन्न है। दूसरा उत्तर यह है कि राष्ट्रपतिकी स्थिति अमेरिकन

राष्ट्रपतिके सदृश है। वह मन्त्रियोंके परामर्शको माननेके लिए बाध्य नही हैं, स्वतन्त्र रूपसे काम करनेके अधिकार रखते है। सविधानकी शब्दावलीकी मीमासा तो मै विधानशास्त्रियोंके लिए छोडता हूँ, परन्तु मेरा ऐसा मत है कि वास्तविक स्थिति दोनोंके बीचकी होनी चाहिये। साधारणतः शासन मन्त्रिमण्डलके परामर्शसे ही होना चाहिये परन्तु विशेष परिस्थितियोमे राष्ट्रपतिको हस्तक्षेप करनेका अधिकार होना चाहिये। कब विशेष परिस्थिति उत्पन्न हुई, इसका निर्णय भी राष्ट्रपति ही करेंगे। यदि हमारे सविधानमे इसके लिए गुञ्जाइश नही है तो होनी चाहिये।

देशमे राजनीतिक दलोंकी भरमार है। इनमेसे कुछ ऐसे है जो शासनाधिकारके लिए केवल चुनावके भरोसे बैठे रहनेको तैयार नही है। कोई-कोई दल यो ही किसी-न-किसी प्रकारका आन्दोलन चलाया करता है। इससे राष्ट्रके धनका तथा दूसरे साधनोका घोर अपव्यय होता है। जनता ऊब जाती है। उसका ऐसा विश्वास होने लगता है कि राजनीतिक नेता और दल देशकी अवस्थाको बिगाड तो सकते है, सॅभाल नही सकते। जब वह पड़ोसके देशोपर दृष्टिपात करती है तो दूसरी ही बात देख पडती है। एशिया और अफ्रीकाके अधिकाश राज्योमे लोकतान्त्रिक व्यवस्था या तो समाप्त कर दी गयी है या परकैंच होकर सॉसभर ले रही है। सेना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे शासनको सॅभाले हुए है। यहॉ भी ऐसी अवस्था उत्पन्न हो सकती है। यदि कही एक बार सेनाके हाथमे शासनकी बागडोर गयी तो दीर्घ कालके लिए लोकतन्त्रका नाम मिट जायगा। ऐसा न होना चाहिये। तब फिर इस बातकी व्यवस्था होनी चाहिये कि यदि शान्तिभगकी आशका हो या लोकतन्त्रके लिए सकटकी स्थिति उत्पन्न होती देख पड़े तो राष्ट्रपति हस्तक्षेप कर सके। किसी प्रधानमन्त्रीके लिए कभी-कभी खुलकर काम करना कठिन होता है क्योकि वह स्वय एक दलका प्रतिनिधि होता है। राष्ट्रपति निरपेक्ष होता है। इस बातकी आशका न होनी चाहिये कि राष्ट्रपति अपने अधिकारका

दुरुपयोग करेगा। वह स्वयं सार्वजनिक कार्यकर्ता रहा होगा और अनावश्यक हस्तक्षेप करके न तो अपना बोझ बढ़ाना चाहेगा, न अपनेको लोकमे अप्रिय बनाना चाहेगा। मुझे ऐसा लगता है कि इस समय हमारे लोकतन्त्रके दुर्बल वृक्षको इस प्रकारकी रक्षाकी आवश्यकता है।

एक और स्वगत द्वन्द्व है जो इन सबसे गम्भीर है। कांग्रेसने उसको जन्म देकर अपने गलेमे बाँध लिया है। अब उससे दम घुट रहा है। पुरानी—स्वाधीनतासे पूर्वकी—कांग्रेसके सघटनमे नीचेसे लेकर ऊपरतक, मण्डलमे लेकर अखिल भारतीय स्तरतक, कमेटियाँ थी। स्वराज्यप्राप्तिके बाद एक प्रकारसे कांग्रेसका काम समाप्त हो गया, उसका सकल्प पूरा हो गया। महात्माजीकी राय थी कि कांग्रेसका वर्तमान रूप समाप्तकर दिया जाय। वह राजनीतिक कामोको छोडकर केवल रचनात्मक काम करे। जो लोग विधायिकाओंमे जाना चाहते हो वह अपनी पृथक् सस्था बना ले। उनकी यह बात न मानी गयी। जो कुछ दूसरे काम होते रहे हो उनमे विधायन भी जोड लिया गया।

परन्तु १९४७ की कांग्रेस १९२१ की कांग्रेस नहीं थी। स्वराजके पहिले कांग्रेसमे आना घरफूँक सौदा लेना था। जेल, गोली, जायदादकी जब्ती, अपमान, के लिए तैयार रहना था। १९४७ मे कांग्रेस सरकारी नौकरी, स्थानीय शासननिकायोंकी सदस्यता, तथा प्रादेशिक और केन्द्रीय विधायिकाओंकी मेम्बरी, का द्वार बन गयी थी। पुराने कांग्रेसजन सब ऋषिकल्प महात्मा नहीं होते थे परन्तु समय-समयके आन्दोलन खरे-खोटेको अलग कर देते थे। अब कोई कसौटी नहीं रह गयी। ऐसे-ऐसे लोग सदस्य और कमेटियोंके पदाधिकारी बनने लगे जिन्होंने सघर्षके दिनोंमे अपने ऊपर कांग्रेसकी परछाईं भी नहीं पडने दी थी। जो किसी भी प्रकारके दस-बीस लडाकुओंको अपने साथ कर सके वही नेता बना, चरित्रकी जगह रुपयेने ली। पुराने कांग्रेसजन बहुधा इन उपायोसे न परिचित थे, न उनका उपयोग कर सकते थे। ऐसे कांग्रेसजन, जो

काग्रेसकी परम्पराओसे दूर रहे थे, काग्रेस कमेटियोके पदाधिकारी इसीलिए बनते थे कि विभिन्न चुनावोमे इनका हाथ रहे। पुराने कर्मठ काग्रेसजनके भाग्यका निर्णय इन लोगोके हाथमे आ गया था।

विधायिकाओंके सदस्योको जनता चुनती है। उनको लाखो मनुष्योके सामने जाना पडता है, उनके भले-बुरेकी परख खुल कर होती है, हजारो वोटोके बलपर चुने जाते हैं। चुननेवाले सभी विचारोके होते हैं। ऐसे चुने हुए सदस्योके बहुमत-दलके नेता सरकारमे होते हैं। उनको सभी लोगोका लिहाज करना पडता है, सबकी सुनना पडता है। उनके ऊपर करोडो मनुष्योंके जान-मालकी जिम्मेदारी होती है। यदि राज्यमे कोई काम बिगडता है तो दोषी मन्त्रिगण ही ठहराये जायँगे। दूसरी ओर, प्रादेशिक या अखिलभारतीय काग्रेस कमेटीके पदाधिकारियोके चुननेवाले मुट्ठीभर व्यक्ति होते है और सब एक ही दलके। इन पदाधिकारियोपर कोई दायित्व नही है। देशमे अच्छा-बुरा जो हो, कोई इनसे जवाब नही मॉग सकता। परन्तु आलोचनाका इनको असीम अधिकार है। सरकार यदि किसी कामको करना चाहे तो काग्रेस कमेटी कटु आलोचना कर सकती है, सरकारको सीधे कह सकती है कि यह काम मत करो। काग्रेसकी सरकार अपनी ही सस्थासे क्या लडे, चुप रह जाती है। शासनका दायित्व एक जगह, निरकुश आलोचनाधिकार दूसरी जगह—यह अन्धेर कबतक चलेगा? केन्द्रमे और प्रदेशोमे, कई बार सघर्ष हो चुके है। मेरी रायमे तो इस परिस्थितिका अन्त तभी होगा जब काग्रेस-कमेटियॉ तोड़ दी जायँ, अर्थात् शासनसे इनका सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया जाय।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि इनके द्वारा बहुत-सा रचनात्मक कार्य और प्रचार होता है, तोडनेसे वह बन्द हो जायगा। मै इससे सहमत नही हूँ। रचनात्मक कामके लिए इनको सारा रुपया सरकारसे मिलता है, आयोजन सरकारी होते है। जबतक सरकार रुपया देगी, कार्यकर्ता मिलते रहेगे। अच्छे-अच्छे कार्यकुशल और देशभक्त व्यक्ति सामने आयेगे।* चुनावके समयको छोडकर कोई प्रचारकार्य भी नही

होता। आजतक कांग्रेसने कोई नयी विचारधारा नहीं निकाली, किसी दार्शनिक तथ्यको, जीवनके किसी दार्शनिक आधारको, स्थापित नहीं किया। फिर कमेटियाँ प्रचार किसका करेंगी?

यह विचारणीय प्रश्न है। देशको साहसके साथ इनका निर्णय करना ही होगा। देर करनेसे क्षति होती है। काममें इस समय भी काफी बाधा पड रही है। हम टालते जा रहे हैं परन्तु टाल देनेमें समस्याएँ सुलझतीं नहीं, उलझन बढती ही जाती है।



: २२ : **लोकतन्त्र**

हमने अपने संविधानकी आधारशिलाके रूपमें लोकतान्त्रिक व्यवस्थाको स्वीकार किया है। इसके सिवाय हमारे लिए दूसरा श्रेयस्कर मार्ग था भी नहीं। सबसे अच्छी सरकार वह है जिसमें शासनका अधिकार समाजके योग्य, चरित्रवान् और त्यागी व्यक्तियोंके हाथमें हो। परन्तु अभीतक कोई ऐसा उपाय नहीं निकल सका है जिसमें ऐसे ही लोग चुने जा सकें। आदर्श शासक कहाँ मिलते हैं? लोकतन्त्रमें यह अच्छाई है कि वह सबसे कम हानिकर है और प्रायः नागरिकोंके व्यक्तित्वको प्रस्फुटित होनेका अवसर देता है। उत्कृष्ट कोटिका शासक जितनी भलाई कर सकता है उतनी भलाई लोकतन्त्र नहीं कर सकता, उतने थोड़े समयमें तो नहीं ही कर सकता, परन्तु उच्छृङ्खल शासकके बराबर अहित करना भी उसके लिए कठिन होता है। व्यवस्थापिकामें कई दलोंके प्रतिनिधि होते हैं, समाचारपत्र होते हैं, जनतामें भाँति-भाँतिकी आलोचना होती है, इससे शासनपर रोक-थाम रहती है।

परन्तु यह न भूलना चाहिये कि लोकतन्त्र साधनमात्र है, साध्य नहीं है। यह विचारणीय है कि राज्यकी सत्ता क्यों है? मनुष्यसमाजमें राज्य क्यों होते हैं? इस प्रश्नका जो भी उत्तर हो वही साध्य होगा। उसकी प्राप्तिके जो भी उपाय हों वह साधन होंगे। राज्यकी सत्ताके सम्बन्धमें राजनीतिविशारदोंने कई प्रकारके विचार प्रकट किये हैं। बहुधा भारतीय विद्वानोंका यह मत रहा है कि राज्य मात्स्यन्यायसे त्राण करता

है। एक समय था, जब सब मनुष्य स्वच्छन्द थे, राज्य नहीं था, सरकार नहीं थी। उस समय बलवान् दुर्बलको सताता था, ठीक उसी प्रकार जैसे समुद्रमें बड़ी मछली छोटी मछलीको खा जाती है। इसीलिए इस अवस्थाको मात्स्यन्याय कहते हैं। तंग आकर लोग मनुके पास गये कि आप हमारे शासक बनिये, हमको एक-दूसरेसे बचाइये, हम आपकी आज्ञाके वशवर्ती रहेंगे और कार्यसंचालनके लिए अपनी आयका एक अंश करके रूपमें दिया करेंगे। यूरोपमें रूसोने 'सोशल काण्ट्रेक्ट'का जो मत प्रचारित किया था वह इससे मिलता-जुलता था। महात्माजीका कहना था कि राज्यका उद्देश्य है रामराज्यको स्थापित करना। ईसाई विचारक भी यही मानते हैं कि पृथिवीपर ईश्वरका राज्य स्थापित करना राज्यका उद्देश्य है।

राज्यके स्वरूपको समझानेके लिए समाज और व्यक्तिके सम्बन्धको समझना आवश्यक है। एक मत तो यह है कि व्यष्टिका अपना कोई महत्त्व नहीं है, उसको जो कुछ महत्ता है वह इस बातसे है कि वह समष्टि-का अंग है। उसके जीवनका अपना कोई लक्ष्य नहीं हो सकता, समष्टिका लक्ष्य ही उसका लक्ष्य है। हाथ या पाँव या अँगुलीकी सार्थकता इसी बातमें है कि वह शरीरके हितके लिए साधक है, शरीरसे अलग उनका कोई जीवन नहीं है। समाज उसे जो करने दे वही व्यक्तिका अधिकार है, उसके कोई नैसर्गिक अधिकार नहीं होते। दूसरा मत यह है कि व्यष्टिकी अपनी अलग महत्ता है, उसके अपने नैसर्गिक अधिकार हैं जो उससे अविच्छेद्य हैं, उसके जीवनका अपना अलग लक्ष्य है। समाज उस लक्ष्यकी प्राप्तिका साधनमात्र है क्योंकि समाजसे पृथक् रहकर उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। राज्य समाजका महत्त्वपूर्ण अंग है, इसलिए व्यक्तिके जीवनलक्ष्यकी प्राप्तिका वह बहुत बड़ा साधन हो सकता है। मैंने इस विषयका अपनी पुस्तक 'व्यक्ति और राज'में विस्तृत विवेचन किया है। राज्यकी सार्थकता वहींतक है, जहाँतक कि वह व्यक्तिके जीवनके परम पुरुषार्थ, प्रधान लक्ष्य, मोक्षका, साधक बन सकता है।

राज्यकी साधनता यही है कि वह मार्गमेसे कण्टकोको, बाधाओको दूर करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दे जिसमे यदि व्यक्ति चाहे तो वह पुरुषार्थ-सिद्धिमे लग सके। जहाँतक कि कोई राज्य इस उद्देश्यको स्वीकार नही करता, वह अपने कर्तव्यसे च्युत होता है। जिन उपायोसे राज्य इस कर्तव्यको पालन करनेका यत्न करता है उनमे लोकतन्त्र भी है और अनुभव तथा विचारविमर्शसे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य सब उपायोसे यह अच्छा है। परन्तु लोकतन्त्रके भी कई भेद है। जिन देशोमे हमको तानाशाही व्यवस्था देख पडती है वह भी अपनेको लोकतान्त्रिक कहते है। हम लोकतन्त्रकी कौन-सी शैली अपनाये ?

राज्यका काम है कि जनताके लिए उन चीजोकी व्यवस्था करे जिनके बिना व्यक्तिकी जीवनयात्रा असम्भवप्राय हो जाती है और समाज उच्छिन्न हो जाता है। भोजन, चिकित्सा, शिक्षा, वेरोजगारोको काम या भृति, स्वस्थ मनोरजन जैसी बातोंका प्रबन्ध तो सभी सभ्य सरकारोको करना ही पड़ता है, शासनका ढाँचा कुछ भी हो। परन्तु मनुष्य केवल शरीर नही है। उसको भौतिक सामग्रीमात्रसे तृप्ति नहीं मिलती। उसको बौद्धिक भोजन तो चाहिये ही, आध्यात्मिक पोषण भी चाहिये। उसकी आत्मा शाश्वत पदार्थ है, जो साधारणतः अपने स्वरूपसे दूर जा पडी है परन्तु निरन्तर उसकी प्राप्तिके लिए यत्नशील रहती है। राज्यको यह भी देखना होगा कि आत्मज्ञानके मार्गमे बाधाएँ न रहे, ऐसी परिस्थिति, ऐसा वातावरण हो जिसमे इस खोजमे रुकावट न पडे। यदि ऐसा न हुआ तो अपने भीतर अतृप्तिका अनुभव होता है, कुछ खोया-खोया-सा लगता है। चित्त अविश्वास और अकर्मण्यताकी ओर झुकता है। यदि कुछ दिनोतक यह अवस्था बनी रही तो समाजके जीवनपर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। लोकतन्त्रकी सफलताकी यह बहुत बडी कसौटी होगी कि वह इस बातको ध्यानमे रखता है।

आजकल लोकतन्त्रके सम्बन्धमे जो विभिन्न मत है उन सबकी तहमे प्रायः दो सिद्धान्त है : पहिला तो यह है कि लोग स्वशासन चाहते है और

दूसरा यह कि प्रायः सभी लोग अपने और दूसरोके ऊपर शासन करनेकी योग्यता रखते है। दोनो सिद्धान्त भ्रामक है। न तो इनका समर्थन मनोविज्ञान करता है, न इतिहास। जो बाते जीवनकी दैनन्दिन आवश्यकताओसे सम्बद्ध है, ऐसी बातें जिनका अन्तर्भाव स्थानीय स्वायत्त शासन—ग्राम पञ्चायत, नगरपालिका, जिला परिषद्मे होता है, उनमे तो लोगोको गहिरी अभिरुचि होती है, इनके सिवाय, लोगोंको स्वशासनमे उतनी दिलचस्पी नही होती जितनी सुशासनमे। सुशासनका यह लक्षण तो है ही कि मनुष्यके मौलिक अधिकारोकी, उन अधिकारोकी जो नैसर्गिक और अविच्छेद्य हैं, रक्षा हो और जनताके प्रतिनिधियोका शासनपर नियन्त्रण रहे ताकि शासक उच्छृङ्खल न हो जायँ। परन्तु आजकल लोकतन्त्रके नाम-पर जो आडम्बर रचा जाता है वह व्यर्थ है। महीनो व्यवस्थापिकाएँ बैठी रहें, निरन्तर वाद-विवाद होता रहे, नित्य नये कानून बनते रहे जिनका अर्थ स्वय बनानेवाले बहुधा नही समझते—यह सब अनावश्यक है और लोकतन्त्रका अनिवार्य अग नही है।

लोकतन्त्र तभी चल सकता है जब नागरिक शिक्षित हो और उनकी कर्तव्यबुद्धि उदात्त हो। फिर भी प्रत्येक शिक्षित नागरिक इस योग्य नही होता कि वह शासनका दायित्व अपने हाथोमे ले सके या उन महत्त्वपूर्ण प्रश्नोपर यथार्थ सम्मति दे सके जिनके समुचित उत्तरपर राष्ट्रो-का जीवन निर्भर रहता है। राजनीतिके लिए गम्भीर अध्ययन और प्रशिक्षणकी आवश्यकता होती है। परन्तु आजकी निर्वाचनपद्धति योग्यताकी परख नही कर सकती। अमेरिकाके प्रसिद्ध राष्ट्रपति लिकनने कहा था कि 'लोगोके हितके लिए लोगोंके द्वारा लोगोका शासन' लोकतन्त्र है। बर्नर्ड शॉके मतसे यह परिभाषा 'कर्णप्रिय मूर्खता' है। जर्मन विचारक —नेत्शेका कहना है कि लोकतन्त्र पतित ढगका सघटन है। मै ऐसा तो नही कहता परन्तु यह मै भी समझता हूँ कि लोगोके हितके लिए लोगोके शासनका यह अर्थ नही है कि लोग स्वय शासन करे या ऐसे प्रतिनिधियोके द्वारा शासन हो जिनकी योग्यता निर्वाचकोकी योग्यतासे ऊँची नही है।

ऐसा शासन लोकतन्त्रको भेडियाधसान, भीडतन्त्र बना देता है।

योग्यता और चरित्रकी कोई कसौटी होनी चाहिये। साक्षरतामात्र पर्याप्त नही है। यह भी देखना चाहिये कि प्रत्याशीने कुछ लोकसेवा भी की है या नहीं। अपने लिए वोट माँगना या वोट माँगनेके लिए संगठन खडा करना अवैध कर देना चाहिये। आज केन्द्रीय और प्रादेशिक विधायिकाओके लिए सदस्य सीधे चुने जाते है। यह विचारणीय है कि इसकी जगह यदि कोई दूसरी पद्धति चलायी जाय तो क्या परिणाम होगा। कुछ देशोमे ऐसी पद्धतियाँ है। ग्राम-पंचायतोके द्वारा जिला-परिषदोके, जिलापरिषदोके द्वारा प्रादेशिक विधायिकाके और प्रदेशसे केन्द्रीय संसदके सदस्य चुने जायँ तो कैसा हो? पृथिवीका इतिहास बताता है कि कभी-कभी सार्वजनिक रंगमंचपर कोई ऐसा व्यक्ति यकायक आ जाता है जो बिना किसी प्रशिक्षण, बिना किसी तैयारी, बिना किसी अनुभवके ऐसे कामोंका सम्पादन कर देता है, जिनके लिए असाधारण क्षमता चाहिये, परन्तु ऐसे लोग अपवाद हैं। इनके आधारपर नियम नही बन सकते। हमको तो यह मानकर चलना होगा कि साधारण लोग ही मिलेगे। इनमेसे ही योग्य और चरित्रशील मनुष्योको चुनना और काम करनेका अवसर देना होगा।

स्वराज्यप्राप्तिके बाद पाश्चात्य संविधानोकी नकल करना हमारे लिए आवश्यक नहीं था। हमको चाहिये था कि प्रत्येक प्रश्नपर विचार करके भारतीय परम्पराओके आधारपर उसको सुलझाते। इस प्रकार हम जगत्के सामने लोकतन्त्रका नया और स्वस्थ रूप रख सकते थे। ऐसा न करके हमने भूल की। अब हमको वह सब कठिनाइयाँ झेलनी पड रही है जो पश्चिमी संविधानोकी अनुषङ्गी है। हमने ब्रिटेनकी नकल तो की, परन्तु हमारे यहाँ वह पर्यावरण नही है जिसमे ब्रिटेनका शासनवृक्ष फला-फूला।

लोकतन्त्र-शासनकी कुछ विशेषताएँ है जो उसको अन्य व्यवस्थाओ-से पृथक् करती है, परन्तु लोकतन्त्र किसी विशेष प्रकारकी शासनव्यवस्था-का ही नाम नहीं है। वह विशेष प्रकारकी मनोवृत्तिका प्रतीक है। यदि

यह मनोवृत्ति ढीली हुई तो अच्छासे अच्छा लोकतान्त्रिक संविधान देरतक टिक नहीं सकता। ऐसा लगता है कि हमारे देशमें इस मनोवृत्तिकी कमी है। अभी साधारण जनतामें तो यह पुष्टरूपसे घर नहीं ही कर सकी है, नेता भी कभी-कभी डिग जाते है। ऐसे कई अवसर आये है जब नीचेकी सस्थाओको अपने वैधानिक अधिकारसे काम लेनेमें रोका गया है, उनपर अनुचित दबाव डालकर इच्छाके विरुद्ध कदम उठानेके लिए विवश किया गया है। सम्भव है नेताओकी नीयत शुद्ध रही हो और उन्होने जो कुछ किया हो लोकहितसे प्रेरित होकर ही किया हो, परन्तु दूसरे लोग उनके कामोंको नजीर मान कर बुरे उद्देश्यसे भी उसी मार्गपर चल सकते हैं। एक ईटका खिसकना एक दिन सारी इमारतको गिरा सकता है। मनुष्यसे भूले तो होती ही है परन्तु भूल सुधारनेके नामपर ऊपरवालोका बार-बार हस्तक्षेप करना लोकतान्त्रिक ढॉचेको दुर्बल कर देता है।

हमको इस बातकी शेखी है कि हमारा लोकतन्त्र धर्मनिरपेक्ष है। यह शब्द अग्रेजीके 'सेक्युलरिज्म'की जगह व्यवहारमें आता है पर उसका यथार्थ समानार्थक नहीं है। 'सेक्युलरिज्म'का तात्पर्य यह है कि शासन, शिक्षा, नैतिकता आदिको 'रेलिजनसे पृथक्, निरपेक्ष, रखा जाय। कठिनाई यह है कि सस्कृतमें रेलिजनके लिए कोई शब्द नहीं है। यदि हमको कोई इस देशमें प्रचलित शब्द लेना हो तो 'मजहब'से काम लेना होगा। मजहब या रेलिजनका कोई प्रवर्तक होता है, कोई एक विश्वाससूत्र होता है जो सबको मानना होता है। मुसलमानका विश्वाससूत्र यह है कि केवल अल्लाह उपास्य है और मुहम्मद उसके रसूल हैं और इस मजहबके प्रवर्तक मुहम्मद साहब है। हिन्दुओमें कोई ऐसा सूत्र नहीं, कोई प्रवर्तक नहीं। इसलिए हिन्दुत्वका आधार कोई मजहब नहीं है, मजहबके लिए कोई शब्द नहीं है। धर्म दूसरा पदार्थ है। उसकी परिभाषा है 'यतोऽभ्युदय नि श्रेयस सिद्धिः स धर्म.' जिससे इस लोक और परलोकमें उन्नति हो और मोक्षकी प्राप्ति हो वह धर्म है। सबेरे उठकर टहलनेसे लेकर समाधिपर्यन्त

सभी अच्छी बातें धर्ममें अन्तर्भूत हैं। अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार धर्मके रूपमें भेद हो सकता है—जो अनीश्वरवादी है वह न किसीकी उपासना करेगा, न किसी सन्त, महात्मा, पैगम्बरका मुखापेक्षी होगा—परन्तु धर्मकी आवश्यकता सबको है। जो भी इस लोकमें सुखी रहना चाहता है वह धर्मानुसरण करेगा। मजहबोंमें भेद रहेंगे परन्तु धर्मके मुख्य अंग सर्वमान्य हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, परोपकार, अस्तेय, यही धर्मके लक्षण हैं और यह हिन्दू-मुसलमान, बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, भारतीय-अभारतीय, सबके लिए समान रूपसे उपादेय हैं, सार्वभौम हैं। किसी शासनका, किसी समाजका, यह कहना कि वह धर्मनिरपेक्ष है पागलपन है। इस कहनेका यही तात्पर्य है कि उसकी दृष्टिमें सच और झूठ, परोपकार और परापकार, ईमानदारी और बेईमानी, बराबर हैं। तब यह समझ लेना चाहिये कि जब हम धर्मनिरपेक्ष होनेका दम भरते हैं तो हमारा तात्पर्य यह है कि हम 'मजहब-निरपेक्ष' हैं।

मजहब-निरपेक्ष होना भी लोकतन्त्रका अनिवार्य लक्षण नहीं है। ब्रिटेन सबसे पुराना लोकतन्त्र देश है परन्तु कानूनके अनुसार ईसाई मजहबका प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय वहाँका राजमजहब है। ब्रिटिश नरेशकी उपाधि 'धर्मरक्षक' है। अमेरिकाकी स्वातन्त्र्यघोषणामें ही ईश्वरका चर्चा नहीं है वरन् वहाँके राष्ट्रपति ईश्वरको साक्षी मानकर ही पदकी शपथ लेते हैं। यदि मजहबसे निरपेक्ष होनेका यह अर्थ हो कि सब मजहबोंकी समान रूपसे रक्षा की जायगी, किसी मजहबको न विशेष रूपसे प्रश्रय दिया जायगा न किसीको हीन माना जायगा, शिक्षा, सरकारी पद, व्यवसाय,में धर्मविशेषके साथ पक्षपात न किया जायगा न धर्म-विशेषका अनुयायी होना अपात्रता गिना जायगा, तो यह सर्वथा स्तुत्य है। अशोक बौद्ध धर्मके अनुयायी थे पर उन्होंने वैदिक तथा बौद्धमें कभी भेदभाव नहीं रखा। अकबरने भी यही नीति अपनायी। यह बात भारतीय परम्पराके सर्वदा अनुकूल है और भारतीय राज्य सदा इसका

पालन करते रहे है। यह हमारे लिए कोई नयी बात नही है, न हमे पश्चिमसे यह पाठ पढना है।

परन्तु मजहबको मनुष्य जीवनसे निकालनेके प्रयासका परिणाम भयकर होगा। मनुष्यकी बहुत-सी शारीरिक आवश्यकताएँ है : वह भोजन, वस्त्र, घर चाहता है, गृहस्थीका सुख चाहता है, सन्तान चाहता है। पर वित्तैषणा और पुत्रैषणा ही सब-कुछ नही है। ऊँचा पद अच्छा लगता है, पुस्तके पढना चाहता है, देशाटन करनेको जी चाहता है। परन्तु यह सब यथेष्ट मिल जाय फिर भी अपने भीतर कुछ सूना-सा लगता है, किसी अव्यक्त भूखकी अनुभूति होती है। यह आध्यात्मिक भूख है। यदि इसकी शान्ति न हुई तो अतृप्ति बनी रहती है, जीवन अपूर्ण लगता है। इस भूखका शमन मजहब करता है। उसमे बहुत-सा कर्मकाण्ड होता है, परन्तु इसके सिवाय उपासना भी होती है। सब योगी नहीं हो सकते परन्तु मजहबी उपासनाके द्वारा मनुष्यको ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी शब्दातीत अतीन्द्रिय सर्वव्यापी सत्ताके सामने स्थित है, उस सत्तासे तादात्म्य नहीं तो भी एक प्रकारका आपसका अन्तरग सम्बन्ध स्थापित हो गया है। ऐसी अनुभूति थोडी देरके लिए हो फिर भी उससे बल मिलता है, ओज प्राप्त होता है, आत्मविश्वास बढता है, स्वकी प्रतीति होती है। यह नशा नही, सत्यकी आहट है, अपने स्वरूपकी झलक है। जीवनमे गम्भीरता आती है, सार्थकता मिलती है। मजहब धर्मका अशत' समानार्थक हो जाता है, नि'श्रेयसके मार्गका पहिला पडाव बन जाता है।

राज्य किसी मजहब (या धर्म) विशेषको प्रश्रय दे, इसकी आवश्यकता नहीं है। कई दृष्टियोसे ऐसा न करना ही अच्छा है, परन्तु एक तो अपनेको धर्मनिरपेक्ष कहना छोडना चाहिये, दूसरे उस भावकी पुष्टि करनी चाहिये जो मजहबसे मिलती है। भौतिक बातोसे ऊपर कोई सत्ता, कोई शक्ति है, जो इस जगच्चक्रको घुमा रही है। उसके प्रति श्रद्धाका भाव जगाना चाहिये। यह भी भ्रान्त धारणा है कि हम सत्य, सदाचार, त्याग आदि नैतिकताको

धर्मका नाम लिये बिना ही जगा लेंगे। यह प्रयोग कहीं सफल नहीं हुआ, आचारको धर्मसे ही सबल मिला करता है।

दुर्भाग्यसे हमारे देशमें इस समय उलटी धारा बह रही है जो समाज-को भँवरमें डुबाकर छोडेगी। हमारे चोटीके नेताओंको धर्मपर, किसी भी मजहबपर, आस्था नहीं है। राजनीतिक कारणोंसे वह गौतमबुद्धका नाम ले लेते हैं, भगवद्गीताकी प्रशंसा कर देते हैं, परन्तु बुद्ध और कृष्णकी आध्यात्मिक शिक्षामें उनका कोई लगाव नहीं, फलतः उनकी कही हुई बातोंमेंसे उनका ही चर्चा होता है जिनमें आध्यात्मिकताकी गन्ध न हो। ऐसा करना बुद्ध या कृष्णकी विशेषताको ही नष्ट कर देना है। सच बोलो, त्याग करो, ऐसी बातें तो प्रारम्भिक स्कूलका कोई भी अध्यापक कह सकता है। इस समय धर्मका नाम लेना 'फैशन'में नहीं है। गण्यमान्य नेताओंको यह शब्द पसन्द नहीं है, इसके पीछे जो भावना है वह पसन्द नहीं है, उसमें पुराणपन्थीपनकी दुर्गन्ध आती है, उनका अनुकरण दूसरे करते हैं। पढे-लिखे लोग इसका चर्चा करते डरते हैं, ईश्वर या धर्म जैसे शब्द जिह्वापर नहीं आने पाते, कोई अध्यापक छात्रोंके सामने ऐसी चीजोंका नाम नहीं लेता। डा० राधाकृष्णन् अंग्रेजीमें बोलते हैं और उनकी आवाज विदेश पहुँचती है। इसलिए वह अपवाद है।

यह बात अच्छी नहीं है। राष्ट्रमें अश्रद्धाको बढाना, केवल भौतिक-स्तरको सामने आने देना, व्यक्ति और राष्ट्र दोनोंको रोगी बना देता है। जो केवल तर्कके सहारे जीवन चलाता है वह उस पतंगके समान है जिसकी डोर कट गयी है। उसको कहीं स्थिरता नहीं मिलती। एक तर्क दूसरेको काटता रहता है, विश्वास बदलते रहते हैं, कहीं दृढ सहारा मिलता ही नहीं। ऐसे हिलते कन्धे लोकतन्त्रके बोझको देरतक नहीं सँभाल सकते।

आज हमारे देशकी नयी पीढीको देखिये। उसने और चाहे जो पढा हो परन्तु चिन्ताकी अवस्थामें, जीवनके संघर्षोंके बीचमें, उसके पास बल,

सहारा, सान्त्वना, देनेवाला कोई पदार्थ नहीं है। मनुष्यके भीतर शक्तिका गम्भीर भण्डार भरा पड़ा है परन्तु हमारे लड़के-लड़कियोंको भीतर देखनेका अभ्यास ही नहीं है। इसमें उनका दोष नहीं है। किसीने उनको सिखाया ही नहीं। यह झूठी निरपेक्षता राष्ट्रका अहित करेगी और उस लोकतन्त्रपद्धतिको हानि पहुँचायेगी जिसके साथ वह जोड़ दी गयी है।



: २३ : जीवनदर्शनका अभाव

यह शिकायत बहुधा सुननेमे आती है कि सरकारकी सुनियोजित योजनाओंके लिए भी जनतामें उत्साह नही देख पडता। जनता तो दूर रही, कांग्रेस कार्यकर्ताओमे भी उत्साहकी कमी है। लोग आश्चर्य करते हैं कि जिन लोगोने स्वराज्यप्राप्तिके आन्दोलनमे इतना त्याग किया, तन-मन-धन लगा दिया, उनको स्वराज्यप्राप्तिके बाद क्या हो गया। लोग हाथपर हाथ धरकर बैठे रहना चाहते है। यह सब सरकारका काम है, वह करे, ऐसा भाव रहता है।

इस बातके कारणोपर भी दृष्टि डाली गयी है परन्तु खोज ठीक-ठीक हुई नहीं। अपनेको निर्दोष मानकर दूसरोपर दायित्व डालनेका यत्न हुआ है। सबसे पहिले तो जनता अपराधी ठहरायी जाती है। यहॉके लोग पुराणपन्थी है, उन्नतिशील, प्रगतिशील नही है, पुरानी बातोको पकडे रहते हैं, नयी बातोको, चाहे वह उनके भलेकी ही हो, जल्दी अपनाते नहीं—यह कारण बहुधा सुने जाते हैं। फिर दूसरी बात यह कही जाती है कि सरकारी अफसरोसे अभी अंग्रेजी जमानेकी गन्ध गयी नही है। अपनेको जनताका हाकिम समझते है, उससे घुल-मिलकर काम नही करते। तीसरा स्थान प्रादेशिक सरकारोका है। उनमे दूरदर्शिताकी कमी है, प्रचार करना नही जानती। इन सब बातोमे आंशिक तथ्य हो सकता है परन्तु और गहिराईमे जाना होगा। दूसरोपर कीचड उछालनेसे काम नहीं चल सकता। ऑख खोलकर देखनेसे कुछ बाते आप ही सामने आ

जाती है। उनमेंसे पहिली बात है कांग्रेसकी ओरसे लोगोंका खिंचाव। आजसे लगभग दो दशाब्दी पहिले नवयुवक कांग्रेसकी ओर आकृष्ट होते थे, हँसते-हँसते लाठी, जेल, गोलीका वरण करते थे। आज सिवाय थोडे-से लोगोंके कांग्रेसमे वही सम्मिलित होता है जो जिला परिषद्, प्रादेशिक विधानसभा या केन्द्रीय संसदका सदस्य होना चाहता है या नौकरीका इच्छुक है और यह समझता है कि कांग्रेसमे आनेसे उसको सहायता मिल जायगी। नवयुवक या तो कम्युनिस्ट दलमे जाते है या जनसंघमे। शासन कांग्रेसके हाथमे है, अभी इन दलोमे जानेसे विशेष भौतिक लाभ नहीं हो सकता। फिर भी आखिर नवयुवक क्यो उनकी ओर झुकता है? कुछ ऐसे लोग हो सकते हैं जो यह सोचते हो कि भविष्यमे शासनका सूत्र इनमेंसे किसी एक दलके हाथमे जानेवाला है परन्तु नवयुवकपर इस बातका प्रभाव नहीं पडता।

युवकोमे बहुत बडी संख्या और महत्त्वका स्थान विद्यार्थियोका है। आज विद्यार्थी जगत्मे चारो ओर हलचल है। हडतालें होती है, अनशन होते हैं, प्रदर्शन और जलूस होते हैं, दूकानदारोसे झगडे होते है, अध्यापकोके मुँहपर बुरा-भला कहा जाता है। हम पुराने लोगोको यह सब देखकर दु:ख और क्रोध होता है। हम कितने अच्छे आदमी थे, जब हम पढते थे यह सब उपद्रव नहीं होते थे। आजकलके लडके बहुत खराब हो गये हैं। ऐसा सोचनेसे हो सकता है कि हमारे चित्तको कुछ खुशी होती हो परन्तु बात ठीक नहीं है। आजका युवक पहिलेसे बुरा नहीं होता। उसको उत्पात करनेमे मजा नहीं मिलता, न वह स्वभावत. राक्षस है। एकाध बातोंमे वह हमसे अच्छा है। यदि वह उन्मार्गगामी हो रहा है तो इसमे उन परिस्थितियोका दोष है जिनमे वह रह रहा है।

जिस समाजमे युवक रहता है उसमे बडी तेजीसे परिवर्तन हो रहा है। कुछ स्वतः होता है और कुछ हमारे नये कानूनोंके कारण, जिनमेंसे कुछकी सुविचारिताके बारेमे सन्देह किया जा सकता है। सामाजिक उथल-पुथलके दो-एक उदाहरण पर्याप्त होगे। सम्मिलित परिवारप्रथा

टूट रही है, प्रायः टूट गयी है। इस प्रथामे कई दोष थे परन्तु एक बहुत बडा गुण भी था। परिवारके प्रत्येक व्यक्तिके लिए एक निश्चित ठिकाना था। हर लडकीका विवाह हो जाता था, हर लडकेकी पढाई-लिखाईका प्रबन्ध हो जाता था, हर वृद्धको नमक-रोटी मिल जाती थी। अब इस प्रथाके टूटनेसे पारिवारिक दायित्वका बन्धन ढीला हो गया। एक मित्रने कहा था कि अब तो जबतक बाप-माँ जीते है तबतक भाई भाई रहता है बादमे रिश्तेदारमात्र हो जाता है। मै सुरक्षित हूँ, यह विश्वास हिल गया। अब कानूनने लडकियोको सम्पत्तिमे अधिकार दे दिया है। अभी-तक पिताके मरनेपर भाई पिताके स्थानपर था। बहिनोका विवाह कराना उसका धर्म था। जब बहिन उसके बराबर- हकदार हो गयी तो वह भाव जाता रहा। भाई क्यो दायित्व ले? परन्तु हमारे समाजमे अभी लडकियाँ अपने पाँवपर नहीं खडी हो सकती। पहिले धर्मका जीवनमे बडा स्थान था। धर्मका बहुत बडा बन्धन था। वह ढीला हो गया। सरकारी अदालतका भले ही डर हो परन्तु अधर्म और पापका अकुश जाता रहा। बड़ी उम्रमे विवाह होते हैं, इसलिए विवाहके साथ ही या बहुत थोडे दिन बाद जवान लडके अपनी पत्नियोके साथ घरसे दूर अपनी जीविका कमानेकी जगह चले जाते हैं। वहाँ उनके लडके-बच्चे होते है। इन बच्चोको पितामह-पितामहीके साथ रहनेके कम अवसर मिलते है। बहुएँ ससुरालकी बडी-बूढी स्त्रियोके साथ कम रह पाती है। इसलिए कुलाचारोका लोप होता जा रहा है।

उधर आर्थिक परिस्थितियाँ भी चिन्ताजनक है। चौदह-पन्द्रह वर्षके लडकोको पिता-माताकी आर्थिक स्थितिका भान हो जाता है। किस सकट-से ऋण लेकर, पेट काटकर, वह पढाईका व्यय वहन कर रहे है यह समझमें आने लगता है। अविवाहित बहिनोकी समस्या पारिवारिक वायु-मण्डलको खेदाच्छन्न बनाये रहती है। पढना जारी है, परीक्षाएँ उत्तीर्ण की जा रही है, परन्तु पढकर होगा क्या, इस प्रश्नका कोई सन्तोषजनक उत्तर सामने नही होता। जीविकाका मार्ग प्रशस्त नही प्रतीत होता।

एक ओर चिन्ता मारे डालती है, दूसरी ओर जीवनतरीके लिए कोई पतवार नहीं, सामाजिक या धार्मिक कोई बन्धन नहीं, किसी तत्त्व, किसी विचारपर श्रद्धा नहीं। ऐसी अवस्थामे युवकका मस्तिष्क एक प्रकारका पागलखाना बना होता है। जो बात किसीसे सुन ली, उसीके पीछे दौड पडे। कुछ करते रहनेसे गम गलत हो जाता है, चिन्ता दबी रहती है। जितनी ही उग्र विचारधारा हो, चित्तको भाती है। मनमे ऐसा भाव रहता है कि अब जैसी दशा है उससे बुरा क्या होगा, परिवर्तन स्वय साध्य बन जाता है। जहाँ किनारा देख ही नही पडता, वहाँ जिधर हवा ले जाय बहना ही होगा, स्यात् कोई ठिकाना मिल ही जाय।

एक और खराबी है। प्रकृति हमारी दुर्व्यवस्थाका लिहाज नहीं करती। उसने पुरुष और स्त्री दोनोके लिए विवाहवयकी कुछ सीमाएँ बना रक्खी है। परन्तु आर्थिक कारणोसे विवाहका वय बढता जाता है। प्रकृति तो दण्ड देती ही है, पुरुष और स्त्री दोनो ही मानस रोगोके शिकार बनते है, भाँति-भाँतिके उन्मादोंके वशीभूत होते हैं।

यह केवल व्यक्तियोका प्रश्न नही है, सारे समाज, सारे राष्ट्रकी समस्या है। जहाँ व्यक्तियोंका जीवन इतना असन्तुलित, इतना चिन्तातुर, इतना अपूर्ण होगा, वहाँ राष्ट्रका जीवन भी निश्चय ही अस्वस्थ होगा। इस कुव्यवस्थाको बदलना ही होगा। आर्थिक व्यवस्था सुधारनी होगी, समाजमे नयी मान्यताएँ स्थापित करनी होगी, श्रद्धा और विश्वासका फिरसे सञ्चार करना होगा। यह एक दिनका काम नही है। बरसोतक एडी-चोटीका पसीना एक करना होगा, सुविचारित, नियोजित ढगसे काम करना होगा, त्यागवृत्ति, उत्साह और लगनसे निरन्तर श्रम करना होगा। परन्तु त्याग और उत्साहकी तो प्रत्यक्ष ही कमी है। इन गुणोको कैसे लाया जाय? हम फिर वहीं पहुँच गये जहाँसे यह अध्याय आरम्भ हुआ था।

आखिर हम लोगोसे किस लक्ष्यके लिए काम करनेको कहते है? हम कहते है कि हमने कल्याणकारी राज्य स्थापित किया है। कल्याण

किसको कहते है ? शास्त्रकारोने श्रेय और प्रेयमे भेद बताया है। श्रेय वह है जिससे आत्माका वास्तविक हित होता है, प्रेय वह है जो हमको प्रिय लगता है। प्राचीन मतसे तो श्रेय ही सच्चा कल्याण है पर हमारे नेताओकी परिभाषामे कल्याण प्रेयका पर्याय है। वह कल्याणके सम्बन्धमें भोजन, घर, शिक्षा, स्वास्थ्यव्यवस्था जैसी बातोका चर्चा करते है। यह सभी वस्तुएँ उपादेय है, इसमे सन्देह नही। इनके बिना तो काम चल ही नही सकता। कहावत है कि 'भूखे भजन न होइ गोपाला।' किसी भी दलकी सरकार हो, इन बातोकी ओर ध्यान देगी। प्रजाको नगा-भूखा रखकर अन्धेर नगरीका शासन भी बहुत दिनोतक नही चल सकता। लोग इन चीजोकी प्राप्तिके लिए परिश्रम कर सकते है, कभी-कभी आपसमे लडते भी है। परन्तु इन चीजोंके नामपर क्रान्तियाँ नहीं होती, समाजोका कायापलट नहीं किया जा सकता। रोटी-कपडा जिन भौतिक वस्तुओका प्रतीक है वह वासनाको जगाती है परन्तु वासना मनुष्यके चरित्रको ऊपर नहीं उठाया करती। वह चित्तकी वृत्तियोको सकुचित करके मनुष्यके अधम 'स्व'मे, स्वार्थमे, केन्द्रित कर देती है। वासनामे त्यागके लिए जगह नहीं होती। वासनाके सहारे ऊपर उठनेका प्रयास उतना ही हास्यास्पद है जितना अपने कमरमे बँधी हुई धोतीकी छोर पकडकर ऊपर उठनेकी बात सोचना। क्रान्ति, आमूल परिवर्तन, नये युगका सर्जन, तब होता है जब मानव अपनेको भूलकर, अपनी वासनाओसे ऊपर उठकर, अपनेसे किसी विशाल तत्त्वके साथ तल्लीनता, तादात्म्य, प्राप्त करता है। १९२१ से १९४२ तकके कांग्रेस कार्यकर्ताने त्याग किया, आत्मबलि दी, इसलिए नहीं कि उसे रोटी-कपडेकी आशा थी—उसको तो यह निश्चय भी नहीं हो सकता था कि अपनी आँखोसे स्वराज्य देख लेगा—प्रत्युत इसलिए कि उसने सारे देशके साथ तदात्मताका अनुभव किया। महात्माजीने उसकी वासनाको नहीं जगाया वरन् उसके उस प्रसुप्त 'स्व'को जगाया जो इस अनन्त विश्वका प्रतिबिम्ब है, जो विशालतामे ही अपनी कृत्स्नताका अनुभव करता है, अपने वास्तविक रूपकी झलक देखता है। त्याग और

तपस्यासे आत्माके आवरण हट जाते है और उसका स्वरूप निखर उठता है।

एक और बात ध्यानमे रखने योग्य है। आदर्शतक पहुँचनेके प्रयासमे अपने लिए कुछ न चाहते हुए काम करनेमे संघर्ष और द्वन्द्वके लिए स्थान नहीं होता, परन्तु वासनाकी तृप्तिके प्रयत्नमे प्रतियोगिताका भाव आता है। प्रायः बुभुक्षुओ, भोगकी इच्छा रखनेवालोकी सख्या अधिक होती है, भोग्य वस्तुओकी सख्या कम। इसलिए आपसमे होड लगती है। इस क्षेत्रमे काम करनेवालोके सामने सदैव पुरस्कार रहता है। यो तो मबको पुरस्कार मिल सके, भोगसामग्री उपलब्ध हो जाय, तो बहुत अच्छा है परन्तु कमसे कम मुझको तो मिलना ही चाहिये, यह विचार व्यक्त या अव्यक्त रूपमे चित्तमे रहता है। इसलिए वासनाके विषयो-का नाम लेकर सच्चे त्याग और उत्साहकी आशा रखना आकाशकुसुमसे इत्रकी आशा रखनेके समान ही है।

यह दुःखकी बात है कि हमारे देशमे कर्णधारोका ध्यान इस ओर नहीं गया। जनताके सामने कोई आदर्श नहीं है, नि स्वार्थ कर्मके लिए कोई प्रेरणा नहीं है। चारो ओर विचारधाराओकी भरमार है, उलटे-सीधे आदर्शोकी धूम है, परन्तु हम कांग्रेसजन विचारोका सामना क्विनीनकी गोलियो और थर्ड क्लासके डब्बोमे लगे पखोंसे करना चाहते है।

सभी राजनीतिक दलोको इस बातका ज्ञान है कि युवकोमे बेचैनी है। वह इससे लाभ उठाना चाहते हैं। वह रोटी-कपडेके कार्यक्रम तो पेश करते ही है परन्तु इसके साथ ही कोई ऐसी विचारधारा भी उपस्थित करते है जो ऊँचे आदर्शोको सामने लाती है। हमको हिन्दुत्वका उद्धार करना है या जगत्मे वर्गहीन, वर्णहीन, विश्वबन्धुत्वमूलक समाजकी स्थापना करनी है या कोई ऐसी ही बात कही जाती है। युवकके मस्तिष्क-मे जो शून्यता है वह इनमेसे किसी एक बातसे भरती है। वह ऐसी किसी विचारधाराको स्वीकार करते ही दूसरा आदमी बन जाता है। उसके सामने ऊँचा लक्ष्य होता है, जीवनको सार्थकता मिल जाती है, चरित्रका

उन्नयन होता है, वह इस आदर्शकी वेदीपर सब-कुछ होम करनेको तैयार हो जाता है। यदि वह बडा उद्देश्य सिद्ध हो गया तो रोटी-कपडा तो मिल ही रहेगा। मै न रहूँगा तो क्या, जगत् तो सुखी होगा। काग्रेसके पास इसके उत्तरमे कुछ नहीं है। फिर यदि नवयुवक काग्रेसकी ओर आकृष्ट नहीं होता तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? उसको काग्रेस आत्महीन सस्था प्रतीत होती है।

कम्युनिस्ट पार्टीको लीजिये। विश्वके स्वरूपको बदल देना चाहती है, मनुष्यकी प्रकृतिको बदल देना चाहती है। कम्युनिस्ट किसी देशका निवासी हो, किसी राज्यका नागरिक हो, अपने देश और राज्यके हितके लिए चाहे जो करता हो परन्तु उसकी सर्वोपरि निष्ठा कम्युनिस्ट सिद्धान्त-के प्रति है। वह उस सेनाका सिपाही है जो विश्वका सास्कृतिक, आर्थिक, बौद्धिक विजय करने निकली है। भले ही इसमे शताब्दियाँ लग जायँ पर प्रयत्न निरन्तर जारी रहेगा, न उसके सामने अपना हित है, न अपने देशका। यदि अपने और अपने देशके प्रत्यक्ष हितोका सहार करके भी उस लक्ष्यकी ओर बढा जा सके तो वह सकोच न करेगा। ऐसे सिद्धान्त, ऐसी निष्ठा, मनुष्यको स्वार्थके ऊपर उठा देती है। कम्युनिज्मर्मे ईश्वरके लिए स्थान नही है परन्तु कम्युनिस्टको उसका विश्वास वही स्फूर्ति देता है जो किसी धर्मविशेषके अनुयायियोको उस धर्मके नामपर हँसते-हँसते आगमे कूद पडनेकी शक्ति देता है।

और इसके जवाबमे हमारे पास क्या है? कुछ भी नही। हममेसे कुछ लोग अपने नेतृवृन्दसे बराबर कहते आये है कि इधर ध्यान देना चाहिये। हमको अपने कार्यकलापके लिए, अपने सामूहिक जीवनके लिए, दार्शनिक आधार स्थिर करना चाहिये। परन्तु इस ओर ध्यान नही दिया जाता। यह हमको शोभा नही देता। जिस देशका दर्शनके क्षेत्रमे इतना बडा अधिकार हो, जिसकी विचारपरम्परा इतनी प्राचीन हो, उसमे आज इतना विचारदारिद्र्य हो, वह दु:खकी बात है। बहुत दूर क्यो जायँ, हमारे ही बीचमे तो महात्मा गान्धी हुए थे। वह बराबर

'रामराज्य' का चर्चा करते थे, उसको लक्ष्य मानते थे। 'रामराज्य' नाम बहुत अच्छा नहीं था, इसमें अयोध्याके राजा दाशरथी रामके शासन-की ध्वनि निकलती थी, जिसमें तप करनेके लिए शूद्रमुनिका वध किया गया था और सीताके शरीरमें नारीजातिके साथ घोर अनाचार किया गया था। वैसा राज्य हम नहीं चाहते। परन्तु महात्माजी भी उसे नहीं चाहते थे। यह उन्होंने स्वयं स्पष्ट कर दिया था। वह 'रामराज्य' का व्यवहार उसी अर्थमें करते थे जिस अर्थमें ईसाई लोग प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् तुम्हारा राज्य पृथिवीपर स्थापित हो। इसका दूसरा पर्याय धर्मराज्य हो सकता है। शब्दोंके लिए आग्रह नहीं है पर हमारे पास बड़ा अच्छा अवसर था और है। हमारे सामने कुछ तो स्वप्न होगा ही, होना चाहिये ही, कि हम इस जगत्में कैसी व्यवस्था चाहते हैं, यदि सत-युगको पुनः स्थापित करना हमारे हाथमें हो तो उसको क्या स्वरूप देना चाहेंगे, भविष्यका मनुष्य कैसा होना चाहिये। भारतके प्रति भले ही हमारा विशेष दायित्व हो परन्तु भारत पृथिवीके बाहर नहीं है। आज मनुष्य रेल, तार, बेतार, वायुयानके द्वारा एक-दूसरेके जितना निकट आ गये है उतने निकट कभी भी नहीं थे। अतः भारतकी बात सम्पूर्ण पृथ्वीसे अलग नहीं सोची जा सकती। हम अन्य देशोंसे प्रभावित होते हैं, दूसरे देश हमसे। मनुष्यमात्रका हिताहित एक हो रहा है। इसलिए हमको मानवमात्रको सामने रखकर भविष्यका चित्र बनाना होगा। वही हमारा आदर्श होगा और हममेंसे प्रत्येकको उसके चरणोंपर अपना सर्वस्व अर्पित करना होगा। यही सच्चे ईश्वरार्पण, सच्चे निष्काम कर्म, का मार्ग होगा। यदि एक बार हम जगत्के सामने, अपने युवकोंके सामने, कोई ऐसा आदर्श रख सकें तो फिर न उत्साहकी कमी रह जायगी, न त्याग-की। हमारी जनताके भीतर यह शिक्षा कूट-कूटकर भरी हुई है। चिनगारी है पर उसपर राख पड़ गयी है, थोड़े-से प्रयत्नसे फिर प्रज्वलित हो जायगी। परन्तु हमारे अग्रगण्य नेता पाश्चात्य सभ्यताकी चकाचौंधमें कुछ ऐसा आ गये हैं कि उनको पुरानी बातोंसे चिढ़-सी है। वह उनका सहारा

लेना चाहते ही नहीं। यदि चिनगारीपर राख ही नहीं, पानी पड़ता गया तो आगकी आशा छोड़ देनी चाहिये।

संस्कृतमें मर्यादापुरुषको आर्य कहते हैं। इसी अर्थमें वेदका आदेश है 'कृणुध्वम् विश्वमार्य्यम्'—सारे विश्वके मनुष्योंको आर्य बनाओ। हमको सोचना चाहिये कि हम कैसा आर्य चाहते हैं, वही हमारा आदर्श मनुष्य होगा। उसीको ध्यानमें रखकर शिक्षापद्धतिका निर्माण करना होगा, ताकि वैसी मनोवृत्ति बन सके। सामाजिक और आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था भी ऐसी करनी होगी जिसमें उस मनोवृत्तिको पनपनेका अवसर मिले और बाधाओंपर रोक लग सके।

मैं यहाँ उन गुणोंकी तालिका नहीं देना चाहता जो आर्यमें, भविष्यके मानवमें, होने चाहिये। इसके लिए कैसा पर्यावरण अनुकूल होगा उसके विषयमें भी अधिक नहीं कहना चाहता। इसपर विद्वानों और लोक-नायकोंको विचार करना चाहिये। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः', विचार-विमर्शके बाद ही इन गम्भीर विषयोंका कोई निर्णय हो सकता है। परन्तु एक-दो बातें तो कही जा सकती हैं। हमारा संसार कम्युनिस्ट संसार नहीं होगा। उसमें व्यक्ति ही सारे कार्यकलापका केन्द्र होगा। शासन, अर्थनीति आदि सब-कुछ उसके लिए होगा। समाज और राज्य उसके लिए साधनमात्र होंगे। दूसरी बात यह होगी कि जीवनका आधार संघर्ष नहीं वरन् सहयोग होगा। विराट् पुरुषका स्वरूप भारतकी प्राचीनतम कल्पना है। जड़, चेतन, इस विश्वमें जो कुछ भी है, वह विराट् पुरुषके शरीरका अवयव है। अवयवीके सब अंग एक-दूसरेसे सम्बद्ध होते हैं। ब्रह्मासे लेकर कीटतक एक सूत्रमें बँधे हैं। एकके सुखमें सबका सुख है, एकके दुःखमें सबका दुःख है, सबके सुखमें प्रत्येकका सुख है। हमारे शरीरके किसी भागमें छोटा-सा काँटा चुभ जाय तो सारा शरीर व्यथित हो उठता है। दूसरेकी हानि करना अपनी हानि करना है, जो किसी समझदारको अभीष्ट नहीं हो सकता। इससे एक और बात निकलती है, अधिकारोंके लिए आग्रह करनेसे संघर्ष होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने

कर्तव्योंका पालन करें तो सबको अपने अधिकार आप ही मिल जायँ। यही धर्मभावका मूल है। मैं अपने सुखके लिए ज्ञात-अज्ञात करोड़ों प्राणियोंका, जिनमें देव, मनुष्य, पशु, कीट, वनस्पति, सभी हैं, ऋणी हूँ। यथासम्भव उनका ऋण चुकाना ही चाहिये, इसीमें मेरा हित भी है। शुद्ध बुद्धिसे ऋण चुकानेका प्रयास ही धर्म है।

कोई ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करे या न करे, परन्तु यह तो मानना ही होगा कि जगत्का आधार कोई चेतनतत्त्व है जो सत्य, शिव, सुन्दरम् है, जो सबमें अनुस्यूत है, ओतप्रोत है, जिसमें सब-कुछ स्थित है। वह हमारे श्रद्धा, विश्वास और आदरका आस्पद है।

हमारे अग्रणी नेताओंको कोई इस प्रकारका जीवनदर्शन, इस प्रकारका आदर्श, सामने लाना चाहिये। यदि विराट् और धर्म जैसे पुराने शब्द कर्णकटु लगते हों तो उनका परित्याग करके नये शब्द गढ़ लिये जायँ। किसी दार्शनिक आधारके बिना जीवन सूना, निरुद्देश्य, अकृत्स्न रहेगा। उसमें ओज और उत्साहकी कमी रहेगी। जिस प्रकारके विचारोंकी ओर ऊपर संक्षेपमें संकेत किया गया है वह विश्वसंस्कृतिमें भारतकी देन होंगे। उनसे भारतका तो कल्याण होगा ही, जगत् व्यथित मानवमात्रको शान्तिका सन्देश मिलेगा।



: २४ : गाँवके लिए नियोजन

देहात और देहातमे रहनेवालोकी पूजा आजकलकी राजनीतिका बहुत बडा अग है। देहातकी ओर ध्यान देना स्वाभाविक और उचित है, इस देशकी अधिकाश जनता देहातमे ही रहती है। जो मुट्ठीभर व्यक्ति नगरोंमे रहते है उनका सुख-दुख देशके सुख-दुखका मापदण्ड नही हो सकता। यदि ग्रामीण सम्पन्न नही है, यदि उसको शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, की सुविधा उपलब्ध नही है, तो शासन असफल है, चाहे नगरोमे जो कुछ भी हो रहा हो।

ग्रामीणोके सम्बन्धमे दो प्रकारके विचार देख पड़ते है। कुछ लोग उनको सर्वसद्‌गुणसम्पन्न मानते है। उनकी धारणा है कि ग्रामीण भोला-भाला, विश्वासी और विश्वसनीय, निरक्षर होते हुए भी सहज ज्ञानसे युक्त और भारतीय सस्कृतिकी परम्पराओमे निष्णात्, धार्मिक और न्यायशील होता है। दूसरा पक्ष समझता है कि वह नासमझ, अपने हितको न पहिचाननेवाला, अन्धविश्वासी और कुटिल होता है। परन्तु परिस्थिति वशात्, जो लोग उसको दोषोंका आगार मानते है उनको भी कभी-कभी यशोगाथा गानी पडती है।

यदि ग्रामीणोके सम्बन्धमे केवल कविता करनी होती तो कोई बात न थी, परन्तु यह तो मानना ही होगा कि देशमें उनकी ही सख्या सबसे अधिक है, उनके ही मतोके बलपर सरकारे बनती है। अतः उनके हित-साधनके लिए कानून बनाये जा रहे हैं, अरबों रुपयोकी योजनाएँ बन

रही है। इसलिए ग्राम और ग्रामीणका ठीक-ठीक चित्र हमारे सामने होना चाहिये। रोगके निदान और रोगीकी प्रकृतिके जानके बिना औषधोपचार हानिकर हो सकता है।

यह समझ लेना चाहिये कि ग्रामीण न ऋषि है, न राक्षस, उसमे भी वह सब गुण-दोष है जो दूसरे मनुष्योमे होते हैं। उसके गॉवतक वर्तमान सभ्यताकी चमक न पहुँची हो, इसलिए वह भोला-भाला प्रतीत होता हो परन्तु भोलापन बेवकूफी नही है। अपना हित खूब समझता है। मुकदमा लडनेमे अच्छे-अच्छे वकीलोके छक्के छुडा देता है। उसके पेशेमे स्थिरता होती है। भूमि चल वस्तु नही है, इसलिए वह भले ही अपने विचार हर नयी हवाके झोकेमे न बदल देता हो परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष लाभ देख पडता है, बदलना भी जानता है। यह भी ध्यान रहे कि नगर और ग्राममे दो भिन्न प्रकारके जीव नही बसते। देहातके लडके नगरोमें पढने जाते है, देहातके प्रौढ नगरोमें व्यापार, व्यवसाय, श्रम करने आते है। दोनोमे कोई स्थायी भेद नहीं है। जो भेद देख पडते है वह परिस्थितियोके कारण उत्पन्न हो गये है। सारी पृथिवीमें किसानोकी मनोवृत्ति एक विशेष प्रकारकी होती है। शहरमे जीविकाका मुख्य साधन शरीर या मस्तिष्क है। पूँजी भी साधन है, पर वह चल है, अस्थिर है। खेतीमे सबसे बड़ा साधन भूमि है, जो अचल है, स्थिर है, मनुष्यके शरीर या मस्तिष्ककी अपेक्षा नही करती। इसलिए कृषक उसको छोडना नहीं चाहता। वह बलात् भूमिसे अलग कर दिया जाय, भूमिपरसे उसका स्वत्व हटा दिया जाय, यह दूसरी बात है, पर अपनी इच्छासे वह पृथक् नही होना चाहता। दूसरी बात यह है कि शहर प्रकृतिपर मनुष्यके विजयका प्रतीक है परन्तु ग्राममे प्रकृति विजयिनी होती है। लाख प्रयत्न करके भी कृषकको इस बातका भरोसा नहीं रहता कि अन्न पैदा हो ही जायगा। थोडी-सी अतिवृष्टि, थोडी-सी अनावृष्टि, थोडा-सा तुषार, सारी आशाओपर पानी फेर देता है। इसलिए कृषक कुछ भीरु होता है, वह अदृश्य शक्तियोसे डरता रहता है. नगर-निवासी जैसा उग्र आशावादी नही होता। परन्तु

यह मौलिक भेद नही है ।

यह कहा जाता है कि ग्रामीण जातिवादसे अधिक प्रभावित होता है। यह कुछ हदतक सच है। हमारी चुनावपद्धतिने जातिवादको बहुत प्रोत्साहन दिया है। परन्तु इसके साथ एक और बात भी है। देहातमे विभिन्न जातियोके लोग नगरोकी अपेक्षा एक-दूसरेके अधिक निकट आते है। खेत-खलिहानमे, कथा-कीर्तनमे, अखाडोंमे, मेलो-तमाशोमे, मिलने-जुल्नेके बहुत अवसर मिलते हैं। कृषिकार्यमे ब्राह्मणका काम चमारके बिना नही चलता। बहरहाल, यह दीवारे तो ग्रामोमे भी गिरती जा रही हैं।

हमको ग्रामोके उत्थानके लिए नियोजित प्रयास करना है। यदि ग्रामीणोका जीवनस्तर उठाना है, तो उनकी आय बढानी होगी। इसके दो उपाय होंगे। एक तो कृषिके नये वैज्ञानिक ढग चलाने होगे, दूसरे, सहयोगसे इस क्षेत्रमे अधिकाधिक काम लेना होगा। पर इतना ही पर्याप्त नही है। ऐसे कुटीर और लघु उद्योगोंको फैलाना होगा जिनमे किसान अपने फुरसतके समयमे लग सके। मै इन बातोके ब्योरेमे नहीं जाना चाहता। ऊपर कही हुई बातें ऐसी है जिनके बारेमे मतभेद नही हो सकता।

परन्तु एक बात ध्यानमे रखनी होगी। हम गगाको पश्चिमवाहिनी नही बना सकते। जो युग गया वह गया। अब हम ग्रामोको लौटा कर उस जगह नही ले जा सकते जहॉ वह पहिले थे। किसी समय गॉव अर्ध-स्वतन्त्र लोकतन्त्र राज्य-सा था। अपनी सारी आवश्यकताओकी पूर्ति प्रायः आप ही कर लेता था। बाहरसे कम ही वस्तुएँ मोल ली जाती थीं। अलग जीवन बिताना शक्य था। आज यह असम्भव है। यदि हम गॉववालोंको हठात् गँवार रखना चाहे और सभ्यताके उपकरणोसे वञ्चित रखना चाहे तब तो दूसरी बात है, नहीं तो ग्राम अब अपनी स्वतन्त्रता नही रख सकता। गॉवमे रेडियो नही बन सकते, बाइसिकिल्तक बाहरसे आती है। कपडा सीनेकी मशीन, दियासलाई, मिट्टीका तेल, सुई, रासायनिक

खाद, सभी बाहरसे आता है, समाचारपत्र नगरोमे छपते है, पुस्तकें नगरोमे छपती हैं, गॉव-गॉवमे विश्वविद्यालय नही खुल सकते, हर जगह बडे चिकित्सालय नही स्थापित हो सकते। पदे-पदे गॉववालोको नगरका सहारा लेना होगा। नगरनिर्मित वस्तुओका मूल्य चुकानेके लिए ऐसी चीजोकी खेती करनी होगी जिनकी खपत अपने गॉवमे नहीं हो सकती। ईख, तेलहन, रुई बाहर बेचनेके लिए बोये जाते है। अब नगर और ग्रामका अटूट सम्बन्ध है। पुरानी ग्राम पचायतोमे चाहे जो गुण रहे हो परन्तु आजकलकी अवस्थामे हम उनको वापस नही ला सकते। जो समाज आज है नही, उसकी व्यवस्था कैसे कायम की जा सकती है। न वह ग्राम है, न वह ग्रामीण है। महात्माजीके सामने जिस ग्रामीणका चित्र था वह तुलसी-कृत रामायण और कबीरके शब्दोसे तृप्त हो जाता रहा हो परन्तु आजका ग्रामीण तो रेडियो भी सुनना चाहता है। उसकी दिलचस्पीकी परिधि उसके गॉवतक सीमित नहीं है। पुराना ग्रामीण कभी-कभी तीर्थयात्रा कर आता था, आजका ग्रामीण कलकत्ते-बम्बईकी सैर करता है।

इन सब बातोकी ओरसे ऑख फेरकर नियोजन करना भूल होगी। इस ओर स्मृति आकृष्ट करनेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि कभी-कभी उन लोगोंके मुँहसे, जो देशके कर्णधार है, ऐसी बाते सुन पडती है जो शका उत्पन्न करती हैं। ग्राम-पचायतोका विचार करते समय ऐसा लगता है कि कुछ लोग पुराने युगका ही अब भी स्वप्न देखते है और गॉवोको अल्पकाय गणराज्य बनाकर ही छोडेगे। यह वस्तुस्थितिसे मुँह मोड़ना होगा।

ग्राम और नगरके विरोधी हितोका चर्चा होता है। सुनकर दुःख होता है। विरोधकी बात करना वस्तुस्थितिको न पहिचानना है। इनके हित एक-दूसरेके परिपूरक है। एकके बिना दूसरेका काम नही चल सकता। गॉव ही बडा होकर नगर बन जाता है। आज हो यह रहा है कि एक ओर तो हम ग्रामकी प्रशसाके पुल बॉधते है, दूसरी ओर आये दिनके चुनावोके भॅवरमे डालकर ग्रामीण जीवनमे जो कुछ सादगी और अपनापन बचा है

उसे भी नगरोंके साथ बाँधकर नष्ट कर रहे हैं।

किसी प्रकारका नियोजन और विकासका कार्यक्रम बनानेके पहिले हमको यह सोच लेना चाहिये कि भावी भारतका चित्र कैसा होना चाहिये। हम कैसे नगर और ग्राम चाहते हैं, उनमें कैसा सम्बन्ध देखना चाहते हैं, इस युगका झुकाव किधर है। देशकी अन्य समस्याओंसे पृथक् करके इन प्रश्नोंपर विचार करनेसे कृत्रिम चित्र बनेगा और जो व्यवस्था होगी वह वस्तुस्थिति और युगप्रवाहके प्रतिकूल होनेसे अव्यावहारिक होगा और समाजके लिए हानिकर सिद्ध होगा। हमको आजके भारतमें, आजके ग्रामीणके लिए गाँव चाहिये, प्राचीन भारत लौटाया नहीं जा सकता।



: २५ : मेरे कुछ खब्त

हममेसे अधिकतर लोगोके पास कोई-न-कोई ऐसा काम होता है जिसमे दिनका मुख्य भाग व्यतीत हो जाता है। वह लोग अभागे है जिनके पास कोई काम नही है या जो आलस्यके कारण कोई काम करते नही। संस्कृत बुद्धिके लोगोको इस मुख्य कामके अतिरिक्त किसी-न-किसी अन्य काममे भी अभिरुचि रहती है। कोई डाकके पुराने टिकट जमा करता है, कोई पुरानी मुद्रा एकत्र करता है, कोई चित्र बनाता है। ऐसे शौक छुट्टीके समय पूरे किये जाते है। हमारे देशमे रवाज कम है, लडकपनसे ही अभ्यास डालना चाहिये, किसी दूसरेको अच्छा लगे या न लगे, अपनेको रस आता है और जी नही ऊबता। कोई साथी हो या न हो, तब भी समय कट जाता है।

मेरे भी कुछ ऐसे शौक है। साधारणतः यह विज्ञापनके विषय न होने चाहिये परन्तु इनका चर्चा फैल ही गया है और इनमेसे कुछकी आलोचना लब्धप्रतिष्ठ महापुरुषोने की है, इसलिए मैं भी उनका जिक्र कर रहा हूँ। आलोचक तो इनको मेरी मूर्खताका प्रमाण मानते है, मै ऐसा नहीं समझता फिर भी इन सज्जनोका लिहाज करके अपनी दिलचस्पीके इन प्रिय विषयोको 'खब्त' कह रहा हूँ। मेरे कुछ विचार भी ऐसे है जो स्यात् आजकल सन्देहकी दृष्टिसे देखे जाते है। उनको भी खब्तोकी कोटिमे ही रखना होगा।

धर्मनिरपेक्ष राज्यके सम्बन्धमे मैंने जो लिखा है उससे मेरे धर्म और

मजहब सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते है। मै ऐसा मानता हूँ कि जीवनमे धर्मका महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्मकी ओरसे मुँह फेर लेनेसे व्यक्ति और समाजकी स्थायी क्षति होगी। किसी मतमतान्तरका समर्थन नही कर रहा हूँ परन्तु उस तत्त्वके प्रति श्रद्धाका भाव होना ही चाहिये जो विश्वमे ओतप्रोत है, जिसमे विश्व स्थित है और जो विश्वके बाहर भी है। ऋग्वेदमे एक सूक्त है जिसमे बार-बार यह प्रश्न पूछा गया है, 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'—हम किस देवके निमित्त हवि अर्पित करे ? हम उसे जाने या न जाने, परन्तु कुछ है जो हमको और सारे चराचर जगत्‌को प्रतिक्षण अनुप्राणित कर रहा है। मै अपनेको हिन्दू कहनेसे लज्जित नही होता। मेरे लिए हिन्दू होना गौरवकी बात है। यह जानता हूँ कि आज धर्मके नामपर घोर अनाचार होता है, जो धर्मोपजीवी है उनमे सबसे अधिक अश्रद्धा है। चारो ओर दम्भ और कपटका बोलबाला है, यह सब निर्मम होकर दूर करना है। परन्तु यह भी जानता हूँ कि राखके नीचे आज भी आध्यात्मिकताकी वह सनातन चिनगारी छिपी हुई है जो कालसे अवच्छिन्न नही है। आज भी आवरणोके नीचे वह धारा प्रवाहित है जो सिन्धु और सरस्वतीके तटपर सामगान करनेवाले ऋषियोंके आश्रमोसे उद्‌गत हुई थी। उसकी रक्षा करनी है। उसमे जो सञ्जीवनी शक्ति है वह हमको ही नहीं, मनुष्यमात्रको स्फूर्ति देगी। मै हिन्दू हूँ, इसलिए सभी मतावलम्बियोको समभावसे देख सकता हूँ। मुझको तो यह शिक्षा मिली है—

एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

(वह सत्पदार्थ एक है, विद्वान् उसे अनेक नामोसे पुकारते है।) मै अल्लाह और यावे और अहुर्मज्द और गॉडके नामसे उसीका आह्वान सुनता रहता हूँ।

और जब पुष्पदन्तका यह कथन स्मरण करता हूँ कि

रुचीणा वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

(जैसे सभी नदियाँ समुद्रमें ही अन्ततोगत्वा नाना मार्गोसे सीधे-टेढ़े वह कर मिल जाती हैं वैसे ही अपनी-अपनी रुचियोंके अनुसार सभी उपासक तेरा ही पूजन करते हैं) तो फिर किससे द्वेष करूँ ? किस उपासनाको झूठी बताऊँ ?

वैज्ञानिक कहानियोंके पढ़नेका मुझको रोग है। इस विषयकी मेरे पुस्तकालयमें बहुत-सी पुस्तकें हैं। आकाशयात्राके साहित्यमें भी मुझे बहुत दिलचस्पी है। कभी-कभी इस विषयपर लिखता, बोलता भी हूँ। मेरा ऐसा विश्वास रहा है कि वह दिन दूर नहीं है जब मनुष्य चन्द्रमा ही नहीं, सौरमण्डलके दूसरे ग्रहोंतक भी पहुँच जायगा। अभी कुछ देर हो, पर दूसरे तारोंतक जाना भी असम्भव न होना चाहिये। ऐसी यात्राका क्या परिणाम होगा ? क्या अन्यत्र भी बुद्धियुक्त प्राणी मिलेंगे ? उनकी आकृतियाँ कैसी होंगी ? जब दो संस्कृतियों और सभ्यताओंसे भेंट होगी तो क्या होगा ? युद्ध ? सहयोग ? जो मानवजाति अपना ही घर नहीं सँभाल सकी है, जो नित्य आपसमें लड़ती रहती है, वह पृथिवीके बाहर जाकर दूसरे पिण्डोंके लिए अभिशाप ही तो होगी या उसका भविष्य भी सुधर जायगा ?

जिन दिनों मैं मुख्य मन्त्री था उन दिनों जो लोग मेरी कोठीपर आये होंगे उन्होंने मेरी भूमिहीन खेती देखी होगी। मैंने बालू, कोयले और ईंटकी बजरीमें तरकारियों और फूलोंको पैदा किया है। पेड़ मिट्टी तो खाता नहीं, यदि उसका खाद्य रासायनिक द्रव्य उसको घोलकर दे दिया जाय तो वह बिना मिट्टीके रह सकता है। ऐसी खेती मरुभूमिको भी हरी बना सकती है। कई स्थानोंमें इसका प्रयोग हुआ है। यह बड़ा अच्छा शौक है।

अपने एक शौकका चर्चा पहिले भी कर चुका हूँ। तारोंको देखनेके पीछे कुत्तेके काटनेका वृत्त लिख चुका हूँ[1]। यह शौक मेरा अबतक बना हुआ है। हमारे देशमें लगभग आठ महीने निर्मल आकाश मिलता है,

---

१ देखिये, पृष्ठ ११–१२

परन्तु कोई आँख उठाकर देखता ही नहीं। दूरबीनका हौआ बहुत-से लोगोंको डरा देता है। वस्तुतः बहुत-सा काम यन्त्रके बिना हो सकता है। सरकारमे आनेके बाद मैंने वेधालयकी बात सोची। कुछ यन्त्रोंका संग्रह हुआ। पहिले काशीमे ही वेधालय स्थापित करनेकी बात सोची गयी परन्तु ज्योतिर्विदोंने यह पसन्द नहीं किया। उन्होंने नैनीतालको चुना। मैंने चाहा कि भारत सरकार कुछ आर्थिक सहायता दे, पर वह राजी न हुई। हमने अपने ही बलपर चलाया। अब तो इस वेधालयने प्रसिद्धि प्राप्त कर ली है। अमेरिकासे यन्त्रोंके रूपमें सहायता मिली है, पृथिवीके वेधालयोंमे इसकी ख्याति है। अब भारत सरकार भी सहायता देनेको विवश हो गयी है। परन्तु मै यह फिर दुहराता हूँ कि ज्योतिषके नये विद्यार्थीके लिए यन्त्रोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। प्राचीनकालमे बडे-बडे आविष्कार आँखोंके सहारे ही हुए हैं। तारों और तारकपुंजोंको पहिचाननेके लिए तो यन्त्र आँखकी बराबरी कर ही नहीं सकते।

यह तो सिद्धान्तज्योतिषका विषय हुआ, परन्तु अपने शौकोंका चर्चा करते मै अब ऐसी जगह पहुँच गया हूँ जहाँ मेरा वह शौक आरम्भ होता है जिसको कुछ लोग सचमुच खब्त समझते है और जिसके कारण मुझको कई बार आलोचना-प्रत्यालोचनाके क्षेत्रमे उतरना पडा है। सिद्धान्तज्योतिष सर्वमान्य विज्ञान है परन्तु फलित ज्योतिष यूरोप-अमेरिकाके रहनेवाले शिक्षितोंमेसे बहुतोंकी दृष्टिमे विज्ञान नहीं, ठगविद्या है। उनका अनुकरण भारतमे भी हो रहा है। उन देशोमे, विशेषतः अमेरिकामे, ज्योतिषी है, ज्योतिषके विश्वासी हैं, एतद्विषयक वाड्मय तैयार होता रहता है। कई गण्यमान्य लोग ज्योतिषपर आस्था रखते थे और है। परन्तु यह सब बाते तो प्रमाण नहीं हो सकती। हमारे प्रधान मन्त्री फलित ज्योतिषको विज्ञानाभास समझते है, उनकी नकल करके और बहुत-से लोग भी ऐसा ही कहते है। ऐसे लोगोंको स्वयं ज्योतिषपर विश्वास न हो, यह बात नहीं है। घरपर चुपकेसे ज्योतिषीसे काम लेते हैं, बाहर इस शास्त्रकी निन्दा करते है। इससे उनके चरित्रका पतन होता

है, साथ ही ज्योतिषकी मर्यादा भी गिरती है। जब ज्योतिष निन्दास्पद है, तो ज्योतिषी भी निन्दास्पद है। उसमें दायित्वका भाव नहीं रह जाता। किसीको बुरा कहना और फिर जब वह गैर-जिम्मेदारीकी बात करे तो शिकायत करना अनुचित है। यदि ज्योतिषीकी कही हुई बात सच निकल आती है तो कह दिया जाता है कि यह आकस्मिक है।

मै यह नही कहता कि ज्योतिष पूर्ण विज्ञान है। अभी बहुत शोधकी आवश्यकता है। हमारे भारतीय ज्योतिषी शनिके आगेके ग्रहोकी गति-विधिसे अपरिचित है परन्तु उनका प्रभाव भी कुछ-न-कुछ पडता ही होगा। सायन और निरयन गणनाका प्रश्न निपटाना है। पहिले तो देशका भविष्य राजाकी जन्मकुण्डलीसे निकाला जाता था। अब बहुत जगह राजा है ही नहीं, उनके भविष्य जाननेकी प्रक्रिया निकालनी होगी। यह सब है, फिर भी ज्योतिष विज्ञान है। यदि ज्योतिषीकी कुछ बाते ठीक निकले तो ज्योतिषको कैसे दोषी ठहराया जा सकता है? रोगी मरते ही है परन्तु कोई चिकित्साशास्त्रको दोष नही देता। इस बातकी तो परीक्षा हो जानी चाहिये कि क्या ज्योतिषी डॉक्टरसे अधिक गलती करता है।

मै स्वयं ज्योतिषी नही हूँ परन्तु ज्योतिषका समर्थन करता हूँ। किसी शास्त्रका अनुमोदन करनेके लिए उस शास्त्रका वेत्ता होना आवश्यक नहीं है। हममेसे कितने लोगोंने उन कीटाणुओको देखा है जो प्लेग या हैजाके वाहक है? कितने लोग आइस्टाइनके सापेक्षतासिद्धान्तको समझते है? फिर भी चिकित्साशास्त्र और गणितपर विश्वास किया ही जाता है।

कुछ लोग, जिनको अपने विज्ञानवित् होनेका दावा है, यह पूछ बैठते है कि ज्योतिष कैसे सच्चा हो सकता है, आकाशमे चलनेवाले ग्रहोका मनुष्यके जीवनपर कैसे प्रभाव पड सकता है? मुझसे यह प्रश्न कई बार पूछा गया है। मेरे पास उत्तर है, परन्तु मै ऐसे लोगोंका समाधान करनेसे इनकार करता हूँ, क्योकि उनको वास्तविक जिज्ञासा नहीं है। उनका प्रश्न अवैज्ञानिक है। विज्ञानकी सुनिश्चित परम्पराएँ है। विज्ञानवित्

यो ही निराधार प्रश्नोके उत्तर नहीं दिया करता। यदि कोई यह पूछे कि श्रावणकी पूर्णिमाके दिन सूर्यमे हरा धब्बा क्यो देख पडता है, तो पहिले यह निश्चय करना होगा कि ऐसा धब्बा देख पडता भी है या नहीं। पहिले निर्विवाद दृग्विषय होने चाहिये, तब उनका कारण खोजा जाता है। न्यूटनने सेबको पेडसे नीचे गिरते देखा, उछाला हुआ पत्थर नीचे गिरता है, बिना सहारेके मनुष्य नीचे गिरता है, केप्लरने उन नियमोकी खोज की थी जिनके अनुसार ग्रह सूर्यकी परिक्रमा करते है। इन सब दृग्विषयोकी सत्ता सर्वमान्य थी। तब यह प्रश्न उठा कि ऐसा क्यो होता है और न्यूटनने आकर्षणसिद्धान्तको उपज्ञात करके इस प्रश्नका उत्तर दिया। यदि वस्तुएँ नीचे न गिरती और ग्रह एक निश्चित नियमके अनुसार राशिचक्रपर न घूमते, तो न प्रश्न उठता, न उत्तरकी आवश्यकता होती। यदि कोई व्यक्ति इन दृग्विषयोकी सत्ताको स्वीकार न करे तो उसको प्रश्न पूछनेका अधिकार न होगा, न वह उत्तर माँग सकता है। जो लोग ज्योतिषके सम्बन्धमे यह पूछते है कि ग्रहोंका मनुष्य-जीवनसे कैसे सम्बन्ध हो सकता है, मै पहिले उनसे पूछता हूँ कि क्या वह उन घटनाओंको स्वीकार करते है जो ज्योतिषका आधार है? क्या वह ऐसा मानते है कि ग्रह और जीवनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष है और ज्योतिषी-की बात सच्ची निकलती है? यदि वह ऐसा नही मानते तो उन्हे ऐसा प्रश्न पूछनेका अधिकार नही है। यह हो सकता है कि जो व्यक्ति ज्योतिष-पर विश्वास करता हो उसको ज्योतिषीके दिये हुए उत्तरसे सन्तोष न हो। तब नया उत्तर भी सोचा जा सकता है। चिरायता तो ज्वरमे लाभ पहुँचायेगा ही, चाहे कोई यह न बता सके कि ऐसा क्यो होता है। वस्तुओके परस्पर आकर्षणका जो कारण न्यूटनने बताया था आज आइस्टाइनने उससे भिन्न कारण बताया है।

आवश्यकता इस बातकी है कि ज्योतिषकी सत्यता परखनेके लिए वैज्ञानिक ढगसे खोज की जाय। ज्योतिष परलोकविषयक शास्त्र नहीं है। उसका विषय तो प्रत्यक्षमूलक है। दस-पॉच सालमे और दस-पॉच लाख

रुपयोंके व्ययसे बहुत-कुछ निर्णय हो सकता है। किसी धनीमानी व्यक्ति इस ओर ध्यान देना चाहिये।

मैं अपने खब्तोंकी सूची कहाँतक बढाऊँ। बहुत लम्बी है। एक बातका और चर्चा करूँगा। मेरी यह दृढ धारणा है कि जबतक अपनी शिक्षामे सौन्दर्योपासनाको स्थान न देगे तबतक शिक्षा अ रहेगी, शिक्षित अकृत्स्न रहेगा। हमारे चारो ओर सौन्दर्यका सरोवर छ रहा है। आकाशके तारोंमे, चटकती हुई कलियोमे, भ्रमरके गुञ्जा पक्षियोके कलरवमे, बच्चेके हँसनेमे, सौन्दर्य ही सौन्दर्य है। आँख खोल की, उस रसके प्रवाहमे निश्चेष्ट होकर अपनेको डाल देनेकी, आवश्यक है। बचपनसे ही और बातोंके साथ-साथ सौन्दर्यानुभूति और क विशेषतः कलाओके सम्राट्, सगीतकी शिक्षा मिलनी चाहिये। श्रु कहती है 'रसो वै सः'—परमात्मा रसस्वरूप है, प्रकृति उसका आभू है। सौन्दर्यानुभूति शिवशक्तिकी अभिन्न युगलमूर्तिका दर्शन है।

